अनुवादककृत ग्रन्थोंकी

सूची ।

गौतमीयन्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य और
भाषाटीका मूल्य ३॥)

वेद उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षा के
ये हमारे ऋषियों ने छः उपाङ्ग स्वरूप छः दर्शनों
रचा है । इन दर्शनों में (अपने २ तरी के पर)
ोक्त सत्य सनातन धर्म को युक्ति और प्रमाणों से
२ नास्तिकों के आक्षेपों को उत्तर देकर वैदोक्त
की रक्षा कियी गयी है । इन छः दर्शनों में से
अधिक महर्षी गौतमजी ने चार्वाक, बौध,
, जैन आदि प्रबल नास्तिकों के आक्षेपों का
युक्त अकाट्य उत्तर दिया है । इस दर्शन में एक
लक्षणता यह है कि इस को भलीभांति पढ
थन, र शास्त्रार्थ वा वहस की रीति, और
विचार र लिखने वा बोलने की रीति मालूम
सूर्य चाहे कैसाभी प्रबल नास्तिक क्यों न
यह जानने वाले के सामने उस का मत
में सब से । इस न्याय विद्या को 'तर्क' मत्तिक

या लाजिक कहते हैं। इस के ५३० सूत्रों पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य और तदनुकूल सरलभाषानुवाद किया गया हैं। इस की भूमिका में अन्यान्य दर्शनों के साथ समन्वय दिखलाया गया है। यह पुस्तक अन्यान्य १३ शुद्ध प्रतियां से मिलाकर, छापी गयी है। यह पुस्तक देखने योग्य हैं।

सामवेदीय गोभिल गृह्यसूत्र संस्कृतटीका और भाषानुवाद मूल्य २॥)

वेद के शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष इन छः अङ्गो में से 'कल्प' नामक अङ्ग वेद के हस्त स्वरूप है अर्थात् वेद का जो प्रधान उद्देश्य श्रेयसकर कर्म काण्ड की प्रवृत्ति करानेमें है। उसी का प्रतिपादक श्रौत और गृह्य सूत्र है। जिन में से यह गृह्य सूत्र पुस्तक है। चारो वेदों की २ शाखा होने से, प्रत्येक शाखा के अलग, सूत्र हैं। उसी प्रकार यह सामवेद के कौथुमी का गोभिलमुनि प्रणीत "गोभिल गृह्यसू इस पुस्तक में इस शाखाके द्विजों के क धानादि संस्कार तथा स्मार्त्त कर्मों न है। इस ग्रन्थ में पहिले सूत्र, संस्कृत में टीका, तब उस का भाषा मौके २ पर टिप्पणी और गर्भाधान

पठनीय पूरे २ मन्त्र दिये गये हैं । और इस की भूमिका में वेद, शाखा, सूत्र, संस्कार, आदि अनेक उपयोगी विषयों पर विचार लिखा गया है। पुस्तक देखने योग्य है।

आर्यभटीय, या लघुआर्य सिद्धान्त मूल्य १)

महामति पं० आर्य भट्ट पटना निवासी ने वेद के अनुकूल इस ग्रन्थ को आर्या छन्दों में सिद्धान्त के अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ शाके ४२१ में रचा था। जिस को आज १४०९ वर्षें हुईं । इस पर पं० परमेश्वराचार्य्य की संस्कृत टीका है। और भाषानुवाद किया गया है । इस की भूमिका में अपूर्व २ वार्तों पर विचार कियागया हैं। यह पुस्तक हिन्दुस्तान में आज तक नहीं छपी इस की केवल आवृत्ति जर्मन देश के लिपजिग स्थान में डाकटर कार्प ने छपवायी थी, जो ९) रु. को मिलती है, इस में पृथिवी का भ्रमण स्पष्ट लिखा है। इस की भूमिका में समुद्रमथन, राशलीला, और अन्यान्य उपयुक्त विषयों पर विचार लिखा गया है। ग्रन्थ देखने योग्य है।

सूर्य सिद्धान्त भाषाटीका और वृहद्भूमिका मूल्य १॥)

यह ग्रन्थ सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन सर्व मान्य है। भारत वर्ष में ज्यो-

तिष शास्त्र के अनुसार पञ्चाङ्ग बनने और सिद्धान्त सम्बन्धी विचार होने पर इसी ग्रन्थ के अनुसार फैसला किया हुआ मानाजाता है । आज तक इस अमूल्य ग्रन्थ पर ऐसे अपूर्व विचार के साथ भाषानुवाद नहीं किया गया था । इस की भूमिका १६० पृष्ठों में और शेष भाग में ग्रन्थ है ।। इस की भूमिका में प्रायः ज्योतिष सम्बन्धी सब विषयों पर वेद, ब्राह्मण, पुराण आदि मान्य ग्रन्थों तथा अङ्गरेजी आदि के पुस्तकों से सार लेकर उनपर वेदानुकूल विचार किया गया है । इस की थोडी प्रति रह गयी है ।

उपर लिखी ४ पुस्तकों की प्रशंसा भारत मित्र, बङ्गवासी वैङ्कटेश्वर हितवार्ता, सरस्वती, भारतजीवन, आर्य्यमित्र बहुत से प्रसिद्ध समाचार पत्रों ने मुक्त कण्ठ से कियी है ।

पत्रादिप्रेषणस्थानम् } हरिदासगुप्तः, चौखम्बा, बनारस, सिटी,

अथ जीवन्मुक्तिविवेकान्तर्गत (प्रमाणरूपेणधृत)

श्रुतिस्मृतिग्रन्थानां

सूचीपत्रम् ।

ग्रन्थ नाम

पराशरस्मृति
बृहदारण्यकोपनिषद्
भगवद्गीता
योगवासिष्ठ
उपदेश साहस्री
नैष्कर्म्य सिद्धि
मनुस्मृति
छान्दोग्य उपनिषद्
कठोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
महाभारत
भागवत
योगसूत्र
यमस्मृति
वसिष्ठस्मृति
वेदान्तसूत्र
श्वेताश्वतरोपनिषद्
जावालोपनिषद्
परमहंसोपनिषद्

आरुणी उपनिषद्
दक्षस्मृति
विष्णुस्मृति
शंखस्मृति
आपस्तम्बस्मृति
अत्रि स्मृति
सूतसंहिता
वाजसनेयी उपनिषद्
बौधायनस्मृति
मेधातिथि
विष्णुपुराण
तैत्तिरीय ब्राह्मण
कौषीतकी ब्राह्मण
आर्यपञ्चाशी
कावषेयीगीता
वाल्मिकीयरामायण
गौडपादाचार्यकृतमाण्डूक्यका-
रिका
योगवार्त्तिक
लीलोपाख्यान
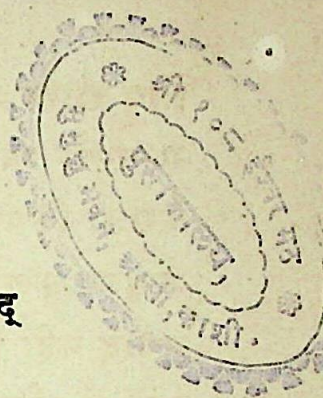
श्रीमद्विद्यारण्यविरचितः

जीवन्मुक्तिविवेकः ।

तत्र प्रथमं जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम् ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्यो ऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अर्थः—जिस का निःश्वासरूप वेद हैं, और जिस ने वेदोक्तज्ञानानुसार सारे जगत् को निर्माण किया, उस श्रीविद्यातीर्थ-सकल विद्याओं का पवित्र आश्रय-गुरु से अभिन्न श्रीमहेश्वर को मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

वक्ष्ये विविदिषान्यासं विद्वन्न्यासं च भेदतः ।
हेतू विदेहमुक्तेश्च जीवन्मुक्तेश्च तौ क्रमात् ॥ २ ॥

अर्थः—विविदिषासन्न्यास और विद्वत्सन्न्यास को भिन्न २ कथन करूंगा । इन में से पहिला विविदिषासन्न्यास विदेहमुक्ति का और विद्वत्सन्न्यास जीवन्मुक्ति का हेतु है ॥ २ ॥

सन्न्यासहेतुर्वैराग्यं यदहर्विरजेत्तदा ।
प्रव्रजेदिति वेदोक्तेस्तद्भेदस्तु पुराणगः ॥ ३ ॥

अर्थः—जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन सन्न्यास ग्रहण करे ऐसा वेद का कथन है । अत एव सन्न्यास का हेतु वैराग्य है, इस सन्न्यास का भेद पुराणोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥

विरक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च ।
सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद्योगी कुटीचके ॥ ४ ॥

अर्थः—वैराग्य दो प्रकारका है- एक तीव्र वैराग्य दूसरा तीव्रतर वैराग्य । इनमें से तीव्रवैराग्य होनेपर योगी *कुटीचक सन्न्यास धारण करे ॥ ४ ॥

शक्तो बहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते ।
मुमुक्षुः परमे हंसे साक्षाद्विज्ञानसाधने ॥ ५ ॥

अर्थः—जो तीव्रवैराग्यवान् योगी शरीरसामर्थ्यवाला हो तो वह बहूदक[१]सन्न्यास ग्रहण करे । और तीव्रतर वैराग्य होने पर, हंस नाम का सन्न्यास लेवे, परन्तु तीव्रतर वैराग्यवान् पुरुष यदि मुक्ति चाहनेवाला हो तो, वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान का साधनभूत परमहंससन्न्यास को स्वीकार करे ॥ ५ ॥

पुत्रदारगृहादीनां नाशे तात्कालिकी मतिः ।
धिक् संसार इतीदृक् स्याद्विरक्तेर्मन्दता हि सा ॥६॥

अर्थः—जिस समय स्त्री पुत्र गृह आदिकोंका नाश होता उस समय "इस संसार को धिक्कार है" इस प्रकार की बुद्धि उपजती है- उसको मन्दवैराग्य कहते हैं ॥ ६ ॥

अस्मिन् जन्मनि मा भूवन्पुत्रदारादयो मम ।
इति या सुस्थिरा बुद्धिः सा वैराग्यस्य तीव्रता ॥७॥

---

* जो सन्न्यासी यात्रा (सफर) आदिक मे सामर्थ्य हीन होनेसे एकजगह तीर्थस्थानादिक में कुटी बान्ध कर रहता प्रति दिन १२००० हजार प्रणवका जप करता और यथा समय भिक्षामाङ्गकर अपने आश्रममें ब्रह्मध्यान करता वह कुटीचक है ।

१ तीर्थाटन करने वाले—सन्न्यासीको बहूदक जानना ।

अर्थः—"इस जन्म में मुझे स्त्रीपुत्रादिक कोई भी पदार्थ न होवें" इस प्रकार की जो सुस्थिरबुद्धि उस का नाम तीव्रवैराग्य है ॥ ७ ॥

पुनरावृत्तिसंहितो लोको मे माऽस्तु कश्चन ।
इति तीव्रतरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ॥८॥

अर्थः—"इस जन्म और पुनर्जन्म में मुझे किसी भी लोक की इच्छा नहीं है" ऐसी वृत्ति की तीव्रतर वैराग्य में गणना होतीहै । मन्दवैराग्य में किसी सन्न्यासाश्रम का अधिकार नहीं ॥ ८ ॥

यात्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रे न्यासद्वयं भवेत् ।
कुटीचको बहूदश्चेत्युभावेतौ त्रिदण्डिनौ ॥ ९ ॥

अर्थः—यात्रा आदि के निमित्त पर्य्यटन करनेमें सामर्थ्य असामर्थ्य के कारण तीव्रवैराग्यवान् पुरुष यथाक्रम से कुटीचक और बहूदक नाम के दो सन्न्यासों को धारण करे । ये कुटीचक और बहूदक सन्न्यासी त्रिदण्डी होते हैं ॥ ९ ॥

द्वयं तीव्रतरे ब्रह्मलोकमोक्षविभेदतः ।
तल्लोके तत्त्वविद्धंसो लोकेऽस्मिन्परमहंसकः ॥१०॥

अर्थः—तीव्रवैराग्यवान् योगी को यदि ब्रह्मलोक की इच्छा हो तो, वह हंस नामक सन्न्यास को ग्रहण करे । वह ब्रह्मलोक में आत्मसाक्षात्कार होने पर ब्रह्माके साथ मुक्ति पाता है । और यदि उक्त योगी को केवल मोक्ष ही की इच्छा हो तो वह परम हंस नामक आश्रम का सेवन करे । उस को वर्तमान शरीर में ही आत्मसाक्षात्कार होता है ॥ १० ॥

एतेषां तु समाचाराः प्रोक्ताः पाराशरस्मृतौ ।

व्याख्याने ऽस्माभिरत्रायं परहंसो विविच्यते ॥११॥

अर्थः—इन सब सन्न्यासियों के सदाचार का निरूपण पाराशरस्मृतिमें किया है और उस के व्याख्यान करने से हम उपराम करते हैं और इस ग्रन्थ में केवल परमहंस ही की विवेचना करते हैं ॥ ११ ॥

जिज्ञासुर्ज्ञानवांश्चेति परहंसो द्विधा मतः ।
प्राहुर्ज्ञानाय जिज्ञासोर्न्यासं वाजसनेयिनः ॥ १२ ॥

अर्थः—जिज्ञासु और ज्ञानवान् ये दोप्रकारके परमहंस है । जिज्ञासु (सन्न्यासी) ज्ञान प्राप्ति के लिये परमहंस आश्रम धारण करे ऐसा वाजसनेयी शाखा के अध्ययन करनेवालोंने (बृहदारण्यक उपनिषद् में) कहा है ॥ १२ ॥

प्रव्राजिनो लोकमेतमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति हि ।
एतस्यार्थस्तु गद्येन वक्ष्यते मन्दबुद्धये ॥ १३ ॥

अर्थः—"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इस श्रुति का अर्थ मन्दबुद्धिपुरुषोंके लिये हम गद्य (वाक्य) द्वारा कहेंगे ॥ १३ ॥

लोको हि द्विविधः, आत्मलोकोऽनात्मलोकश्चेति तत्राऽऽत्मलोकस्य त्रैविध्यं बृहदारण्यके तृतीयाध्याये श्रूयते—

अर्थः—आत्मलोक और अनात्मलोक ये दो प्रकारके लोक हैं । इनमें से अनात्मलोक का तीनप्रकार का होना बृहदारण्यक उपनिषद्के ३रे अध्याय में सुना जाता है ।

"अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति, सोऽयं मनुष्यलोकः

पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृ-
लोको विद्यया देवलोकः" इति ।
आत्मलोकश्च तत्रैव श्रूयते ।

अर्थः—मनुष्यलोक, पितृलोक, और देवलोक, ये तीन लोक हैं । इनमें से मनुष्य लोक का जय पुत्र द्वारा ही किया जा सकता, अन्यकर्म द्वारा नहीं । पितृलोक का कर्मद्वारा ही जय किया जा सकता, पुत्र या विद्याद्वारा नहीं । और देवलोक का विद्या (उपासना) द्वारा जय किया जा सकता पुत्र या कर्म द्वारा नहीं ।

आत्मलोक भी पूर्वोक्त उपनिषद् के ३रे अध्याय में ही वर्णित है—

"यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति" इति । "आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते" इति च ॥ योमांसादिकपिण्डलक्षणात्स्वलोकं परमात्माख्यमहं ब्रह्मास्मीत्यविदित्वा म्रियते स स्वलोकः परमात्माऽविदितोऽविद्यया व्यवहितः सन्नेनमवेत्तारं प्रेतं मृतं न भुनक्ति शोकमोहादिदोषापनयनेन न पालयति । उपासकस्य ह निश्चितं कर्म न क्षीयते एकफलदानेनोपक्षीणं न भवति । कामितसर्वफलं मोक्षं च ददातीत्यर्थः । षष्ठाध्यायेऽपि ।

अर्थ—जो पुरुष अपने स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश आत्मा को

साक्षात्कार किये विना इस मांस आदिक के पिण्डरूप शरीर को छोडता है उस का अज्ञात आत्मा, उस के शोकमोहभयादि से पालन नहीं करता, अतएव आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिये। जो आत्मरूप लोक की उपासना करता है उस के कर्म का नाश नहीं होता अर्थात् एक फल दान से कर्म का क्षय नहीं होता प्रत्युत सब ही इच्छित फलों को देता और मोक्ष भी देता है ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के ६ठे अध्याय में भी कहा है—

"किमर्थं वयमध्येष्यामहे किमर्थं वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक" इति । "ये प्रजामीशिरे ते श्मशानानि भेजिरे ये प्रजा नेशिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" ।

अर्थः—किस लिये हम अध्ययन करेंगे ? किस लिये हम यज्ञ करेंगे ? प्रजाद्वारा हम क्या करेंगे ? कि जिस को यह आत्मरूप फल की प्राप्ति हुई है। जो प्रजा का स्वामी हुआ वह मरण को प्राप्त हुआ (उस ने स्मशान का सेवन किया) और जो प्रजा का स्वामी न हुआ वह मोक्ष को प्राप्त हुआ ॥

एवं सति—"एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती"त्यत्राऽऽत्मलोको विवक्षित इति गम्यते। "स वा एष महानज आत्मा" इति प्रक्रान्तस्याऽऽत्मन एतच्छब्देन परामृष्टत्वात्। लोक्यतेऽनुभूयत इति लोकः। तथाचाऽऽत्मानुभवमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति श्रुतेस्तात्प-

र्थार्थः सम्पद्यते । स्मृतिश्च ।

अर्थः—इस लिये " एतमेव " इत्यादि श्रुति में आत्मलोक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि "सवा एष०" इस श्रुति में पठित आत्मा का "एतमेव प्रव्रा०" इस श्रुति में 'एतत्' (इस) शब्दद्वारा ग्रहण किया है । "लोक्यते" इस व्युत्पत्ति-द्वारा लोकपदका 'अनुभव गम्य' ऐसा अर्थ होता है । इसलिये "एतमेव प्र०" इस श्रुतिका तात्पर्य ऐसा निकलता है कि "आत्मानुभव की इच्छा करनेवाला पुरुष सन्न्यास ग्रहण करता है"। स्मृति भी कहती है—

" ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः ।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् " इति ।

अर्थः—ब्रह्मसाक्षात्काररूपलाभ के लिये 'परमहंस' यह संज्ञा है। इस लिये परमहंससंन्यासी शमदमादि साधनों से युक्त होवे।

इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सम्यगनुष्ठितैर्वेदानुवचनादिभिरुत्पन्नया विविदिषया सम्पादितत्त्वादयं विविदिषासन्न्यास इत्यभिधीयते । अयं च वेदनहेतुः सन्न्यासो द्विविधः, जन्मापादककाम्यकर्मादित्यागमात्रात्मकः प्रैषोच्चारणपूर्वकदण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति ।

अर्थः—इस जन्म या जन्मान्तर में यथाविधि (बाकायदे) आचरण के साथ वेदाध्ययनादि शुभ नित्य कर्म द्वारा उत्पन्न हुई विविदिषा से सम्पादन होनेसे इस का नाम विविदिषा

सन्न्यास है । यह विविदिषा सन्न्यास ज्ञान का हेतु है । यह सन्न्यास दो प्रकार का है । एक जन्मसम्पादक केवल काम्यकर्मादि का त्यागरूप और दूसरा प्रैषमन्त्र का उच्चारणपूर्वक दण्डधारणादिआश्रमचिह्न युक्त सन्न्यास है ॥

" पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रैषमात्रतः ।
ब्रह्मनिष्ठः सुशीलश्च ज्ञानं चैतत्प्रभावतः " ॥

त्यागश्च तैत्तिरीयादौ श्रूयते—

अर्थः—केवल प्रैषमन्त्र के उच्चारण से भी उस उच्चारण करनेवाले की माता और पत्नी पुरुष योनि को प्राप्त होती, और स्वयं भी इस मन्त्र के प्रभाव से ब्रह्मनिष्ठ, सुशील, और ज्ञानवान् होता है । पुनर्जन्म का देनेवाला काम्यकर्मादि का त्यागरूप सन्न्यास का, तैत्तिरीयादि उपनिषद् में श्रवण होता है—

" न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः " इति ।

अर्थः—'किसी को कर्म द्वारा, प्रजा द्वारा, या धन द्वारा, मुक्ति नहीं हुई, किन्तु त्यागद्वारा कई एक को मुक्ति प्राप्त हुई है ॥

अस्मिंश्चत्यागे स्त्रियोऽप्यधिक्रियन्ते । भिक्षुकी त्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वा वैधव्यादूर्ध्वं सन्न्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम् । तेन भिक्षाचर्यं, मोक्षशास्त्रश्रवणं,

---

१ यहां से चतुर्थपादे यहां तक ग्रन्थ प्रक्षिप्तहै क्योंकि चतुर्धरटीका कार श्रीविद्यारण्यके पश्चात् हुये हैं सुतरां चतुर्धरी के वाक्यका ग्रहण यहां पर विद्यारण्य नहीं कर सकते ।

एकान्त आत्मध्यानं च ताभिः कर्तव्यं, त्रि-
दण्डादिकं च धार्यम्, इति मोक्षधर्मे चतु-
र्धरीटीकायां सुलभाजनकसंवादः । शारी-
रकभाष्ये वाचक्नवीत्यादि श्रूयते । देवता-
धिकरणन्यायेन विधुरस्याधिकारप्रसङ्गेन
तृतीयाध्याये चतुर्थपादे ।
अत एव मैत्रेयीवाक्यमाम्नायते ॥

अर्थः—इस काम्य कर्म के त्यागरूप सन्न्यास में स्त्रियों कोभी अधिकार प्राप्त है । कारण यह हैकि श्रुतिमे 'भिक्षुकी' इस पदके द्वारा विवाहके पूर्व या विधवा होने के बाद स्त्रियों कों भी सन्न्यास मे अधिकार है ऐसा श्रुतिद्वारा दिखलाया गयाहै । अत एव उसे भिक्षाटन मोक्षशास्त्र का श्रवण, और एकान्त स्थान में आत्मध्यान करना और त्रिदण्डादि सन्न्यासाश्रमके चिन्ह धारण करना चाहिये यह वार्ता मोक्षधर्मान्तर्गत सुलभाजनक के सम्वाद में चतुर्धरीटीकामे स्पष्ट है । और शारीरक भाष्य में (शा० अ० ३ पा ४० सू० ३६ से ३८ तक) वाचक्नवी आदि ब्रह्म वादिनी भिक्षुकी स्त्रियों का श्रवण देवताधिकरण में स्त्रीरहित पुरुष को विद्यामें अधिकारके प्रसङ्ग में है। इसलिये इस प्रमाण में मैत्रेयी ब्राह्मणका वाक्य वहां दृष्टान्तरूपसे दिया है ।

" येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां
यदेव भगवन् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि " । इति ॥

अर्थः—जिस के द्वारा मुझे मुक्ति न होगी, उस धन को मैं (लेकर) क्या करूंगी ? अत एव हे भगवन् ! आप जानते

हो उसी को मुझे कहो।

ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थानां केन चिन्निमित्ते-न सन्न्यासाश्रमस्वीकारे प्रतिबद्धे सति स्वाश्रमधर्मेष्वनुष्ठीयमानेष्वपि वेदनार्थो मानसः कर्मादित्यागो न विरुध्यते। श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु लोके च तादृशां तत्त्वविदां बहूनामुपलम्भात्। यस्तु दण्डधारणादिरूपो वेदनहेतुः परमहंसाश्रमः स पूर्वैराचार्य्यैर्बहुधा प्रपञ्चित इत्यस्माभिरुपरम्यते॥

॥ इति विविदिषासन्न्यासः॥

अर्थः—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन आश्रमियों को किसी निमित्त से सन्यासाश्रम स्वीकार करने में बलवान् रूकावट होतो, अपने २ आश्रमोचित धर्मोंको पालन करते हुए भी मानस सन्न्यास का सेवन कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे। इस में कोई विरोध नहीं। इस अंश में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, और लोक मे ऐसे तत्त्वज्ञानियों के दृष्टान्त बहुत पाये जाते हैं। दण्डधारणादिचिन्हविशिष्ट ज्ञान का साधनरूप जो विविदिषा सन्न्यास है, उस की विवेचना पूर्वाचार्यों ने अनेक प्रकार से किये है अत एव इस विषय में हम उपराम करते हैं।

इसभांति विविदिषा सन्न्यास का संक्षेपसे निरूपण समाप्त हुआ॥

अथ विद्वत्सन्न्यासं निरूपयामः। सम्यगनुष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परतत्त्वं वि-

दितवद्भिः सम्पाद्यमानो विद्वत्सन्न्यासः।
तं च याज्ञवल्क्यः सम्पादयामास। तथा हि-
विद्वच्छिरोमणिर्भगवान् याज्ञवल्क्यो वि-
जिगीषुकथायां बहुविधेन तत्त्वनिरूपणेना-
ऽऽश्वलप्रभृतीन् विप्रान् प्रविजित्य वीतरा-
गकथायां संक्षेपविस्तराभ्यामनेकधा जनकं
बोधयित्वा मैत्रेयीं बुबोधयिषुस्तस्यास्त्वरया
तत्त्वाभिमुख्याय स्वकर्त्तव्यं सन्न्यासं प्रति-
जज्ञे। ततस्तां बोधयित्वा सन्न्यासं चकार
तदुभयं मैत्रेयीब्राह्मणस्याऽऽद्यन्तयोराम्ना-
यते।

अर्थः—अब हम विद्वत्सन्न्यास का निरूपण करते हैं यथा-विधि श्रवण, मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान कर जिसने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है ऐसा पुरुष विद्वत्संन्यास धारण करे। इस संन्यास को भगवान् योगिवर श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने सम्पादन किया था। विद्वानों के मुकुटमणि भगवान् श्रीयाज्ञवल्क्य विजिगीषुकथा में बहुत प्रकार से तत्त्वनिरूपण द्वारा आश्वल आदिक ब्राह्मणों को जीता था और वीतराग कथा में राजा जनक को संक्षेप और विस्तार से बोध कराया उस के बाद अपनी स्त्री मैत्रेयी जो अधिकारी के लक्षणों से सम्पन्न थी, उसे उपदेश देने की इच्छा से उस को शीघ्र तत्त्वाभिमुख करने के लिये स्वयं "हेस्त्री! अब मुझे संन्यास आश्रम धारण करना है" ऐसी प्रतिज्ञा कियी। अनन्तर उस को तत्त्वाभिमुखकरानेवाले प्रश्नोत्तर द्वारा श्री याज्ञवल्क्यमुनि ने बोध कराया और स्वयं सन्न्यास ग्रहण किया। ये दोनों बातें मै-

त्रेयीब्राह्मण के आदि और अन्त में स्पष्ट है, वह यह है:—

"अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरे ऽहमस्मात्स्थानादस्मि" इति ।

अर्थः—गृहस्थाश्रम से अन्य संन्यासाश्रमधारण करने की इच्छा से मैत्रेयी (अपनी स्त्री) से याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि मैं इस गृहस्थाश्रम का त्याग कर सन्न्यासाश्रम को ग्रहण करने की इच्छा करता हूं ॥

"एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार" इति च ।

अर्थः—"यही मोक्षका साधन है" इतना कह श्रीयाज्ञवल्क्य ने सन्न्यास ग्रहण किया । ये उपरोक्त दोनों वाक्य क्रम से मैत्रेयीब्राह्मण के आदि और अन्त में पठित हैं ।

कहोलब्राह्मणेऽपि विद्वत्सन्न्यास आम्नायते "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" इति ।

अर्थः—कहोलब्राह्मण में भी विद्वत्संन्यास का वर्णन है । इस प्रकार से प्रसिद्ध उस आत्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्मवित् पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से अलग हो, भिक्षाटन करते हैं अर्थात् संन्यासाश्रम को धारण करते हैं ॥

न चैतद्वाक्यं विविदिषासंन्यासपरमिति शङ्कनीयम् । पूर्वकालवाचिनो विदित्वेति क्त्वा-प्रत्ययस्य ब्रह्मविद्वाचिनोब्राह्मणशब्दस्य च

बाधप्रसङ्गात् । न चात्र ब्राह्मणशब्दो जातिवाचकः । वाक्यशेषे पाण्डित्यबाल्यमौनशब्दाभिधेयैः श्रवणमननिदिध्यासनैः साध्यं ब्रह्मसाक्षात्कारमभिप्रेत्याथ ब्राह्मण इत्यभिहितत्वात् ।

अर्थः—यह वाक्य विविदिषा सन्न्यास का प्रतिपादन करने वाला है ऐसी शङ्का न करनी चाहिये । क्योंकि 'विदित्वा' इस पद में स्थित भूत काल में 'त्वा' प्रत्यय और ब्रह्मवेत्ता का वाचक "ब्राह्मण" शब्द का बाध होता है । इस वाक्य में ब्राह्मणशब्द, ब्राह्मणजाति का वाचक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य के शेष भागमें, पाण्डित्य, बाल्य और मौन इन संज्ञाओं से यथा क्रम से कथन करनेपर, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार के अभिप्राय से ही "अथ ब्राह्मणः" ऐसा कथन किया है ।

ननु तत्र विविदिषासंन्यासोपेतः पाण्डित्यादौ प्रवर्त्तमानोऽपि ब्राह्मणशब्देन परामृष्टः । "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेदिति चेन्न । नैवम् । भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य तत्र ब्राह्मणशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । अन्यथा कथमथ ब्राह्मण इति साधनानुष्ठानोत्तरकालवाचिनमथशब्दम्प्रयुञ्जीत । शारीरब्राह्मणेऽपि विद्वत्संन्यासविविदिषासंन्यासौ स्पष्टं निर्दिष्टौ ।

अर्थः—शङ्काः—उस स्थल में 'तस्माद्ब्रा०' (इस कारण

ब्राह्मण श्रवण को विधिपूर्वक कर मनन में स्थित रहे) इस वाक्य में श्रवण आदि में प्रवृत्तहोने से विविदिषासंन्यासवा- न् पुरुषका भी ग्रहण किया है।?

उत्तरः—भविष्यत् में ब्रह्मवित्त्व की प्राप्ति करनेवाला इस अर्थ का आश्रय कर पूर्वोक्त वाक्य में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग, किया है। जो वैसा न होता, तो श्रुति 'अथ ब्राह्मणः इस वाक्य में श्रवणादिक साधनोत्तर काल वाचक अथ शब्द का उच्चारण क्यों करती! नहीं करती। शारीर ब्राह्मण में भी विवि- दिषा संन्यास का स्पष्ट निर्देश है।

"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्रा- जिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इति। मुनित्वं मननशीलत्वं तच्चाऽसति कर्त्तव्यान्तरे सम्भवतीत्यर्थात्संन्यास एवाभिधीयते। ए- तच्च वाक्यशेषे स्पष्टीकृतम्।

अर्थः—इस आत्माको ही जानकर मुनि होता है। इस संन्यासी के लोक की (आत्मा को ही) इच्छा कर पुरुष सं- न्यास ग्रहण करते हैं। इस वाक्य में 'मुनि' शब्द का अर्थ मन- नशील इस प्रकार होता है परन्तु मननशीलत्व जबतक कर्त्तव्य शेष होता तब तक नहीं हो सकता अर्थात् उस से संन्यास ही सूचित होता है यह वार्त्ता ऊपर के वाक्य के अन्तिम भाग में स्पष्ट किया है।

"एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न काम- यन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमा- त्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च

वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति " इति । अयं लोक इत्यपरोक्षेणानुभूयत इत्यर्थः ।

अर्थः—यह वहीहै– जिस को जान कर पूर्व समय के विद्वानों ने प्रजा की इच्छा न कियी । (कारण यह है कि उनको धारणा थी कि) जिनको यह स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप प्राप्त हुआ है, वे हम प्रजाको क्या करेंगे ? ऐसा समझ कर उन विद्वानों ने पुत्र की इच्छा धनकी इच्छा और लोक की तृष्णा को छोड दिया और भिक्षावृत्ति (संन्यासाश्रम) का आश्रय लिया था अर्थात् संन्यास ग्रहण किया था । इस श्रुति में अयं लोकः का अर्थ जिस का साक्षात् अनुभव हुआ है ऐसा यह आत्मा ऐसा होता है ।

नन्वत्र मुनित्वेन फलेन प्रलोभ्य विविदिषासंन्यासं विधाय वाक्यशेषे स एव प्रपञ्चितः। अतो न संन्यासान्तरं कल्पनीयम्। मैवम् । वेदनस्यैव विविदिषासंन्यासफलत्वात् । न च वेदनमुनित्वयोरेकत्वं शङ्कनीयम् । " विदित्वा मुनिर्भवतीति " पूर्वोत्तरकालीनयोस्तयोः साध्यसाधनभावप्रतीतेः । ननु वेदनस्यैव परिपाकातिशयरूपमवस्थान्तरं मुनित्वम् । अतो वेदनद्वारा पूर्वसंन्यासस्यैव तत्फलमिति चेत् । बाढम् । अत एव साधनरूपात्संन्यासादन्यं फलरूपमेतं संन्यासं ब्रूमः । यथा विविदिषासंन्यासिना तत्त्वज्ञा-

नाय श्रवणादीनि सम्पादनीयानि, तथा वि-
द्वत्संन्यासिनाऽपि जीवन्मुक्तये मनोनाशवा-
सनाक्षयौ सम्पादनीयौ । एतच्चोपरिष्टात्प्र-
पञ्चयिष्यामः ।

अर्थः—शङ्काः—(एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति) इस श्रुति में मुनित्व की प्राप्तिरूप फल का लोभ बताकर, उस फल के निमित्त विविदिषासंन्यास का विधान कर 'एतद्ध स्म वै०' इत्यादि वाक्यशेष द्वारा विविदिषासंन्यास का ही स्पष्टीकरण किया है इस लिये विविदिषासंन्यास से भिन्न अन्य सन्न्यास की कल्पना करनी सम्भव नहीं ।

समाधानः—'विदित्वा मुनिर्भवति' ऐसे कथन से वेदन—ज्ञान की साधनरूपता तथा मुनित्व की फलरूपता प्रतीत होती है। अत एव विविदिषा संन्यास द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानरूप फल मिलने पर विद्वत्संन्यास द्वारा मुनित्वरूप फल मिलता है । यह बात यथार्थ है ।

शङ्काः—ज्ञान के ही परिपाक विशेष से प्राप्त हुई एक प्रकार की अवस्था है, वही मुनित्वहै, अतएव ज्ञान द्वारा पूर्वसंन्यास अर्थात् विद्वत्संन्यास का ही मुनित्व फल है विद्वत्संन्यास का फल नहीं ।

समाधानः—यह बात ठीक है । इसी लिये हम साधन रूप संन्यास से भिन्न फल रूप संन्यास का कथन करते हैं । जैसे विविदिषासंन्यासी को ज्ञान के लिये श्रवण मनन और निदिध्यासन सम्पादन करना चाहिये उसी प्रकार विद्वत्संन्यासी को भी जीवन्मुक्तिरूप उत्कृष्ट फल के निमित्त वासनाक्षय और मनोनाश सम्पादन करना चाहिये । यह बात विस्तार

पूर्वक आगे (इसी ग्रन्थ में) कहेंगे ।

सत्यप्यनयोः सन्न्यासयोरवान्तरभेदे परम-हंसत्वाकारेणैकीकृत्य "चतुर्विधा भिक्षवः" इति स्मृतिषु चतुःसंख्योक्ता । पूर्वोत्तरयोरु-भयोः संन्यासयोः परमहंसत्वं जाबालश्रुता-ववगम्यते ।

अर्थः—शङ्काः–जो विद्वत्सन्न्यास नाम का एक अलग सं-न्यास होता तो, स्मृति में कुटीचक, बहूदक, हंस, एवं परमहंस इन चार प्रकार के भिक्षुकों के गिनने के बदले पांचप्रकारके गिनते ? उत्तर— यद्यपि विविदिषा सन्न्यास और विद्वत्संन्यास में परस्पर अवान्तर विलक्षणता हैं । तथापि परमहंस में दोनों का समावेश कर स्मृतियों में भिक्षुकों की ४ ही संख्या रक्खी है। दोनों संन्यासों का परमहंस होना जावाल उपनिषद् की श्रुति से ही जाना जाता है ।

तत्र हि जनकेन संन्यासे पृष्टे सति याज्ञव-ल्क्योऽधिकारविशेषविधानेनोत्तरकालानुष्ठे-येन च सहितं विविदिषासंन्यासमभिधाय पश्चादत्रिणा यज्ञोपवीतरहितस्याऽऽक्षिप्ते ब्रा-ह्मण्ये सति पश्चादात्मज्ञानमेव यज्ञोपवीत-मिति समादधौ ।अतो बाह्योपवीताभावात् परमहंसत्वं निश्चीयते । तथाऽन्यस्यां कण्डि-कायांपरमहंसो नामेत्युपक्रम्य सम्वर्तकादीन् बहून्ब्रह्मविदो जीवन्मुक्तानुदाहृत्य "अव्य-क्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तव-

दाचरन्तः" इति विद्वत्संन्यासिनो दर्शिताः ।

तथा—

अर्थः—जाबाल उपनिषद् मे जनक राजा का संन्याससम्बन्धी प्रश्न करने पर श्री याज्ञवल्क्य मुनि ने संन्यासाश्रम के अधिकार का विधान कर उत्तर काल में साधने योग्य कर्त्तव्य सहित विविदिषा संन्यास का कथन किया, इस को सुन भगवान् अत्रिमुनि बोले कि 'यज्ञोपवीत के त्याग करने से ब्राह्मणत्व नष्ट होगा और ऐसा करने पर उपनिषद् के विचार में अधिकार भी नहीं रहता'। इस के उत्तर में 'आत्मज्ञान ही उन को (संन्यासियों के) यज्ञोपवीत है' यों श्रीमहामुनि योगिवर्य ने समाधान किया अत एव बाह्य उपवीत के अभाव से विविदिषासंन्यासियो का परमहंस होना निश्चित होता है। उसी प्रकार इसी उपनिषद् की अन्यकण्डिका में 'परमहंस नाम' से लेकर सम्वर्तकादिक अनेक ब्रह्मवित् जीवन्मुक्त पुरुषों का नाम देकर "ये सब जिन का आश्रमादि ज्ञापक चिह्न कोई दीखता नहीं, वैसे गुप्त आचारवाले, उन्मत्त न हो परन्तु उन्मत्तका सा बर्त्ताव करनेवाले हैं, इस प्रकार कह कर, उसी तरह विद्वत्संन्यास को दिखलाया है।

" त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं
शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत् सर्वं भूः स्वाहे-
त्यप्सु परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत् " इति

अर्थः—त्रिदण्ड, कमण्डलु, छीका, जलपात्र, शिखा और यज्ञोपवीत इन सब को "भूः स्वाहा" पढ कर जल में छोड देवे और आत्मसंशोधन करे।

त्रिदण्डिनः सत एकदण्डलक्षणं विविदिषासंन्यासं विधाय तत्फलरूपं विद्वत्संन्यासमेवमुदाजहार ।

अर्थः—इस वाक्य द्वारा त्रिदण्डी संन्यासी के लिये एक दण्ड का धारणरूप विविदिषासंन्यास का विधान कर उसके फलरूपी विद्वत्संन्यास का ही उदाहरण दियाहै ।

"यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह स्तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्ष्यमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ कृत्वा शून्यागारे देवतागृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रनदीपुलिनगिरिकुहर—कन्दरकोटरानिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नोनिर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स एव हंसो नाम" इति ।

अर्थः—जैसा पैदा हुआ उसी प्रकार अर्थात् नंगा, सुखदुःखादिक के संसर्गसे रहित, संग्रहरहित, ब्रह्ममार्ग में यथार्थ निष्ठा प्राप्तकर शुद्धमनवाला प्राणरक्षार्थ योग्य समय में आसन से उठकर उदरपात्र द्वारा भिक्षा करता हुआ भिक्षा मिले या न मिले उस में समता रखने वाला, शून्य घर में, देवमन्दिर में, फूस के टाल में, दीमक की आड में, वृक्षों की आड में, कुम्हार के आवा में, अग्निहोत्रगृह में, नदी के तट पर, पर्वत की कन्दरा में, वृक्ष के खोड में, झरना के पास, यज्ञस्थण्डिल (चबूतरा वा

वेदी) पर, या जहां कोई न रहता हो वहां प्रयत्नरहित शुद्ध परमात्मा के ध्यान में तत्पर, आत्मनिष्ठावाला, शुभाशुभ कर्म के उच्छेद करने में तत्पर पुरुष संन्यास द्वारा शरीर को त्याग करता, उसी को परमहंस जानना" ।

तस्मादनयोरुभयोः परमहंसत्वं सिद्धम् । समानेऽपि परमहंसत्वे सिद्धे विरुद्धधर्माक्रान्तत्वादवान्तरभेदोऽप्यभ्युपगन्तव्यः । विरुद्धधर्मत्वं चाऽऽरुण्युपनिषत्परमहंसोपनिषदोः पर्यालोचनायामवगम्यते । "केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विसृजानीति" शिखायज्ञोपवीतस्वाध्यायगायत्रीजपाद्यशेषकर्मत्यागरूपे विविदिषासंन्यासे शिष्येणाऽऽरुणिना पृष्टे सति गुरुः प्रजापतिः "शिखां यज्ञोपवीतम्" इत्यादिना सर्वत्यागमभिधाय "दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत्" इति दण्डादिस्वीकारं विधाय "त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत् । सन्धिं समाधावात्मन्याचरेत्सर्वेषु वेदेष्वारण्यमावर्तयेत् । उपनिषदमावर्त्तयेत्" इति वेदनहेतूनाश्रमधर्माननुष्ठेयतया विधत्ते।

अर्थः—इस लिये इन दोनों आश्रमों का परमहंस होना सिद्ध है । परमहंसत्वरूप धर्मद्वारा दोनों समान होने पर भी उन में परस्पर अन्य विरुद्धधर्म होने से उन मे अवान्तर भेद स्वीकार करना अवश्य चाहिये । इस के विरुद्ध धर्म का ज्ञान आरुणि उपनिषद् और परमहंसोपनिषद् की आलोचना से होता है ।

आरुणि उपनिषद् में इस भांति है: —"केन भगवन्०"– हे भगवन् ! किस प्रकार मैं सब कर्मों का त्याग करूं ? इस प्रकार आरुणि शिष्य के स्वाध्याय गायत्री जपादिक सब कर्मों का त्यागरूप विविदिषा संन्यास विषयक प्रश्न करने पर गुरु प्रजापति ने "शिखां यज्ञोपवीतं" इत्यादि पूर्वोक्तवचनद्वारा सब का त्याग कहा और 'दण्डमाच्छादनं कौपीनं'—दण्ड, आच्छादन, और कौपीन को ग्रहण करे इस प्रकार दण्डादि ग्रहण करने का विधान किया एवं 'त्रिसन्ध्यादौ' इत्यादि प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल में स्नान करें सन्धिकाल में, आत्मा का अनुसन्धान करें, सब वेदों में, आरण्यक और उपनिषद् का आवर्त्तन करे। इस रीति से ज्ञान का हेतुरूप आश्रम धर्मों का कर्त्तव्यरूप से विधान किया है।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्ग इति विद्वत्संन्यासे नारदेन पृष्टे सति गुरुर्भगवान् प्रजापतिः स्वपुत्रमित्रेत्यादिना पूर्ववत् सर्वत्यागमभिधाय "कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहे"दिति दण्डादिस्वीकारस्य लौकिकत्वमभिधाय तच्च न मुख्योऽस्तीति शास्त्रीयत्वं प्रतिषिध्य कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यो "न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छाऽऽदनं चरति परमहंस" इति दण्डादिलिङ्गराहित्यस्य शास्त्रीयतामुक्त्वा " न शीतं न चोष्ण"मित्यादिवाक्येना"ऽऽशाम्बरो निर्नमस्कार" इत्यादिवाक्येन च लोकव्यवहारातीत-

तत्त्वमभिधायान्ते "यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्योभवतीत्यन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मानुभवमात्रपर्यवसानमाचष्टे। अतो विरुद्धधर्मोपेतत्वादस्त्येवानयोर्महान् भेदः। स्मृतिष्वप्ययं भेद उक्त इति द्रष्टव्यम्।

अर्थः—जाबालोपनिषद् में विद्वत्संन्यास के लिये इस भांति वर्णन है। "परमहंस योगी का कौन सा मार्ग है?" इस प्रकार भगवान् नारद के विद्वत्संन्यास सम्बन्धी प्रश्न करने पर गुरु-प्रजापति ने 'स्वपुत्रमित्र'० आदि वक्ष्यमाण वाक्यद्वारा पूर्ववत् सब का त्याग कह कर 'कौपीनं दण्डमाच्छादनं'०—कौपीन, दण्ड, और आच्छादन को अपने शरीर निर्वाह के लिये और लोगों के कल्याण के लिये ग्रहण करे इस वाक्यद्वारा दण्डादि को धारण करे यह कोई शास्त्रीय मुख्य कर्त्तव्य नही किन्तु लौकिकव्यवहार है ऐसा वतलाया। इस पर फिर नारदजी ने पूछा कि विद्वत्संन्यास का मुख्य धर्म क्या है? इस के उत्तर में प्रजापति ने यह वचन कहा ("न दण्डं०इत्यादि) कि परमहंस दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन, आच्छादनादि धारण नहीं करता, इस रीति से दण्डादि चिन्ह का अभाव शास्त्रोक्त है, ऐसा कहकर (न शीतं न चोष्णं०इत्यादि) उस को शीत, उष्णादि द्वंद्व धर्म, बाधा नहीं करता, वह दिशारूपी वस्त्र, धारण करता वह किसी की स्तुति नमस्कारादि नहीं करता' इत्यादि वचनों द्वारा उस की लोकों से विलक्षणता जनाकर अन्त में ('यत्पूर्णा०) जो, पूर्ण, आनन्दघन, और बोधरूप है, वह ब्रह्म मैं हूं ऐसे ज्ञान द्वारा कृतकृत्य होता है। इस अन्तिम जीवन्मुक्त योगी का पर्यवसान केवल ब्रह्मानुभव मे ही पूर्वोक्त उपनिषद् ने जतलाया है, अतएव वि-

विविदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यास में परस्पर विरुद्ध धर्म होने से उन में अवान्तर विलक्षणता है। स्मृतियों में भी यह भेद दिखलाया है, वह देखने योग्य है।

"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥
इत्यादि विविदिषासंन्यासः ।

अर्थः—इस प्रकार से संसार को साररहित अनुभव कर सारवस्तु (परमात्मा) के दर्शन की इच्छा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहिले ही परम वैराग्यवान् अधिकारी पुरुष संन्यास ग्रहण करता है॥ कर्मयोग प्रवृत्तिरूप है, और ज्ञान का साधन संन्यास है। अत एव ज्ञान ही को प्रधानता समझ उसी को सम्पादन करने के निमित्त बुद्धिमान् पुरुष इस जगत् में संन्यास ग्रहण करे यह वाक्य विविदषा संन्यास का बोधक है।

" यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्र-
जेत् । इत्यादिविद्वत्संन्यासः ।

अर्थः—जब सनातन परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता, तब एक दण्ड को धारण कर, उपवीतसहित शिखा का त्याग करे और अच्छे प्रकार परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने पर, सब का त्याग कर परिव्राजक होवे। यह वाक्य विद्वत्संन्यास का प्रतिपादक है।

ननु कलाविद्यास्विव कदाचिदौत्सुक्यमात्रे-
णापि वेदितुमिच्छा सम्भवत्येव विद्वत्ताऽ-
प्यापातदर्शिनः पण्डितम्मन्यमानस्याप्यवलो-
क्यते, नच तौ प्रव्रजन्तौ दृष्टौ । अतो विवि-
दिषाविद्वत्ते कीदृशे विवक्षिते इति चेत् ।
उच्यते । यथा तीव्रायां बुभुक्षायामुत्पन्नायां
भोजनादन्यो व्यापारो न रोचते, भोजने च
विलम्बो न सोढुं शक्यते । तथा जन्महेतुषु
कर्मस्वत्यन्तमरुचिर्वेदनसाधनेषु च श्रवणा-
दिषु त्वरा महती सम्पद्यते तादृशी विवि-
दिषा संन्यासहेतुः । विद्वत्ताया अवधिरुपदे-
शसाहस्र्यामभिहितः ।

अर्थः—शङ्काः-जैसे लोक कलारूपविद्याओं में कौतुक से प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र में भी कितने एक को कौतुक से प्रवृत्ति करने की इच्छा होनी सम्भव है । उसी प्रकार अपण्डित होकर आपेको पण्डित मानने वाला ब्रह्म के सामान्य ज्ञानवाले में भी विद्वत्ता देखी जाती है । अतएव विविदिषा और विद्वत्ता पूर्वोक्त दोनों संन्यासों में कैसी अपेक्षित है ? समाधानः—अत्यन्त भूख लगे पुरुष को जैसे भूख के समय भोजन के सिवाय अन्य किसी काम में मन नहीं लगता तैसे भोजन में विलम्ब भी नही सह सकता, उसी प्रकार जन्म देनेवाले कर्मों में अत्यन्त अरुचि और ज्ञान के साधन श्रवणादि में अत्यन्त शीघ्रता होती है इससे उसी समय विविदिषासंन्यास ग्रहण करे। विद्वत्संन्यास की अवधि भगवान् शङ्कराचार्य जीने उपदेशसाहस्री (ग्रन्थ) में दिखलाया है ।

" देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते" इति ।
श्रुतावपि ।

अर्थः—जैसे अज्ञानी को देहात्मज्ञान होता है, वैसा ही देहात्मज्ञान को बाध करने वाला ज्ञान जिस को स्वरूप में ही होता वह पुरुष यदि मुक्ति की इच्छा न करे तथापि वह मुक्त होता है ।

श्रुति भी कहती है कि—

" भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"
इति । परमपि हिरण्यगर्भादिकं पदमवरं यस्मादसौ परावरः, हृदये बुद्धौ साक्षिणस्तादात्म्याध्यासोऽनाद्यविद्यानिर्मितत्वेन ग्रन्थिवद्दृढसंश्लेषरूपत्वाद्ग्रन्थिरित्युच्यते । आत्मा साक्षी कर्त्ता वा, साक्षित्वेऽप्यस्य ब्रह्मत्वमस्ति वा न वा, ब्रह्मत्वेऽपि तद्बुद्ध्या वेदितुं शक्यं न वा, शक्यत्वेऽपि तद्वेदनमात्रेण मुक्तिरस्ति न वा, इत्यादयः संशयाः, कर्माण्यनारब्धान्यागामिजन्मकारणानि, तदेतद्ग्रन्थ्यादित्रयमविद्यानिर्मितत्वादात्मदर्शनेन निवर्तते । स्मृतावप्ययमर्थ उपलभ्यते ।

अर्थः—पर अर्थात् हिरण्यगर्भादि पद जिस से निकृष्ट कोटि को भोगता है, उस परमात्मा का साक्षात्कार होने पर इस अधिकारी पुरुष की अनादि अविद्या रचित बुद्धि में साक्षी का तादात्म्याध्यास, अत्यन्त दृढतावाला होने से हृदय की ग्रन्थि संज्ञा को भोगता है, सो गांठ खुल (छुट) जाती है ।

क्या आत्मा साक्षी है ? या कर्त्ता है ? वह सब का साक्षी होवे, तौ भी वह कदाचित् ब्रह्म है या कैसा ? कदाचित् वह ब्रह्मरूप होता तोभी ब्रह्मरूप जाना जा सकता या नहीं ? कदाचित् जाना जा सकता हो तौभी उसकी केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है या नहीं ? इत्यादिसंशय और प्रारब्ध कर्म को छोड कर भाविजन्म का हेतुभूत कर्म, यह सब अविद्या का कार्य होने से आत्मदर्शन से नष्ट हो जाते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही अर्थ प्रतीत होता है ।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमाल्लोकाँन्न हन्ति न निबध्यते" । इति ।

ब्रह्मविदो भावः सत्ता स्वभाव आत्मा नाहंकृतोऽहंकारेण तादात्म्याध्यासादन्तर्नाऽऽच्छादितः । बुद्धिलेपः संशयः । तदभावे त्रैलोक्यवधेनापि न बध्यते किमुतान्येन कर्मणेत्यर्थः ।

अर्थ—जिस ब्रह्मवित् पुरुष का सत्तास्वभाव आत्मा, अहङ्कार द्वारा अन्तर में तादात्म्याध्यास से आच्छादित नहीं, और जिस की बुद्धि संशयरूप लेप रहित—(निर्लेप) है । वह पुरुष इस लोक को अर्थात् तीनों लोकों का हनन कर भी नहीं हनन करता ! और बन्धन को भी प्राप्त नहीं होता है ।

नन्वेवं सति विविदिषासंन्यासफलेन तत्त्वज्ञानेनैवाऽऽगामिजन्मनो वारितत्वाद्वर्त्तमानजन्मशेषस्य भोगमन्तरेण विनाशयितुमशक्यत्वात् किमनेन विद्वत्संन्यासप्रयासे-

नेति चेत् । मैवम् । विद्वत्संन्यासस्य जीवन्मुक्तिहेतुत्वात्, तस्माद्वेदनाय यथा विविदिषासंन्यास एवं जीवन्मुक्त्यै विद्वत्संन्यासः सम्पादनीयः ।

॥ इति विद्वत्संन्यासः ॥

अर्थः—शंकाः—यदि ऐसा है तो, विविदिषा संन्यास के फलरूप तत्त्वज्ञानद्वारा ही आगामी (भविष्यत् में होनहार जन्म का वारण (रोक) हो सकता है, और वर्तमान जन्म के अवशिष्ट कर्मों का भोग किये बिना नाश हो नहीं सकता, तब इस विद्वत्संन्यास के निमित्त परिश्रम किस लिये किया जावे ?

समाधानः—विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्तिरूप बड़े फल के वास्ते है । जैसे ज्ञान प्राप्ति केलिये विविदिषासंन्यास का ग्रहण करना आवश्यक हैं, उसी प्रकार जीवन्मुक्ति के लिये विद्वत्संन्यास का सम्पादन करना योग्य है ।

इस प्रकार विद्वत्संन्यास का निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ केयं जीवन्मुक्तिः, किंवा तत्र प्रमाणम्, कथं वा तत्सिद्धिः, सिद्ध्या वा किं प्रयोजनमिति चेत् ।

उच्यते । जीवतः पुरुषस्य कर्त्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः ।

अर्थः—जीवन्मुक्ति किस को कहते ? उस में प्रमाण क्या

है? किस प्रकार इस की सिद्धि हो सकती ? और किस प्रयोजन से उस की सिद्धि कियी जाती ? इन ४ प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का उत्तर-जीवित पुरुष को कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःखादि अन्तःकरण का धर्म क्लेशों का उत्पादक होने से बन्धरूप होता है। इस क्लेशरूप चित्त के धर्म का जो निवारण है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।

नन्वयं बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते, किंवा चित्तात्। नाऽऽद्यः, तत्त्वज्ञानेनैव निवारितत्वात्। न द्वितीयः, असम्भवात्। यदा तु जलाद् द्रवत्वं निवार्येत, वन्हेर्वोष्णत्वं तदा चित्तात्कर्तृत्वादिनिवारणसम्भवः, स्वाभाविकत्वं तु सर्वत्र समानम्।

अर्थः—शङ्काः—क्या तुम इस बन्धन को साक्षी से निवारण करते हो, या चित्त से दूर करते हो ? जो कहो कि साक्षी से निवारण किया जाता तो यह बात सम्भव नही। क्योंकि, विविदिषा संन्यास में ही तत्त्वज्ञान द्वारा पहिले ही साक्षी से भ्रान्तिसिद्ध बन्धन का निवारण किया है। यदि ऐसा कहो कि साक्षी से नहीं, किन्तु अन्तःकरण में से बन्धन का वारण किया जाता तो, वह बात भी नहीं बन सकती। क्योंकि कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख, आदिक अन्तः करण के स्वाभाविक धर्म हैं, अतएव, जो जल के द्रवत्वरूप धर्म का और अग्नि के उष्णत्वरूप धर्म का नाश किया जा सके तो अन्तः करण में से कर्त्तापन आदिक धर्मों का वारण हो सकता। क्योंकि, स्वाभाविक धर्म का, धर्मी की स्थिति पर्यन्त नाश हो नहीं सकता। और सब ही स्वाभाविक धर्म समान होते हैं अतएव अन्तःकरणका

तो धर्म नष्ट होता है जलादिकों का नहीं, ऐसा भी नहीं कहसकते।

मैवम् । आत्यन्तिकनिवारणासम्भवेऽप्यभिभवस्य सम्भवात् । यथा जलगतं द्रवत्वं मृत्तिकामेलनेनाभिभूयते, वह्नेरौष्ण्यं मणिमन्त्रादिना, तथा सर्वाश्चित्तवृत्तयो योगाभ्यासेनाभिभवितुं शक्यन्ते ।

अर्थः—समाधान—स्वाभाविक धर्म का निःशेषता से नाश नहीं हो सकता, यह बात यथार्थ है, परन्तु उस का अभिभव तिरोभाव करना अशक्य नहीं है। जैसे जल में का द्रवत्व (बहना) जल के साथ मिट्टी मिलाकर अटकाया जा सकता है, उसी प्रकार अग्नि में की उष्णता को मणि, (चन्द्रकान्त) मन्त्र, औषधि द्वारा रोक सकते हैं, इसी प्रकार योगाभ्यास से चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है ।

ननु प्रारब्धं कर्म कृत्स्नाविद्यातत्कर्मनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापयति । नच सुखदुःखादिभोगश्चित्तवृत्तिं विना सम्पादयितुं शक्यते ततः कथमभिभवः ।

अर्थः—शंकाः—प्रारब्धकर्म, कार्यसहित सारी अविद्या का क्षय करने के लिये प्रवृत्त हुए तत्त्वज्ञान को बाध कर (उसको होने से रोक कर) देह, इन्द्रियादिक को जाग्रत रखता है, क्योंकि, चित्त की वृत्तियों के विना प्रारब्ध का फलरूप सुख दुःखादिकों का भोग हो नहीं सकता, अतएव योगाभ्यास द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का अभिभव (निरोध) कैसे होसकता?

मैवम् । अभिभवसाध्याया जीवन्मुक्तेरपि

सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धफल एवान्तर्भा-
वात् ।

अर्थः—समाधानः—वृत्तियों के निरोध द्वारा साधने योग्य जीवन्मुक्ति, इस उत्तम प्रकार के सुख होने से अन्य सुखों के साथ इस सुख का प्रारब्ध कर्म के फल में ही अन्तर्भाव है ।

तर्हि कर्मैव जीवन्मुक्तिं सम्पादयिष्यति मा-
भूत् पुरुषप्रयत्न इति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—जैसे प्रारब्ध कर्म ही प्रयास विना योग्य समय में अपने सुखदुःखरूप फलों का जीव को भोगवाता है, उसी प्रकार वह जीवन्मुक्ति सुख को योग्य समय में जीव को देगा फिर उस के निमित्त परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है ?

कृषिवाणिज्यादावपि समानः पर्यनुयोगः ।
कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसम्पत्ति-
मन्तरेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृ-
ष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेज्जीवन्मुक्तावपि
समं समाधानम् ।

अर्थः—समाधानः—यह तुम्हारा प्रश्न केवल मेरे विरुद्ध सम्भव नहीं परन्तु अन्न पैदा करने के लिये जो किसान खेती करता और धन सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये जो व्यापारी लोग व्यापार करता उसके विरुद्ध भी घटता है । क्योंकि, उस को भी अपने प्रारब्ध कर्म ही अन्नादि की प्राप्ति करा देगा । इस पर प्रारब्ध वादी का उत्तरः—कर्म स्वयं अदृष्ट होने से दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष साधन सम्पत्ति के विना फल देने में असमर्थ है । अतएव अन्नादि फल मिलने के निमित्त तो उसे कृषि आदि प्रत्यक्षसामग्री की आवश्यकता है, तब जीवन्मुक्ति के लिये

भी प्रयास करना निष्प्रयोजन नहीं है ।

सत्यपि पुरुषप्रयत्ने कृष्यादेः फलपर्यवसानं यत्र न दृश्यते तत्र प्रबलेन कर्मान्तरेण प्रतिबन्धः कल्पनीयः । तच्च प्रबलं कर्म स्वानुकूलवृष्ट्यभावादिरूपां दृष्टसामग्रीं सम्पाद्यैव प्रतिबध्नाति । स च प्रतिबन्धो विरोधिना प्रबलतरेणोत्तम्भकेन कारीरिष्ट्यादिरूपेण कर्मणाऽपनीयते । तच्च कर्म स्वानुकूलां वृष्टिलक्षणां दृष्टसामग्रीं सम्पाद्यैव प्रतिबन्धमपनयति । किं बहुना प्रारब्धकर्मण्येवात्यन्तभक्तेन भवता योगाभ्यासरूपस्य पुरुषप्रयत्नस्य वैयर्थ्यं मनसाऽपि चिन्तयितुमशक्यम् ।

अर्थः—प्रारब्ध वादी के प्रति सिद्धान्ती कहता हैः—कर्म अदृष्ट होने से जीवन्मुक्ति सुख भी दृष्टसामग्री विना प्राप्त हो सकता, है वैसा नहीं । किसी २ समय कृषि आदिक कर्म का फल जब नहीं दीख पड़ता तो, तब वर्तमान पुरुषार्थ करने से किसी अन्य प्रबलतर कर्म द्वारा फल के प्रतिबन्ध की कल्पना करे, वह भी अधिक बलवान् प्रतिबन्धक कर्म भी दृष्ट सामग्री बिना अन्नादि फल के प्रतिबन्ध करने में समर्थ नहीं होता, परन्तु अपने अनुकूल वृष्टि कें अभाव रूप दृष्ट सामग्री द्वारा ही प्रतिबन्ध करता है । वह प्रतिबन्ध भी अपनें विरोधी अतिप्रबल 'कारीरि इष्टि' १ आदि उत्तम्भक (प्रतिबन्धक का प्रतिबन्धक) कर्मद्वारा नाश को प्राप्त होता है । वह भी स्वयं ही प्रतिबन्ध को

---

१ पानी जब नहीं बरसता है, उस समय लोग इस यज्ञ को पानी बरसाने के निमित्त करते हैं। यह एक प्रकार का यज्ञविशेष है।

न निवारण कर वृष्टि आदि दृष्ट सामग्री द्वारा निवारण करता है। इसी भांति हे प्रारब्धवादिन्! जो श्रेष्ठप्रारब्ध, जीवन्मुक्ति सुख का हेतु है, वह साक्षात् उस सुख को नहीं उत्पन्न कर योगाभ्यासरूप पुरुषप्रयत्न द्वारा उत्पन्न करता है। अत एव तुम या जो प्रारब्धका अत्यन्त भक्त है, उस को योगाभ्यास रूप पुरुषार्थ की निष्फलता का मन में लेश भी विचार नहीं रखना चाहिये।

अथवा प्रारब्धं कर्म यथा तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु। तथाच योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते।

अर्थः—अथवा तुम्हारे अभिप्रायासानुसार प्रारब्ध कर्म जैसे तत्त्वज्ञान से प्रवल है उसी प्रकार प्रारब्धकर्म से योगाभ्यास अधिक वलवान् हैं, ऐसा हम कहते हैं। इसी लिये उद्दालक, वीतहव्यादिक योगी महात्माओं ने अपनी इच्छा से ही देहत्याग किया सो उचित है।

यद्यल्पायुषामस्माकं तादृशो योगो न सम्भवति-तदा कामादिरूपचित्तवृत्तिनिरोधमात्रे योगे को नाम प्रयासः। यदि शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य प्राबल्यं नाङ्गीक्रियते तदा चिकित्सामारभ्य मोक्षशास्त्रपर्यन्तानां सर्वेषामानर्थक्यं प्रसज्येत। नहि कदाचित् कर्मफलविसम्बादमात्रेण दौर्बल्यमापादयितुं शक्यम्। अन्यथा कादाचित्कं पराजयं दृष्ट्वा सर्वैर्भूपैर्गजाश्वादिसेनोपेक्ष्येत। अतएवाऽऽनन्दबोधा-

चार्या आहुः ।

अर्थः—हमलोगों की आयु थोड़ी होती है अतएव जैसे उद्दालक आदिक महात्माओं ने योगाभ्यास किया था वैसे योग करने में हमलोग असमर्थ है । तथापि काम आदिक चित्तवृत्तियों के निरोधरूप योगसाधन में कौन वड़ा परिश्रम है ? कुछ नहीं । जो तुम शास्त्रीय पुरुषार्थ को भी प्रारब्धकर्म से अधिक बलवान् न मानोगे, तो वैद्यक शास्त्र से लेकर मोक्ष शास्त्र तक, लौकिक अलौकिक सुखों की प्राप्ति के साधनों के प्रतिपादन करने वाले सब ही शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे । एकवार यदि पुरुषार्थ का फल न हो तो, उस पर से सारे पुरुषार्थ के उपर दुर्वलतारूप दोष को आरोपित करना यह विवेकी पुरुष की दृष्टि से किसी प्रकार योग्य नहीं । जो एकवार पुरुषार्थ निष्फल हो जाने से सदैव उस की निष्फलता ही गिनी जावे तो कोई राजा शत्रु से पराजय पाने पर, पीछे उसको सैन्य आदिक सम्पूर्ण युद्ध सामग्रियों का त्याग ही कर देना चाहिये, परन्तु अब तक किसी राजा ने ऐसा नही किया है और या ऐसा होना सम्भव भी नहीं । इसी लिये आनन्द बोधाचार्य ने कहा है ।

"न ह्यजीर्णभयादाहारपरित्यागः, भिक्षुकभयाद्वा स्थाल्यनधिश्रयणं, यूकाभयाद्वा प्रावरणपरित्यागः" इति ।

शास्त्रीयप्रयत्नस्य प्राबल्यं वसिष्ठरामसम्वादे विस्पष्टमवगम्यते "सर्वमेव हि सदे"त्यारभ्य "तदनु तदप्यवमुच्य साधुतिष्ठे"त्यन्तेन ग्रन्थेन।

अर्थः—अजीर्ण के भय से कोई आहार को नही छोडता, भिक्षुक के भय से कोई भोजन न पकावे, ऐसा नही होता है, या

जूं के डर से कोई कपडा न पहने ऐसा नहीं होता । शास्त्रीय पुरुषार्थ की प्रबलता श्रीयोगवासिष्ठ रामायण के अन्तर्गत श्रीवसिष्ठ और श्रीराम के सम्वाद से स्पष्ट जानी जाती है, श्रीवसिष्ठजी कहते हैः ।

"सर्वमेव हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक् प्रयत्नात् सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते" ॥
सर्वं पुत्रवित्तस्वर्गलोकब्रह्मलोकादिफलं, पौरुषं पुत्रकामेष्टिकृषिवाणिज्यज्योतिष्टोमब्रह्मोपासनालक्षणः पुरुषप्रयत्नः ।

अर्थः—हे रघुनन्दन ! इस संसार में शास्त्रानुकूल आचरित-पुत्रकामेष्टि, कृषि, वाणिज्य, ज्योतिष्टोम, ब्रह्मोपासना आदिक पुरुषार्थ द्वारा, पुत्र, धन, स्वर्ग मोक्ष आदि सब ही फलों को पा सकते हैं ।

"उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्" ॥
उच्छास्त्रं-परद्रव्यापहारपरस्त्रीगमनादि, शास्त्रितं नित्यनैमित्तिकानुष्ठानादि, अनर्थो-नरकः, अर्थेषु स्वर्गादिषु परमो मोक्षः परमार्थः ।

अर्थः— दूसरे के पदार्थ को हर लेना, परस्त्रीगमन आदिक अशास्त्रीय पुरुषार्थ, और नित्य नैमित्तिक आदिक सत्कर्मों का अनुष्ठानरूप शास्त्रविहित पुरुषार्थ, यों दो प्रकार के पुरुषार्थ हैं। इनमें से अशास्त्रीय पुरुषार्थ नरकादि अनर्थ फल का हेतु है। और शास्त्रीय सत्कर्माचरणरूप पुरुषार्थ परमार्थ के लिये है ।

"आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन सोऽर्थः सम्पाद्यते हितः ॥

अलं सम्पूर्णं सम्यगित्यर्थः। गुणैर्युक्तेनेत्यध्याहारः। हितः श्रेयः श्रेयोरूपः। श्रीरामः।

अर्थः—बाल्यावस्था ही से यथाविधि सद्शास्त्रों का श्रवण, सत्समागम, आदि शुभ गुण युक्त पुरुषार्थ से श्रेयरूप अर्थ सम्पादन किया जा सकता है। इस के अनन्तर श्रीरामजी प्रश्न करते हैं:।

"प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा।
मुने तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम्"॥

इति॥ वासना धर्माधर्मरूपा जीवगतसंस्काराः।

अर्थः—धर्म अधर्मरूप जीवगतसंस्कार ही वासना इस नाम से प्रसिद्ध हैं, वह जिस प्रकार मुझ को प्रेरणा करतीं है, उसी प्रकार मैं रहता हूं। हे मुने! मैं दीन स्वतन्त्रता से क्या कर सकता हूं?

वसिष्ठः—

"अत एव हि हे राम! श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम्।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा"॥

यतो वासनापरतन्त्रो भवानत एव हि पारतन्त्र्यनिवारणाय स्वोत्साहसम्पादितो मनोवाक्कायजन्यः पुरुषव्यापारोऽपेक्षितः।

अर्थः—तुम वासना के वशीभूत हो, इसी कारण हे राम! परतन्त्रता से मुक्त होने के लिये स्वयं उत्साह पूर्वक सिद्ध किये मन, वाणी, और शरीर जन्य पुरुषार्थ द्वारा मोक्षरूप अविनाशी सुख को पाओगे।

"द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च ते।
प्राक्तनो विद्यते राम द्वयोरेकतरोऽथवा"॥

किं धर्माधर्मावुभावपि त्वां नियोजयत उतै-

कतर इति विकल्पः। एकतरपक्षेऽपि शुभो-ऽशुभोवेत्यर्थात्सिद्धो विकल्पः।

अर्थः—शुभ और अशुभ इन दो प्रकार की वासना ओं का समूह तुम में है ? और वे दोनों तुम को प्रेरणा करते हैं ? यदि कहो कि दोनों तो एक साथ प्रेरणा करते नहीं किन्तु एक प्रेरणा करता है तो, क्या शुभवासना समूह प्रेरण करता या अशुभवासनासमूह प्रेरणा करता है ?

"वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदपनीयसे।
तत्क्रमेणाऽऽशु तेनैव पदं प्राप्यस्यसि शाश्वतम्"॥

तत्र तेषु पक्षेषु। ततस्तर्हि तेनैव क्रमेण शुभ-वासनाप्रापितेनैवाऽऽचरणेन प्रयत्नान्तरनि-रपेक्षेण। शाश्वतं पदं मोक्षम्।

अर्थः—उनमें से यदि शुभवासना समूह तुम को प्रेरणा करती है तो, उस शुभवासना की प्रेरणा से प्राप्त शुभाचरण द्वारा ही क्रमशः तुम शाश्वत पद–(मोक्ष) पाओगे।

"अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति सङ्कटे।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता स्वयम्"॥

भावो वासना। तत्तर्हि यत्नोऽशुभविरोधि-शास्त्रीयधर्मानुष्ठानं तेन स्वयं जेतव्यः नतु युद्धे मृत्युमुखेनेव पुरुषान्तरमुखेन जेतुं शक्यः।

अर्थः—और यदि पूर्व की वासना तुम को संकट में जो-डती है, अर्थात अशुभ कार्य करवाती है तो अशुभवासना की-विरोधी शुभवासनारूप शास्त्रीय धर्मों के अनुष्ठान द्वारा उन को तुम जीत सकते हो।

"शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना-
सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि" ॥
उभयपक्षे तु शुभभागस्य प्रयत्ननैरपेक्ष्येऽप्य-
शुभभागं शास्त्रीयप्रयत्नेन निवार्य शुभमेव
तस्य स्थाने समाचरेत् ।

अर्थः—वासनारूप नदी की दो धारायें वहा करती हैं एक शुभ मार्ग से दूसरी अशुभ मार्ग से । इन में से अशुभ वासना की धारा को पुरुष प्रयत्न द्वारा शुभमार्ग में लगावे, अर्थात् अशुभवासनारूप अधर्माचरण को त्याग कर उस की जगह शास्त्रीय प्रयत्न द्वारा सद्धर्माचरण करे ।

"अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर" ॥
अशुभेषु परस्त्रीद्रव्यादिषु।शुभेषु शास्त्रार्थदेवता-
ध्यानादिषु।पुरुषार्थेन पुरुषप्रयत्नेन, प्रबलेन ।

अर्थः—हे बलवान् में श्रेष्ठ रामचन्द्र ! परस्त्री पर द्रव्यादि में लिप्त हुए अपने मन को प्रबल पुरुष प्रयत्न द्वारा हटाकर शुभ-मार्ग में–शास्त्र चिन्तन और इष्ट देवता के ध्यानादि में स्थापन करो।

"अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत्।
जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद्बलात्"॥
यथा शिशुर्मृद्भक्षणान्निवार्य फलभक्षणे
योज्यते मणिमुक्ताकर्षणान्निवार्य कन्दुकाद्या-
कर्षणे योज्यते तथा चित्तमपि सत्सङ्गेन दुः-
सङ्गात्तद्विपरीतविषयान्निवारयितुं शक्यम् ।

अर्थः—जीवों का शिशु तुल्य चित्त अशुभ में रुककर शुभ

में जाता और शुभ में से अशुभ में प्रवेश करता है, अत एव उस को बलात्कार से अशुभाचरणसे रोको। जैसे जो कोई बालक मट्टी खाता हो तो उस के हाथ में फल देकर उस को माटी खाने से रोका जा सकता, और मणि, मुक्ता फल आदिक मूल्यवान् पदार्थ को लेकर खलने वाले बालक के हाथ में नाश होते देखकर गेन्द वगैरह देकर उस के पास से मणि आदि पदार्थ लिया जा सकता है उसी प्रकार चित्त रूपी बालक को भी सत्सङ्ग द्वारा दुःसङ्ग से रोककर विपरीत आचरणों से बचा सकते हो।

"समतासान्त्वनेनाऽऽशु न द्रागिति शनैः शनैः।
पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम्" ॥

चपलस्य पशोर्बन्धस्थाने प्रवेशनाय द्वावुपायौ भवतः। हरिततृणप्रदर्शनं कण्डूयनादिकं, वाक्पारुष्यं दण्डादिभर्त्सनं चेति। तत्राऽऽद्येन सहसा प्रवेश्यते, द्वितीयेनेतस्ततोधावन् शनैः शनैः प्रवेश्यते। तथा शत्रुमित्रादिसमत्वं सुखबोधनम्, प्राणायामप्रत्याहारादिपुरुषप्रयत्नश्चेत्येतौ द्वौ चित्तशान्त्युपायौ। तत्राऽऽद्येन मृदुयोगेन शीघ्रं लालयेत्। द्वितियेन हठयोगेन द्रागिति न लालयेत्। किन्तु शनैः शनैः।

अर्थः—शत्रुमित्रादिकों मे समतारूप सान्त्वन द्वारा चित्तनाम का बालक शीघ्र वश हो जाता हैं, और अन्य उपाय द्वारा उस प्रकार वश नहीं होता किन्तु धीरे २ वश होता है। जैसे चञ्चल पशु को गोशाला में बन्धनार्थ ले जाने के दो उपाय

होते हैं । एक तो हरी घास उस के आगे धरके जाना उसके शरीर को खुजलाना आदि, और दूसरा उसको कठोर वचन बोलना और दण्ड द्वारा ताडन करना इत्यादि । इन दोनों में से प्रथम उपाय द्वारा वह पशु थोडे समय में अपने स्थान में प्रवेश करता है और दूसरे उपाय से इधर उधर दौडता भटकता बडे परिश्रम से प्रवेश करता है । उसी प्रकार चित्तरूपी पशु को अपने अधीन वर्त्तावने के भी दो उपाय है । एक तो शत्रुमित्रादि में समभाव रखना इत्यादि मृदु उपाय और दूसरा प्राणायामादि कठिन उपाय है इन में सेमृदु उपाय द्वारा अतिशीघ्र वश में होता है और दूसरा हठयोग द्वारा सत्वर वश न होकर धीरे २ बहुत समय में वश होता है ।

"द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम्।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन"॥
मृदुयोगाभ्यासाच्छीघ्रमेव सद्वासनोदये सति साफल्यमभ्यासस्य वक्तव्यं नत्वल्पकालत्वेनासम्भावना शङ्कनीया ।

अर्थः—मृदुयोगाभ्यासद्वारा जब तुम्हारे चित्त में शुभ वासना सहज स्वभाव से उदय पावे उस समय हे शत्रुमर्दन ! तुम्हारा अभ्यास सफल हुआ, ऐसा जानो । 'थोडे समय में कर्म सिद्ध हुआ ?' ऐसी शङ्का से सद्वासना की सिद्धि की असम्भावना तुम्हे न करनी चाहिये ।

"सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभवासनाऽभ्यस्यमाना सम्पूर्णा न वेति सन्देहस्तदाऽपि शुभामभ्यसेदेव । तद्यथा सहस्रजपे प्रवृत्तस्य दशमीशतसंख्या यदा सन्दि-

ग्धा तदा पुनरपि शतं जपेत्। असम्पूर्त्तौ सम्पूर्त्तिः फलिष्यति, सम्पूर्तौ च तद्वृद्ध्या न सहस्रजपो दुष्यति तद्वत्।

अर्थः—शुभ वासना के अभ्यास की सिद्धि होगी या नहीं ऐसे सन्देह को अपने अन्तःकरण में मिलने पर भी सद्वासना का ही अभ्यास करे जैसे सहस्र (हजार) जप में प्रवृत्त" हुए पुरुष को दशम सैकडे में यदि सन्देह हो (कि ९०० जपे या १००० पूरा हुआ ?) तो सौ मन्त्र फिर जपे। इससे जो हजार जप में कमी हुई होगी तो उस की पूर्त्ति होगी और जो हजार जप से अधिक हुआ, तो इससे सहस्रजप दूषित न होगा। उसी प्रकार सद्वासना के अधिक अभ्यास करने से कोई हानि नहीं, किन्तु सद्वासना की दृढता ही होती है।

"अव्युत्पन्नमना यावद् भवानज्ञाततत्पदः।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना॥
यदति शुभमार्यसेवितं त-
च्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या।
अधिगमय पदं यदद्वितीयं
तदनु तदप्यवमुच्य सधु तिष्ठ" इति।

स्पष्टोऽर्थः। तस्माद्योगाभ्यासेन कामाद्यभिभवसम्भवाज्जीवन्मुक्तौ न विवदितव्यम्।

इति जीवन्मुक्तिस्वरूपम्।

अर्थः— जब तक तुम को बोध का उदय हो कर परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार न हो तब तक गुरु और शास्त्र प्रमाण द्वारा निर्णीत शुभवासना का अभ्यास करो । उस को करने से तुम या जिस के अन्तःकरण का मल नाश हो गया है, और जिस को आत्मसाक्षात्कार हुआ हैं, उन को सब वृत्तियों के निरोध के अभ्यास में प्रवृत्त रहकर शुभवासना को भी त्यागना योग्य है । जो अति शुभ फल देने वाला और आर्य्यों से सेवित है, उस शुभाचरण को अनुसरण कर शुद्ध हुई बुद्धि द्वारा उस अद्वितीय पद को तुम प्राप्त करो । पीछे उस शुभ अभ्यास को भी छोड कर भली भांति स्वरूप में स्थिर रहो ।

इस प्रकार योगाभ्यास से कामादिवृत्तियों का निरोध होना सम्भव है । अत एव जीवन्मुक्ति में विवाद करना उचित नहीं ।

इसभांति जीवन्मुक्तिस्वरूपका निरूपण समाप्त हुआ ।

श्रुतिस्मृतिवाक्यानि जीवन्मुक्तिसद्भावे प्रमाणानि । तानि च कठवल्ल्यादिषु पठ्यन्ते— "विमुक्तश्च विमुच्यते" इति । जीवन्नेव दृष्टबन्धात् कामादेर्विशेषेण मुक्तः सन् देहपाते भाविबन्धाद्विशेषेण मुच्यते । वेदनात्प्रागपि शमदमादिसम्पादनेन कामादिभ्यो मुच्यत एव, तथाऽप्युत्पन्नानां कामादीनां तत्र प्रयत्नेन निरोधः । अत्र तु धीवृत्त्यभावादनुत्पत्तिरेव ततो विशेषेणेत्युच्यते । तथा प्रलये देहपाते सति कश्चित्कालं भाविदेहबन्धान्मुच्यते । अत्र त्वात्यन्तिको मोक्ष इत्यभिप्रेत्य

विशेषेणेत्युक्तम् । बृहदारण्यके पठ्यते ।

अर्थः—जीवन्मुक्ति के सद्भाव में श्रुति और स्मृतियों के प्रमाण हैं । –(विमुक्तश्च०) वे प्रमाण कठवल्ली आदिक उपनिषदों में पढे हैं ।

जीवितही दशा में काम आदिक प्रत्यक्षबन्धनों से मुक्त-होने पर देहत्याग के अनन्तर भावी (होनेवाले) बन्धनों से भी विशेषकर मुक्त होता है । यद्यपि ज्ञान होने के पूर्व भी शम दमादिक साधनों को सम्पादनकर मुमुक्षु अधिकारी कामादिकों से मुक्त होता है, तथापि उसको एक समय प्रयत्न पूर्वक निरोध करना पडता है । और जीवन्मुक्त दशा में तो अन्तःकरण की वृत्तियों के अभाव से कामादिक वृत्तियां उदय होने में असमर्थ रहती हैं, अत एव 'विशेषकर मुक्त होता है' ऐसा श्रुति कहती है । प्रलय काल में देह पात के अनन्तर अमुक काल पर्यन्त भावि देहरूप बन्धन से मुक्त रहता है, और विदेह मुक्ति पीछे तो आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत एव श्रुतिमें 'विमुच्यते' (विशेष कर मुक्त होता है) ऐसा कथन किया है ।

बृहदारण्यक में लिखा है कि—

"यदा सर्वे प्रमुच्यते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" ॥

श्रुत्यन्तरेऽपि–

"स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव" इति ।

एवं मन्यत्राप्युदाहार्यम् । स्मृतिषु जीवन्मुक्त-स्थितप्रज्ञ-भगवद्भक्त-गुणातीत–ब्राह्मणा-ति-वर्णाश्रमादिनामभिस्तत्र तत्र व्यवह्रियते ।

वासिष्ठरामसम्वादे "नृणां ज्ञानैक निष्ठानाम्" इत्यारम्भ " सत्किञ्चिदवशिष्यते " इत्यन्तेन ग्रन्थेन जीवन्मुक्तः पठ्यते । वासिष्ठः—

अर्थः—जब इस अधिकारी पुरुष के हृदय में स्थित सब कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, उस समय यह जीव (पूर्व-अज्ञ अवस्था में मरणधर्मवाला रहता है,) अमृत नाम मरण रहित हो जाता है और जीवित ही दशा में ब्रह्म को प्राप्त होता है अन्य श्रुति में भी कहा है । नेत्रवाला होकर नेत्र हीन की नाईं, कर्ण इन्द्रियवाला होकर कर्णहीन की नाईं, मनवाला होकर मनहीन की नाईं (जीवन्मुक्त पुरुष होजाता है) अर्थात् उस की वृत्तियां इन्द्रियों द्वारा अपने २ विषयों का अनुसन्धान नहीं करतीं, जिस से वह इन्द्रियवाला होने परभी इन्द्रिय रहित का सा प्रतीत होता है ।इस के सिवाय अन्य श्रुतियों को भी दृष्टान्तरूप सें लेनी । स्मृतियों मे जीवन्मुक्त पुरुष को जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, गुणातीत, ब्राह्मण, और अतिवर्णाश्रमी, आदिक विविध संज्ञाओं से कथन किया है । योगवासिष्ठ में वसिष्ठ राम के सम्वाद में ' नृणां ज्ञानै० " से लेकर ' सत्किञ्चि० " इस श्लोक तक जीवन्मुक्त की अवस्था का वर्णन किया है । वसिष्ठ जी बोले—

"नृणां ज्ञानैकनिष्ठाना मात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहोन्मुक्ततेव या" ॥

ज्ञानैकनिष्ठत्वं लौकिकवैदिककर्मत्यागः । देहेन्द्रियसदसद्भावमात्रेण मुक्तिद्वयस्य विशेषो न त्वनुभवतः । द्वैतप्रतीतेरुभयत्राभावात् । श्रीरामः—

अर्थः—लौकिक, वैदिक कर्मों का त्यागपूर्वक केवल ज्ञान-

निष्ठ और आत्मविचार परायण पुरुष को जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है जो विदेहमुक्त दशा के समान है।

जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति में केवल इतना ही भेद है कि जीवन्मुक्त पुरुष को अन्य की दृष्टि में देहेन्द्रियादिक विद्यमान है, और विदेहमुक्त को नहीं। परन्तु दोनोंके अनुभव में कोई भेद नहीं है। द्वैत की अप्रतीति दोनों ही में समान है।

श्रीरामजी बोले—

"ब्रह्मन् विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।
ब्रूहि येन तथैवाऽहं यते शास्त्रगया दृशा"॥

अर्थः—हे ब्रह्मन्! विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त का लक्षण कहो। जिस को सुनकर शास्त्र से प्राप्त ज्ञान द्वारा उस पद की प्राप्ति के लिये मैं यत्न करूं।

वसिष्ठः—

"यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते"

इदं प्रतीयमानं गिरिनदीसमुद्रादिकं जगत्प्रतिपत्तुर्देहेन्द्रियव्यवहारेण सह महाप्रलये परमेश्वरेणोपसंहृतं सत्स्वरूपोपमर्दनास्तं गतं भवति, अत्र तु न तथा, किंतु विद्यत एव देहेन्द्रियादिव्यवहारः। गिरिनद्यादिकं चेश्वरेणानुपसंहृतत्वा यथापूर्वमवतिष्ठमानं सत्सर्वैरन्यैः प्राणिभिर्विस्पष्टमवलोक्यते। जीवन्मुक्तस्य तत्प्रत्यायकवृत्त्यभावात् सुषुप्ताविव सर्वमस्तं गतं भवति। स्वयंप्रकाशमानं चिद्व्योम केवलमवशिष्यते। बद्धस्य सुषुप्तौ तात्कालिकवृत्त्यभावसाम्येऽपि

भाविधीवृत्तिर्बीजसद्भावान्न जीवन्मुक्तत्वम् ।

अर्थः—वसिष्ठ जी बोले–देह इन्द्रियद्वारा व्यवहार करते हुए जिस जीवन्मुक्त पुरुष को यह नामरूपात्मक जगत् ज्योंका त्यों होने पर भी, वह नाश होजाने के समान केवल चिदाकाश ही भासता है, जगत् की प्रतीति नहीं होती, उस को जीवन्मुक्त कहते हैं ।

यह प्रतीयमान पर्वत, नदी, समुद्रादि अनेक पदार्थों का समुदायात्मक जगत् जिस भांति प्रलय समय में उस को जानने वाले जीव के देहेन्द्रियादिक के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है वैसा स्वरूप रहता नहीं, उस भांति जीवन्मुक्त दशा में नहीं होता । किन्तु देह इन्द्रिय आदि का व्यवहार रहता ही है तथा नामरूप जगत् भी ईश्वर द्वारा नष्ट न होने से उस को अन्य सब प्राणि-गण स्पष्ट देख सकते हैं । परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को जगत् की प्रतीति करानेवाली वृत्तियों का अभाव होने से सुषुप्ति के तुल्य अस्त गत होता है । उस को तो शेष केवल स्वयंप्रकाश चिदा-काश ही स्थित है । तात्कालिक वृत्तियों का अभाव तो सुषुप्ति में बद्धजीवों को भी होता है परन्तु सुषुप्ति से उत्तर काल में उदय होने वाली वृत्तियों का बीज सुषुप्ति में विद्यमान होने से बद्ध पुरुष की गणना जीवन्मुक्त में नहीं होती ।

"नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखैर्मुखप्रभा ।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते"॥

मुखप्रभा हर्षः।स्रक्चन्दनसत्कारादिसुखे प्राप्तेऽपि संसारिण इव हर्षो नोदेति।मुखप्रभास्त-मयो दैन्यम्।धनहानिधिक्कारादिदुःखे प्राप्तेऽपि न दीनो भवति।इदानींतनस्वप्रयत्नविशेषमन्त-

रेण प्रारब्धकर्मोपादितपूर्वप्रवाहागतभिक्षान्ना-दिकं यथाप्तं तस्मिन् स्थितिर्देहरक्षा । समा-धिदार्ढ्येन स्रक्चन्दनादिप्रतीत्यभावात् । क-दाचिद्व्युत्थानदशायामापाततः प्रतीतावपि विवेकदार्ढ्येनैव हेयोपादेयत्वबुद्ध्यभावाद्धर्षा-दिराहित्यमुपपद्यते ।

अर्थः—सुखदुःख के कारण जिस के मुखपर हर्ष विषाद के चिन्ह प्रतीत न हों, और यथाप्राप्त पदार्थों के ऊपर जिस की स्थिति होती है, उस का नाम जीवन्मुक्त है । 'मुखप्रभा' अर्थात् हर्ष । स्रक्, चन्दन, सत्कार आदिक अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति से संसारी जीवों के समान जिस के चित्त में हर्ष का उदय नहीं होता, तथा धनहानि, धिक्कार आदि दुःख प्राप्त होने पर भी जिस के मुख पर मलिनता नहीं होती, अर्थात् जिस के मुख पर दीनता का चिन्ह प्रतीत नहीं होता तथा वर्तमान शरीर द्वारा प्रयत्न किये विना प्रारब्ध द्वारा प्राप्त भिक्षान्न आदिक पर जिस के शरीर का निर्वाह होता, वह जीवन्मुक्त पुरुष है ?। इस पुरुष को समाधि में लौ वृत्तियों के अभाव होने से कोई श्रद्धावान् पुरुष उस का अर्चन करे तो भी उस का उस को भान नहीं होता, और समाधि से भिन्न व्युत्थान काल में यद्यपि उस को भान होता है, परन्तु उस समय भी उस का विवेक इतना दृढ रहता है जो किसी वस्तु में उस को हेय उपादेय बुद्धि नहीं होती जिस से उस को हर्षविषादादि रहितभाव सम्भव होता है ।

"यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते" ॥

चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वस्वगोलकेष्ववस्थानेनो-

परत्यभावाज्जागर्ति । मनोवृत्तिरहितत्वात्सुषुप्तिस्थः । अत एवेन्द्रियैरर्थोपलब्धिरित्येतस्य जागरणलक्षणस्याभावाज्जाग्रन्न विद्यते । सत्यपि बोधे जायमानो ब्रह्मवित्त्वाभिमानादिर्भोगार्थापादितकामादिश्च धीदोषः वासना वृत्तिराहित्येन तद्दोषाभावान्निर्वासनत्वम् ।

अर्थः—जो जाग्रत् अवस्था में रहता हुआ सुषुप्ति में स्थित है, जिस को जाग्रत् अवस्था नहीं, तथा जिस को वासना रहित ज्ञान है, उस को जीवन्मुक्त पुरुष कहते हैं । चक्षु आदिक इन्द्रियों के अपने २ गोलकों में स्थित होनेसे वह जाग्रत अवस्था को अनुभव करता है, तथापि मन वृत्ति, रहित होनेसे सुषुप्ति में स्थित है इसी कारण से इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञानरूप जाग्रत् अवस्था का जिस को अभाव है । ब्रह्मवित् पन के होने पर भी ब्रह्मवित्पन के अभिमानादि, विषयभोग निमित्त उत्पन्न कामादि द्वारा अन्तःकरण के दोष के वासना वृत्तियों के रहित पन से उस के दोष के अभाव से जिस को वासनारहित ज्ञान है उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

" रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते"॥

रागानुरूप्यं भोजनादिप्रवृत्तिः । द्वेषानुरूप्यं बौद्धकापालिकादिभ्यो विमुखत्वम् । भयानुरूप्यं सर्पव्याघ्रादिभ्योऽपसर्पणम् । आदिशब्देन मात्सर्यादि । मात्सर्यानुरूपमितरयोगिभ्य आधिक्येन समाध्याद्यनुष्ठानम् । सत्यपि व्युत्थानदशाया मीदृश आचरणे पूर्वाभ्या-

सेन प्रापिते विश्रान्तचित्तस्य कालुष्यर-हितत्वादन्तःस्वच्छत्वम्। यथा व्योम्नि धूम-धूलिमेघादियुक्तेऽपि निर्लेपस्वभावत्वादति-शयेन स्वच्छत्वं तद्वत्।

अर्थः— राग, द्वेष, भय आदिक के अनुकूल बर्त्ताव कर-पर भी जो अन्तर में आकाश की नाईं अत्यन्त निर्मल है। उ-जीवन्मुक्त कहते हैं।

भोजनादि में प्रवृत्ति यह राग की अनुकूलता है, बौद्ध का-पालिक आदिकों से विमुखता यह द्वेष की अनुकूलता है, स-व्याघ्रादि से डर कर भागना यह भय की अनुकूलता है। आ-दिशब्द से मात्सर्यादिको लेना चाहिये। एक योगी के दूस-योगीसे अधिकतर समाधि आदिका अनुष्ठान करना यह मा-त्सर्य की अनुकूलता है। विश्रान्तचित्त वाले पुरुष को, व्यु-त्थान अवस्था में बहुतदिनों के पहिले के अभ्यास के कार-ऐसा आचरण प्राप्त होने पर भी जैसे आकाश, धूम, धूलि, मेघ-आदिकों से आच्छन्न होने परभी अपने निर्लेपस्वभाव से स्वच्छ-है इसी प्रकार उस का अन्तःकरण रागादि मल से रहित होने-से अत्यन्त निर्मल होता है।

“यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते॥

पूर्वार्द्धं विद्वत्संन्यासप्रस्तावे व्याख्यातम्। लोके बद्धस्य पुरुषस्य शास्त्रीयकर्म कुर्वतोऽहं कर्तेति तदा चिदात्माऽहंकृतोभवति। स्वर्गं प्राप्स्यामीति हर्षेण बुद्धिर्लिप्यते। अकुर्वत-स्तु त्यक्तवानस्मीत्यहंकृतत्वं। स्वर्गालाभ-

विषादादिर्लेपः । एवं प्रतिषिद्धकर्मणि लौकिककर्मणि च यथासम्भवं योजनीयम् । जीवन्मुक्तस्य तु तादात्म्याध्यासाभावाद्धर्षाद्यभावाच्च न दोषद्वयम् ।

अर्थः— विहित (कर्त्तव्य) या प्रतिषिद्ध (अकर्त्तव्य) कर्मों के करने पर भी जिस का आत्मा अहङ्कार से तादात्म्यके अध्यास से आच्छादित नहीं, और जिस की बुद्धि हर्ष विषादादि लेप रहित है, उस को जीवन्मुक्त कहते है ।

लोक में बद्ध पुरुष शास्त्रीय कर्म करता है, उस समय " मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ " इस प्रकार उस के भीतर अहङ्कार उपजता है, तथा " मैं स्वर्गसुख को पाऊँगा, ऐसे हर्षरूप लेप को भी वह प्राप्त होता है । और जिस समय शास्त्रीय कर्म नहीं करता उस समय " मैनें सत्कर्मों का त्याग किया " ऐसे अभिमान के वश होता है । और 'अरे अब मुझे स्वर्गसुख प्राप्त नहीं होगा' इस प्रकार के भेद रूप लेप को प्राप्त होता है । इस भांति निषिद्ध और लौकिक कर्मोंके सम्बन्धमें भी यथायोग्य योजना कर लेनी । जीवन्मुक्तपुरुष को तो अहंकार के साथ तादात्म्याध्यास न होने से और हर्षादि दोष के अभाव के कारण उस में पूर्वोक्त दोनो दोष होते नहीं ।

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च'यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते" ॥

अधिक्षेपताडनादावप्रवृत्तादेतस्माल्लोको नोद्विजते । अत एवैतस्मिँल्लोकस्याधिक्षेपाद्यप्रवृत्तेः कस्य चिदुदुष्टस्य तत्प्रवृत्तावप्येतच्चित्ते तादृशविकल्पानुदयाच्चायमपि नोद्विजते ।

अर्थः— जिस तत्त्ववेत्ता पुरुष से कोई प्राणी सन्ताप को प्राप्त नहीं होता और विना अपराध दुःख देनेवाले प्राणियों से जो दुःख को नहीं पाता और जिस ने हर्ष, अमर्ष, भय उद्वेग इन चारों का परित्याग किया है उसे जीवन्मुक्त करते हैं।

स्वयं अन्यों के धिक्कार, ताडनादि में प्रवृत्त न होने से, अन्यलोग इस तत्त्ववेत्ता पुरुष से भय नहीं करते। इसी कारण लोगों की ताडनादि ऐसे पुरुष पर नहीं होता, कदाचित् किसी दुष्ट की प्रवृत्ति हो भी जाती है तथापि उस के चित्त में तिरस्काराादि विकल्पों के अनुदय होने से, जो किसी से भय नहीं करता, तथा हर्ष क्रोध, भयादि से जो मुक्त है, वह जीवन्मुक्त है।

"शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते"॥

शत्रुमित्रमानावमानादिविकल्पाः संसारकलनाः शान्ता यस्य सः। चतुःषष्टिविद्याः कलाः, तत्सद्भावेऽपि तदभिमानव्यवहारयोरभावान्निष्कलत्वम्। चित्तस्य स्वरूपेण सद्भावेऽपि वृत्त्यनुदयान्निश्चित्तत्वम्। चिन्तेति पाठे वासनावशादात्मध्यानवृत्तिसद्भावेऽपि लौकिकवृत्त्यभावान्निश्चिन्तत्वम्।

अर्थः— शत्रु, मित्र, और मान अपमानादि विकल्प जिस के चित्त में से शान्त हो गये हैं, जो विद्या कलादि में कुशल होने पर भी उस के ज्ञान के कारण अभिमान न करने से तथा उस के उपयोग न करने से विद्याकलादि ज्ञान रहित की नाईं है, और जिस का चित्त विद्यमान रहता हुआ वृत्तिरहित होने से विना चित्त का है, वह जीवन्मुक्त है।

"यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते:" ॥
परगृहे विवाहोत्सवादौ स्वयं गत्वा तत्प्रीत्यै तदीयकार्येषु व्यवहरन्नपि लाभालाभयोर्हर्ष-विषादरूपं बुद्धिसन्तापं न प्राप्नोति । एवमयं मुक्तः स्वकार्येऽपि शीतलः । न केवलं सन्ता-पाभावाच्छीतलत्त्वं किन्तु परिपूर्णस्वरूपानु-सन्धानादपि ॥

इति जीवन्मुक्तलक्षणम् ।

अथ विदेहमुक्तलक्षणम्—

अर्थः—जो सब पदार्थ सम्बन्धी व्यवहार करता हुआ भी अन्यों के लिये व्यवहार करता है, ऐसा व्यवहार करने से शी-तल चित्तवाला है, उसी प्रकार जो पूर्ण आत्मा के अनुसन्धान में निरन्तर लिप्त रहता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

जैसे कोई पुरुष अन्य के घर विवाहादि उत्सव में जाकर घर के मालिक की प्रसन्नता रखने के लिये उस के कार्यों में भाग लेता हुआ भी उस को इस कार्य्य से लाभ या हानि हो तो, स्वयं हर्ष विषाद रूप सन्ताप युक्त होता नहीं इसी प्रकार यह मुक्त पुरुष भी अपने कार्य्यों में शीतल अन्तःकरण वाला रहता है अर्थात् हर्ष विषाद रहित रहता है । हर्ष विषाद के अभाव से ही केवल अन्तःकरण में शीतलता रहती है नहीं, किन्तु सर्वत्र पूर्णस्वरूप के अनुसन्धान के प्रभाव से भी अन्तःकरण की शी-तलता मुक्त पुरुष अनुभव करता है ।

जीवन्मुक्तका लक्षण समाप्त हुआ ।

अब विदेह मुक्त का लक्षण कहते हैं—

"जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव" ॥

यथा वायुः कदाचिच्चलनं त्यक्त्वा निश्चलरूपेणावतिष्ठते तथा मुक्ताऽऽत्माऽप्युपाधिधिकृतसंसारं त्यक्त्वा स्वरूपेणावतिष्ठते ।

अर्थः— अपनी शरीर को काल के अधीन होने पर मुक्त पुरुष, जिस प्रकार चलता वायु कभी २ निष्पन्द (स्थिर) अवस्था को धारण कर लेता उसी प्रकार जीवन्मुक्त पद को छोडकर विदेहमुक्ति में प्रवेश करता है । जैसे किसी समय वायु अपने चलन रूप व्यापार को साग के निश्चल रूप में स्थिति करता है ।

"विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः" ॥

उदयास्तमयौ हर्षविषादौ । न शाम्यति नच तत्परित्यागी लिङ्गदेहस्यात्रैव लीनत्वात् । सद्वाच्यो जगद्धेतुरविद्या मायोपाधिर्न प्राज्ञेश्वरः । असद्वाच्यो नापि भूतभौतिकः । न दूरस्थ इत्युक्त्वा न मायातीतः । न चेत्युक्त्वा स्थूलभुक्समीपस्थत्वं निषिध्यते । अहं न चेति समष्टिश्च । नेतर इति न व्यष्टिश्च । व्यवहारयोग्यो विकल्पः कोऽपि नास्तीत्यर्थः ।

अर्थः—विदेहमुक्त पुरुष, हर्ष विषाद रूप उदय और अस्त को प्राप्त नहीं होता । उसी प्रकार उस का परित्यागी भी नहीं है, क्योंकि लिङ्गदेह स्थूल शरीर के साथ ही लय पा जाता है ।

वह सवरूप नहीं अर्थात् जगत् का कारण अविद्या और माया उपाधि विशिष्ट प्राज्ञ और ईश्वर रूप नहीं, उसी तरह असत् अर्थात् भूत और उस का कार्यरूप नहीं, माया से अतीत नहीं, तथा समष्टि, वैसा ही व्यष्टि शरीर के व्यवहार के योग्य कोई भी विकल्प उस में नहीं ।

"ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते" ॥

एवंविधया विदेहमुक्त्या सदृशत्वोत्कर्षत्वोक्तेर्जीवन्मुक्तावपि यावद्यावन्निर्विकल्पातिशयस्तावत्तावदुत्तमत्वं द्रष्टव्यम् । भगवद्गीतासु द्वितीयाध्याये स्थितप्रज्ञः पठ्यते ।

अर्जुन उवाच—

अर्थः—उस समय, निश्चल, गम्भीर, अर्थात् मन से भी जाना न जा सके ऐसा, प्रकाश नहीं, वैसे तम से भी विलक्षण, व्याप्त, वाणी का विषय नहीं, तथा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न होसकने योग्य, तैसा अनिर्वचनीय सत्, अवशेष रहता है। इस प्रकार की विदेहमुक्ति के तुल्य जीवन्मुक्ति की गणना कर उस की श्रेष्ठता बताता है, अतएव जीवन्मुक्ति दशामें भी जितने अंश में अन्तःकरण की निर्विकल्पता की अधिकता होती उतने अंश में उस दशा की उत्तमता समझनी चाहिये। भगवद् गीता के २ रे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहा है।

अर्जुन बोले—

"स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव? ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्" ॥

प्रज्ञा तत्त्वज्ञानम् । तद्द्विविधम् । स्थितम-

स्थितं चेति । यथा जारेऽनुरक्तनार्याः सर्वेष्वपि व्यवहारेषु बुद्धिर्जारमेव ध्यायति, प्रमाणप्रतीतानि क्रियमाणान्यपि गृहकर्माणि सद्य एव विस्मर्यन्ते, तथा परवैराग्योपेतस्य योगाभ्यासपाटवेनात्यन्तवशीकृतचित्तस्योत्पन्ने तत्त्वज्ञाने तद्बुद्धिर्जारमिव नैरन्तर्येण तत्त्वं ध्यायति तदिदं स्थितप्रज्ञानम् । उक्तगुणरहितस्य केनापि पुण्यविशेषेण कदाचिदुत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने गृहकर्मवत्तन्नैव तत्त्वं विस्मर्यते तदिदमस्थितं प्रज्ञानम् । एतदेवाऽऽभिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

अर्थः— समाहित स्थितप्रज्ञ और व्युत्थित (समाधि में से उठा हुआ) स्थितप्रज्ञ यों कालभेद से दो प्रकारका स्थितप्रज्ञ है। इन में से समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ पुरुष उस के लक्षण को बोधन कराने वाले कैसे शब्दों से व्यवहार करता है ? और वह व्युत्थित स्थितप्रज्ञ वाणी का कैसा व्यवहार करता है ? तथा किस भांति वह बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करता है ? उसी तरह किस प्रकार वह इन्द्रियों के निग्रह काल के अभाव में विषयों को प्राप्त होता है ?

प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) स्थिर और अस्थिर इस प्रकार दो प्रकार की है । जैसे जार पुरुष में प्रीति करने वाली नारी, घर के सब कामों को करती हुई भी बुद्धि द्वारा जार ही का चिन्तन किया करती है। तथा चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुए घर के कामों को करती है, जिस काम को प्रतिदिन किया करती उसे भी भूल जाया करती है । उसी प्रकार परवैराग्य

युक्त पुरुष, या जिनने (सद्गुरु के उपदेश से) योगाभ्यास की पटुता से चित्त को अत्यन्त वश कर लिया है, उस की बुद्धि, तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर जार में अनुरक्त नारी के समान परमात्मा का निरन्तर ध्यान किया करती है। अत एव उस की प्रज्ञा स्थित है, परन्तु जिस में उक्त गुण नहीं, ऐसे पुरुष को कदाचित् किसी पुण्य विशेष से तत्त्वज्ञान हो भी जाता है। उस को व्यभिचारिणी स्त्री के गृह कार्यों के विस्मरण के समान तत्त्वज्ञान का विस्मरण हो जाता है, इस लिये उस की प्रज्ञा अस्थिर है। यह बात वसिष्ठ ने भी कही है—

"परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्"॥
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि"॥ इति।

तत्र स्थितप्रज्ञः कालभेदाद्द्विविधः। समाहितो व्युत्थितश्च। तयोरुभयोर्लक्षणं पूर्वोत्तराभ्यामर्द्धाभ्यां पृच्छति— समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, कीदृशैर्लक्षणवाचकैः शब्दैः सर्वैरयं भाष्यते, व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः कीदृशं वाग्व्यवहारं करोति, तस्योपवेशन गमने मूढेभ्यो विलक्षणे कीदृशे।

श्रीभगवानुवाच—

अर्थः— जार (यार) के साथ फँसी हुई नारी अपने घर के कामों में व्यग्र होने पर भी जैसे पुरुष के साथ भोगादि जनित सुख का ही मन में अनुभव किया करती है। इसी प्रकार परमशुद्धतत्त्वज्ञान होने पर धीर विवेकी पुरुष विश्रान्ति को

पाकर बाहरी कामों को करते हुए भी अपने अन्तःकरण में उसी परमतत्त्व का अनुभव किया करता है। तहां कालभेद से स्थित-प्रज्ञ दो प्रकार का है एक समाहित, दूसरा व्युत्थित। उन दोनों का लक्षण पूर्वोक्त आधे श्लोक द्वारा अर्जुन ने पूछा है। समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की भाषा, अन्य साधारणपुरुषों की अपेक्षा कैसी होती है? किस रीति के लक्षण वाचक शब्दों से सब से यह कहा जाता है (अर्थात् लोग इसे क्या कह कर व्यवहार करते हैं) व्युत्थितस्थितप्रज्ञ किस रीति का वाग्व्यवहार करता है? उस का बैठना, चलना, अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा कैसा विलक्षण हैं?

इस पर श्री कृष्ण जी उत्तर देते हैं—

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञ स्तदोच्यते"॥

कामास्त्रिविधाः बाह्या आन्तरा वासनामात्ररूपाश्चेति। उपार्जितमोदकादयो बाह्या, आशामोदकादय आन्तराः, पथिगततृणादिवदापाततः प्रतीता वासनारूपाश्च। समाहिताऽशेषधीवृत्तिसंक्षयात्सर्वान्परित्यजति। अस्ति चास्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः सन्तोषः। स च न कामेषु किं त्वात्मन्येव, कामानां सक्तत्वात्। बुद्धेः परमानन्दरूपेणाऽऽत्माभिमुखत्वाच्च। नचात्र संप्रज्ञातसमाधाविवाऽऽत्मानन्दो मनोवृत्त्योल्लिख्यते किन्तु स्वप्रकाशचिद्रूपेणाऽऽत्मना। सन्तोषश्च न वृत्तिरूपः किन्तु तत्संस्काररूपः। एवं विधैर्लक्ष-

णवाचकैः शब्दैः समाहितो भाष्यते ।

अर्थः— अर्जुन ? जिस समय वह समाधिस्थ पुरुष अपने मन में स्थित सब कामनाओं का परित्याग करता और अपने आत्मा में (वृत्ति रहित चित्त में) आत्मा द्वारा सन्तोष को प्राप्त होता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। काम तीन प्रकार का है। बाह्य, आभ्यन्तर, और वासनारूप। इन में से अपने प्रयत्न पूर्वक उपार्जित मोदक आदिक पदार्थ बाह्य काम की गणना मे हैं, जो मोदकादि पदार्थ उपार्जित तो नही हैं परन्तु आशारूप से अन्तः-करण में स्थित हैं यह आशा मोदकादि आभ्यन्तर काम हैं। तथा मार्ग में पड़ी घास आदिक पदार्थ (विना इच्छा के इन पर दृष्टि पड ही जातीहै) के समान रागद्वेषशून्य दृष्टि से प्रतीत हुए भोग्य पदार्थ केवल "वासनारूप काम" की गणना में हैं। समाधि-स्थ पुरुष अन्तःकरण की सारी वृत्तियों के क्षय के कारण सब कामों का त्याग कर देता हैं। यद्यपि इस के चेहरे पर की प्रसन्नता का चिन्ह ऊपर से उसके अन्तःकरण में सन्तोषरूप वृत्ति का स्फुरण रहता सा भासताहैं, परन्तु वह काम में सन्तोष नहीं है। क्यों कि, कामनाओं का तो उस ने त्याग ही कर दिया है तथा उस की वृत्ति परमानन्दरूप में आत्मा के ही अभिमुख रहती है। जैसे संप्रज्ञात समाधि में आत्मानन्द मनो-वृत्ति द्वारा अनुभव करता है वैसा असम्प्रज्ञात समाधि में नही होता है। उस में तो स्वयं प्रकाश चैतन्य, आत्मरूप द्वारा अनु-भव होता है, और वह सन्तोष वृत्ति जन्य नहीं है, किन्तु वृत्ति का संस्कार रूप है। इस प्रकार के लक्षण वाचक शब्दों से स-माधिस्थ पुरुष का कथन किया जाता है॥

" दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते" ॥

दुःखं रागादिनिमित्तजन्या रजोगुणविकाररूपा सन्तापात्मिका प्रतिकूला चित्तवृत्तिः। तादृशे दुःखे प्राप्ते सत्यहं पापी धिङ्मां दुरात्मानमित्यनुतापात्मिका तमोगुणविकारत्वेन भ्रान्तिरूपा चित्तवृत्तिरुद्वेगः । यद्यप्ययं विवेक इवाऽऽभाति तथाऽपि पूर्वस्मिञ्जन्मनि चेत्तत्पापप्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात्सप्रयोजनो भवति । इदानीं तु निष्प्रयोजन इति भ्रान्तित्वं द्रष्टव्यम्। सुखं राजपुत्रलाभादिजन्या सात्त्विकी प्रीतिरूपाऽनुकूला चित्तवृत्तिस्तस्मिन्सुखे सत्यागामिनस्तादृशस्य सुखस्य कारणं पुण्यमनुष्ठाय वृथैव तदपेक्षा तामसी वृत्तिः स्पृहा। तत्र च सुखदुःखयोः प्रारब्धकर्मप्रापितत्वाद्व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिसंभवाच्च तदुभयं समुत्पद्यते। उद्वेगस्पृहे तु न विवेकिनः संभवतः। तथा रागभयक्रोधाश्च तामसत्वेन कर्मप्रापितत्वाभावान्नास्य विद्यन्ते। एवंलक्षणलक्षितः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिस्पृहत्वादिगमकं वचो भाषत इत्यभिप्रायः ।

अर्थः—जो दुःखों में उद्विग्न नहीं होता, सुखों में आसक्त नहीं, और प्रीति भय तथा क्रोध को जिसने त्याग दिया है, वह मुनि (मनन शील) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

रागादि निमित्त से उत्पन्न रजोगुण का कार्यरूप सन्ता-

कार प्रतिकूल चित्तवृत्ति का नाम दुःख है । ऐसे दुःख प्राप्त होनेपर " अरे मैं पापी हूं, मुझे दुरात्मा को धिक्कार हैं " ऐसी तमोगुण जन्य वृत्ति होने से भ्रान्तिरूप जो पश्चात्तापवाली चित्त की वृत्ति उस को उद्वेग कहते हैं । यद्यपि यह उद्वेग सामान्य-दृष्टि से विवेक के तुल्य भासता है, तथापि यदि वह पूर्वजन्म में पाप में प्रवृत्ति करने से हुआ है तो पाप में प्रतिबन्धक होने से सफल होता । परन्तु वर्त्तमान जन्म में प्रयोजन वाला न होने से वह भ्रान्तिरूप है । राज्य, पुत्र, गृह, क्षेत्र, आदि के लाभ से उत्पन्न सात्त्विक प्रीतिरूप अनुकूल वृत्ति को सुख कहते हैं । ऐसे सुख मिलने पर ' भविष्यत् में भी मुझ को यह सुख मिले तो ठीक है' ऐसी—सुख के कारण धर्म का आचरण किये विना केवल वृथा इच्छारूप तामसी वृत्ति को स्पृहा कहते हैं। तहां सुख दुःख को प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध कर्म है, और समाधि में से जाग्रत् होने अनन्तर, वृत्ति भी बाहर उदय पाती है, अतः एव यद्यपि उस को प्रारब्ध वश से सुख दुःख तो होता हैं, किंतु विवेकी पुरुषको तज्जन्य उद्वेग और स्पृहा सम्भव नहीं होती उसी प्रकार तमोगुण का कार्य राग है, भय और क्रोध प्रारब्ध का फलरूप न होने से उस में नहीं है । इस प्रकार का लक्षण-वाला स्थितप्रज्ञ है, शिष्य को उपदेश देने के लिये अनुद्वेग भाव और निःस्पृहता आदिक आपे में विद्यमान दैवी सम्पत्तियों के बोधक वचनों के उच्चारण पूर्वक अपना अनुभव प्रकट करता है । यह " स्थितधीः किं प्रभाषेत ? इस प्रश्न का उत्तर हुआ ।

"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥

यस्मिन्सत्यन्यदीये हानिवृद्धी स्वास्मिन्नारोप्येते तादृशोऽन्यविषय स्तामसवृत्तिविशेषः स्नेहः, सुखहेतुस्वकलत्रादिशुभवस्तुगुणकथनादिप्रवर्त्तिका धीवृत्तिरभिनन्दः। अत्र गुणकथनस्य परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्तद्धेतुरभिनन्दस्तामसः। असूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्यादिरेनं प्रत्यशुभो विषयः। तन्निन्दाप्रवर्त्तिका बुद्धिप्रवृत्तिर्द्वेषः सोऽपि तामसः। तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्। त एते तामसा धर्माः कथं विवेकिनि सम्भवेयुः।

अर्थ—जो विद्वान् सर्वत्र स्नेह से रहित है, और अनुकूल पदार्थ पाकर आनन्द, में प्रतिकूलपदार्थ पाकर दुःख में, मग्न नहीं होता उस की बुद्धि स्थिर हुई है।

जिस के विद्यमान हुए अन्य वस्तु की हानि वृद्धि आपे में आरोपित कियी जावे ऐसी जो उस अन्यवस्तुविषयक अन्तःकरण की तामस वृत्ति विशेष उस का नाम स्नेह है। सुख का साधनरूप अपनी स्त्री, पुत्रादिक वह शुभवस्तु है, तिन के गुणकथनादि में वाणी की जो प्रवृत्ति होती, उस का नाम 'अभिनन्द है (प्रशंसा)। अपने मुख से अपने स्त्री पुत्रादिकों की प्रशंसा करने से सुननवाले को उस प्रशंसा से स्त्री पुत्रादिकों पर प्रीति नहीं होती, अतएव वह व्यर्थ प्रशंसा तामस है। आपे में असूया प्रकट करने वाला होने से दुःख का कारणरूप अन्य की विद्यादि गुण अविवेकी को अशुभवस्तु रूप है। उस की निन्दा में प्रवृत्त कराने वाली वृत्ति का नाम द्वेष है। यह भी तमो-

गुण का ही कार्य है, क्योंकि निन्दा निवारण करने में असमर्थ होने से व्यर्थ है । सो ये स्नेहादिक तमोगुण के परिणाम होने से भला क्योंकर विवेकी पुरुष में सम्भव हो सकते ? होते ही नहीं ।

"यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"॥

व्युत्थितस्य समस्ततामसवृत्त्यभावः पूर्वश्लोकाभ्यामभिहितः । समाहितस्य तु वृत्तय एव न सन्ति कुतस्तामसत्त्वशङ्केत्यभिप्रायः ।

अर्थ—जैसे कच्छप अपने सब अङ्गों को समेट लेता वैसे जिस ने अप ने सब इन्द्रियों को विषयों से हटा लिया है उस की बुद्धि स्थिर हुई है ॥

समाधि से उठे हुए पुरुष में सब तामस वृत्तियों काअभाव रहता है यह बात उपरोक्त दो श्लोकोंके द्वारा कही गयी है और समाधिस्थ पुरुष को तो सब वृत्तियों का अभावहोने से उस में तामसवृत्ति के हो सकने की शङ्का ही सम्भव नहीं ।

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥"

प्रारब्धं कर्म सुखदुःखहेतून् कांश्चिद् विषयांश्चन्द्रोदयान्धकारादिरूपान् स्वयमेव सम्पादयति । अन्यांस्तु गृहक्षेत्रादीन् पुरुषोद्योगद्वारेण । तत्र चन्द्रोदयादयः पूर्णेनेन्द्रियसंहारलक्षणेन समाधिनैव निवर्तन्ते नान्यथा । गृहादयस्तु समाधिमन्तरेणापि निवर्तन्ते । आहरणमाहार उद्योगः । निरुद्योगस्य गृहा-

दिविषया निवर्तन्ते । रसस्तु न निवर्तते । रसो मानसी तृष्णा साऽपि परमानन्दरूपस्य परस्य ब्रह्मणो दर्शने सति स्वल्पानन्दहेतुभ्यो निवर्तते ।

"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयंलोकः" इति श्रुतेः ।

अर्थः—जिस ने विषयों को सेवन नही किया उस के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उन मे अभिलाष बना रहता है और स्थिर बुद्धि का तो पर ब्रह्मको देख वह रस अर्थात् विषयाभिलाष भी निवृत्त हो जाता है—प्रारब्धकर्म सुखदुःखका कारणरूप चन्द्रोदय अन्धकार आदिपदार्थ को आप ही रचता है उस में पुरुषार्थ की अपेक्षा नही और गृह क्षेत्र आदि कतिपय पदार्थों को पुरुष के उद्योग द्वारा उपजाता है । इन में चन्द्रोदयादि पदार्थ तो सब इन्द्रियों का निरोधरूप समाधि अवस्था से ही निवृत्ति पाता है अन्य उपाय से निवृत्त होता नही और गृह क्षेत्रादि तो समाधि विना भी उस के मिलने के लिये उद्योग त्याग ने से भी निवृत्त हो जाता है। परन्तु उस में से मानसी तृष्णा (अभिलाष) जाती नही परन्तु परमानन्दस्वरूप पर ब्रह्म के साक्षात्कार से तो तुच्छ सुख देने वाले विषयो में से वह अभिलाष भी निःशेष हो जाता है । क्योंकि—

"जिस पुरुष को इस परमानन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश आत्मा की प्राप्ति हो गई है, ऐसे हमको प्रजा का क्या प्रयोजन है ? इस भांति श्रुति तत्त्वज्ञानी पुरुष को अभिलाष का अभाव बोध कराती है ।

"यततोह्यपि कौन्तेय ? पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः"॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।
उद्योगत्यागब्रह्मदर्शनप्रयत्नं कुर्वतोऽपि का-
दाचित्कप्रमादपरिहाराय समाध्यभ्यासः ।
तदेतत् किमासीतेतिप्रश्नोत्तरम् ।

अर्थः—हे अर्जुन ! यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष को भी व्याकुल करने वाले इन्द्रियां बलात्कार से (उसके) मन को हर लेती हैं। उन सब इन्द्रियों को भलीभांति रोक के मुझ में विश्वास कर एकाग्र चित्त हो। क्योंकि, जिस की इन्द्रियां अपने अधीन है उस की बुद्धि स्थिर कही जाती है।

प्रवृत्ति के त्याग और ब्रह्मदर्शनार्थ प्रयत्न करने पर भी किसी समय प्रमाद हो जाता है उस के निरोध के लिये समाधिका अभ्यास करना आवश्यक है, यह 'किमासीत' वह इन्द्रियों का निग्रह किस भांति करता है ? इस प्रश्न का उत्तर हुआ॥

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृतिवि-
भ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति"।
असति समाध्यभ्यासे प्रमादप्रकार उपन्यस्तः।
सङ्गोध्येयविषयसंनिधिः। सम्मोहो विवेक-
पराङ्मुखत्वं। स्मृतिविभ्रमस्तत्वानुसन्धाना-
भावः। बुद्धिनाशो विपरीतभावनोपचयदो-
षेण प्रतिबद्धस्य ज्ञानस्य मोक्षप्रदत्वसाम-

र्थ्याभाव: ।

अर्थ:—जो पुरुष विषयों का चिन्तन करता उस की उन विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति होने से इच्छा होती और उस इच्छा के प्रतिबन्ध होने से क्रोध उत्पन्न होता, और क्रोध से अविवेक होता है, अर्थात् कर्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार नष्ट हो जाता है। अविवेक से स्मृतिका नाश होता स्मृति के नाश से बुद्धि नष्ट हो जाती और बुद्धिके नाश से सर्वस्व का नाश होता अर्थात् परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट होजाता है ॥

योगी जब समाधि का अभ्यास नहीं करता, उस समय उस को किस २ प्रकार कब २ कौन २ प्रमाद होते हैं यह बात उपरोक्त श्लोकों द्वारा दिखलायी गयी है । सङ्ग नाम ध्येय पदार्थ के साथ संयोग (सन्निकर्ष) । सम्मोह हित और अहित के ज्ञान का अभाव। स्मृति विभ्रम— नाम तत्त्व पदार्थ के खोज का भूलना । बुद्धिनाश—नाम विपरीत भावना की वृद्धिरूप दोष द्वारा प्रतिबन्ध होने से तत्त्वबुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती और उत्पन्न हुई बुद्धि की मोक्ष फल की प्राप्ति कराने में अयोग्यता होती है यही बुद्धिका नाश है ।

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति" ॥

विधेयात्मत्वं वशीकृतमनस्त्वं, प्रसादो नैर्मल्यं बन्धराहित्यम् । समाध्यभ्यासयुक्तस्तद्वासना बलाद् व्युत्थानदशायामिन्द्रियैर्व्यवहरन्नपि प्रसादं सम्यक् प्राप्नोति । तदेतत्किं व्रजेतेतिप्रश्नोत्तरम् । उपरितनेनापि बहुना ग्रन्थेन स्थितप्रज्ञः प्रपञ्चितः । ननु प्रज्ञायाः

स्थित्युत्पत्तिभ्यां प्रागपि साधनत्वेन राग-
द्वेषादिराहित्यमपेक्षितम् । बाढम् । तथा
ऽप्यस्तिविशेषः, स च मार्गकारैर्दर्शितः ।

अर्थः— इन्द्रियों को राग द्वेष से हटाकर अपने अधीन करके जो वशी पुरुष विषयों का सेवन करता, वह प्रसन्नता को पाता है । समाधि का अभ्यास वाला पुरुष अभ्यास की वासना के बल से व्युत्थान अवस्था में सब इन्द्रियों के व्यापार को करते हुए भी चित्त की प्रसन्नता को ही अनुभव करता है । इस रीति 'किं व्रजेत' ? इस प्रश्न का उत्तर हुआ । इस के अनन्तर भी बहुत श्लोकों द्वारा श्रीमद्गीता में स्थितप्रज्ञ का विस्तार से वर्णन किया है ।

शङ्का—ज्ञान की उत्पत्ति और स्थिति के पहिले भी साधन रूप राग द्वेष के अभाव की अपेक्षा है । क्या जीवन्मुक्तदशा में ही अपेक्षा है, ऐसा नहीं ? समाधान–ठीक है, परन्तु इस में कुछ अन्तर है, और उस को श्रेयोमार्ग नामक ग्रन्थ में बतलाया है ।

"विद्यास्थितये प्राग्ये साधनभूताः प्रयत्ननिष्पाद्याः।
लक्षणभूतास्तु पुनः स्वभावतस्ते स्थिताः स्थितप्रज्ञे॥
जीवन्मुक्तिरितीमां वदन्त्यवस्थां स्थितात्मसंबन्धाम्।
बाधितभेदप्रतिभामबाधितात्मावबोधसामर्थ्यात्"इति॥

भगवद्भक्तो द्वादशाध्याये भगवता वर्णितः ।

अर्थः—विद्या की स्थिति के लिये, मुमुक्षु पुरुष में जो साधन होकर दैवी सम्पत्तियां प्रयत्न साध्य होतीं, वे स्थितप्रज्ञ पुरुष में स्वाभाविक पन से रहती हैं । इस स्थितप्रज्ञ की दशा को "जीवन्मुक्ति" कहते हैं । इस दशा में आत्मज्ञान के सामर्थ्यद्वारा भेदप्रतीति बाध को प्राप्त होकर होती है ।

भगवद्भक्त का श्रीगीता में भगवान् ने १२ वें अध्याय में वर्णन किया है।

" अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः"॥

ईश्वरार्पितमनस्त्वेन समाहितस्यानुसन्धानाभावात्। व्युत्थितस्याप्युदासीनानुसन्धानेन हर्षविषादाभावाच्च सुखदुःखसाम्यम् । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि द्वन्द्वेषु द्रष्टव्यम् ।

अर्थः— किसी से द्वेष करने हारा नहीं, सब प्राणियों का मित्र, दयावान्, ममता से छूटा, अहंकार रहित, सुख और दुःख को समान मानने वाला, शान्त, सर्वकाल में सन्तुष्ट, योगी, अर्थात् स्थिरचित्त मन को अपने अधीन रखने वाला, दृढनिश्चय अर्थात् किसी बात का बिचार करके पलटने वाला नहीं, मेरे बीच में मन और बुद्धिको अर्पण करने हारा, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझ को प्रिय है। जीवन्मुक्त पुरुष जिस समय समाधिस्थ होता है । उस समय उस का मन ईश्वराकार होने से वह अन्य विषय का अनुसन्धान नहीं करता, समाधि से व्युत्थान होने पर भी उदासीन वृत्तिवाला होता है इस लिये उस की सदा सुख दुःख आदिक द्वन्द्व धर्मों में समान वृत्ति होती है।

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः" इति॥
अत्रापि पूर्ववद्विशेषो वार्त्तिककारैर्दर्शितः ।

अर्थः—जिस से कोई उद्वेग को न प्राप्त हो, और जो किसी से उद्वेग को न प्राप्त हो, ऐसा जो हर्ष, अमर्ष कहिये दूसरे के सुख को देख खेद, भय, और उद्वेग, इन से अलग हो वह मेरा प्रिय है ॥ जो मिले उसी में सन्तुष्ट, पवित्र, प्रवीण, पक्ष पातसे रहित, खेदशून्य, फल की वासना छोड कर्मों का करनेहारा ऐसा जो मेरा भक्त वह मुझ को प्रिय है ॥ जो प्रिय वस्तु पाकर प्रसन्न न नहो, किसी से द्वेष न रखता हो इष्ट पदार्थ के नाश होने से शोक को न प्राप्त हो, किसी वस्तुपर लोभ न करता हो, अशुभ और शुभ इन दोनों का त्यागकरनेवाला भक्तिमान् हो वह मेरा प्रिय है । शत्रु, मित्र, मान, और अपमान इन में एक सा रहनेवाला, जाडा गरमी, सुख और दुःख में एकाकार, सङ्गरहित, निन्दा और स्तुतिको तुल्य मानने हारा, मौनी, जो कुछ मिले उसी में सन्तुष्ट, नियम से एकस्थान में वास करनेवाला नहीं, स्थिरबुद्धि भक्तिमान् ऐसा जो पुरुष, वह मुझे प्यारा है ।

इस स्थान में भी वार्त्तिककार ने विविदिषासंन्यासी और जीवन्मुक्त पुरुषमें भेद पूर्व के समान बताया है—

" उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतोभवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः" इति॥

गुणातीतश्चतुर्दशाध्याये वर्णितः—

अर्थः—जिस पुरुष को आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, उस पुरुष में द्वेषशून्यता आदि गुण विना यत्न किये स्वभावसे सिद्ध होते हैं, साधनरूप से नहीं ॥

गुणातीत का निरूपण भगवद्गीता के १४ वें अध्याय में किया है। अर्जुन बोले।

"कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ?।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते" ॥

त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, तेषां परिणामविशेषात् सर्वः संसारः प्रवर्तते। अतो गुणातीतत्वमसंसारित्वम् । जीवन्मुक्तत्वमिति यावत्। लिङ्गानि परेषामेतदीयगुणातीतत्वबोधकानि। आचार आचरणं तदीयमनःसञ्चारप्रकारः। कथमिति साधनप्रकारप्रश्नः। भगवानुवाच—

अर्थः— हे प्रभो ! किन चिन्हों करके ज्ञानी इन तीनों गुणों को अति क्रमण करने वाला होता ? और उसका क्या आचार है ? और वह किस भांति इन तीन गुणों का उल्लङ्घन करता है ?।

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के परिणाम विशेष से ही सब संसार की प्रवृत्ति है। अत एव गुणातीत होना, असंसारी होना, जीवन्मुक्तहोना एक ही वस्तु है। लिङ्ग अर्थात् जिन लक्षणरूप चिन्हों करके गुणातीत पुरुष का गुणातीतपन बोध हो, वैसा चिन्ह। आचार अर्थात् उस के मन की प्रवृत्ति। 'कथं' इत्यादि वाक्य द्वारा गुणातीत होने के साधनों का प्रकार

पूछा है । श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" ॥

प्रकाशप्रवृत्तिमोहाः सत्त्वरजस्तमोगुणाः । ते च जाग्रत्स्वप्नयोः प्रवर्तन्ते । सुषुप्तिसमाधिशून्यचित्तवृत्तित्वावस्थासु निवर्त्तन्ते । प्रवृत्तिश्च द्विविधा अनुकूला प्रतिकूला चेति । तत्र मूढो जागरणे प्रतिकूलप्रवृत्तिं द्वेष्टि अनुकूलप्रवृत्तिं काङ्क्षति । गुणातीतस्य त्वनुकूलप्रतिकूलाध्यासाभावाद्द्वेषाकाङ्क्षे न स्तः । यथा द्वयोः कलहं कुर्वतो रवलोकयिता कश्चित्तटस्थः स्वयं केवलमुदास्ते । न तु जयपराजयाभ्यामितस्ततश्चाल्यते । तथा गुणातीतो विवेकी स्वयमुदास्ते । गुणा गुणेषु वर्तन्ते, न त्वहमिति विवेकादौदासीन्यम् । अहमेव करोमीत्यध्यासोविचलनम्, न चास्य तदस्ति । तदिदं किमाचार इत्यस्य

प्रश्नस्योत्तरम् । समसुखदुःखादीनि लिङ्गा-न्यव्यभिचारिभक्तिसहितज्ञानध्यानाभ्यासेन परमात्मसेवा इति गुणात्ययसाधनम् । ब्राह्म-णो व्यासादिभिर्वर्णितः ।

अर्थः—हे पाण्डव ? सत्वगुणका प्रकाश, रजोगुण की प्रवृत्ति, और तमोगुणका मोह परिणाम है । इन के प्रवृत्त होने में जो त्रास को न प्राप्त हों और निवृत्त होने में उन की इच्छा न करै (वह गुणातीत है) । उदासीन मनुष्य के तुल्य जो सुख दुःख को एक समान मानता गुणों करके चञ्चल नहीं होता और 'गुण अपने कार्य्यों में प्रवृत्त होते हैं' ऐसा जान सावधान बैठा रहता है, किसी तरह की चेष्टा नहीं करता (वह गुणातीत है) ।

सुखदुःख को एकसां मानने वाला, स्वस्थ अर्थात् किसी-भांति के विकार को नहीं प्राप्त, लोष्ट अर्थात् मट्टी का ढेला, पत्थर, और सुवर्ण को एक ही दृष्टि से देखने हारा, प्रिय और अप्रिय वस्तु में समानबुद्धि, निन्दा और स्तुति में एकसा रहने-वाला, धीर पुरुष (गुणातीत है) । जो मान अपमान में एकसां, और मित्र एवं शत्रु पक्ष में तुल्यदृष्टि, कर्मों के बीच फल की वासना छोडने हारा, वह गुणातीत कहाता है । जो मुझ को अ-खण्डभक्तियोग से सेवता है, वह इन सब गुणों को भली भांति जीत कर ब्रह्मस्वरूप होने के योग्य होता है ॥

सत्त्व, रज, तम और क्रमसे इन का कार्य्य प्रकाश, प्रवृत्ति, और मोह, ये तीनों गुण जाग्रत् एवं स्वप्न इन दो अव-स्थाओं में प्रवृत्त होते हैं । और सुषुप्ति, समाधि, और चित्तकी शून्यावस्थामें ये निवृत्त होते हैं । प्रवृत्ति अनुकूल और प्रतिकूल इस प्रकार दो प्रकार की होती है । तिन

में मूढ पुरुष जाग्रत् अवस्था में गुणों की प्रतिकूल प्रवृत्ति से द्वेष करता, और अनुकूल प्रवृत्ति की इच्छा करता है। गुणातीत पुरुषको तो अनुकूल प्रतिकूल अध्यास की निवृत्ति हो जाने से किसी प्रकार की प्रवृत्ति की इच्छा ही नही होती, इसलिये वह किसी से द्वेष नहीं करता। जैसे दो पुरुषों की लडाई को देखने वाला एक तीसरा गृहस्थ पुरुष केवल उदासीनभाव से देखा करता है, और उस की हार या जीत हो तो उस से वह स्वयं हर्ष विषाद को नहीं प्राप्त होता हैं। उसी प्रकार गुणातीत विवेकी पुरुष गुणों की परस्पर प्रवृत्ति निवृत्ति को साक्षी के समान देखताहै। गुण, गुणोंके प्रति प्रवृत्ति करता, मैं कुछ भी नहीं करता, इस प्रकार का विवेक उदासीनता का स्वरूप है। मैं ही करता हूं, ऐसा अध्यास उस गुण द्वारा चलायमानपन का हैं। यह जीवन्मुक्त पुरुष में नही होता। यह 'किमाचार' (उस का आचरण कैसा है ?) इस प्रश्न का उत्तर है। सुख दुःख आदि में समान वृत्ति आदिक गुणातीत के चिह्न है, और अखण्ड भक्ति सहित ज्ञान और ध्यान के अभ्यास द्वारा परमात्मा का सेवन करना ये गुणातीत होने के साधन हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष को ब्राह्मण इस नाम से व्यास आदिक मुनियों ने वर्णन किया है—

"अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधायिनं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥
ब्राह्मणशब्दो ब्रह्मविद्वाचीति "अथ ब्राह्मण"
इतिश्रुत्या वर्णितम् । ब्रह्मविदश्च विद्वत्संन्यासाधिकारात् ।

"यथाजातरूपधरो नाऽऽच्छादनं चरति स परमहंसः"

इत्यादिश्रुत्या परिग्रहराहित्यस्य मुख्यत्वाभिधानादनुत्तरयित्वादिकं तस्य युक्तम् ।

अर्थः—जिस को उत्तरीय वस्त्र (अङ्गोच्छा) नहीं, जिस को सोने के लिये कुछ भी नहीं, अर्थात् भूमि पर शयन करता है, और जिस को अपनी भुजारूप तकेआ है, ऐसे शान्त पुरुष को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ।

इस श्लोक में ब्राह्मणशब्द ब्रह्मवित् का वाचक है, क्योंकि 'अथ ब्राह्मण' (उस के अनन्तर ब्राह्मण) इस श्रुति ने उस का ब्राह्मण शब्द से कथन किया है । (यथा जातरूप० इस जन्म समय जैसा पैदा हुआ वैसे रूप को धारण करनेहारा अर्थात् नङ्गा परमहंस कुछ भी नहीं ओढता) पूर्वोक्त श्रुति में किसी पदार्थ को न ग्रहण करे यह परमहंस का मुख्य धर्म कहा है अतएव उस का उत्तरीय का त्याग आदि सम्भव होता है ।

"येन केन चिदाच्छन्नो येन केन चिदाशितः ।
यत्रक्वचनशायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः"॥

देहनिर्वाहायाशनाच्छादनस्थानापेक्षायामप्यशनादिगतौ गुणदोषौ नोत्पद्येते । उदरपूरणपुष्ट्यादिरूपस्य निर्वाहस्य समत्वान्निष्प्रयोजनस्य गुणदोषविचारस्य चित्तदोषत्वात् ।

अतएव भागवते पठ्यते—

अर्थः—प्रारब्धद्वारा जो मिले उस वस्त्र से शरीरको ढाकनेवाला, जो कुछ अन्नपानादि मिले उसी पर निर्वाह करनेवाला, और जिस किसी जगह रात्रि में सोनेवाला जो पुरुष, उस

को देवगण ब्राह्मण कहते हैं ।

शरीर के निर्वाह के लिये अन्न, वस्त्र, शयन, स्थान आदि की अपेक्षा होने पर भी "यह ठीक है और यह ठीक नहीं" इस प्रकार की अन्नादिकों में, जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि उपजती नहीं । उदर पूरण, शरीरपोषण, आदि शरीरनिर्वाह तो भले या बुरे अन्नपानादि से भी हो सकता है, इस लिये निष्प्रयोजन भोग्यपदार्थों के गुण दोष का विचार करना यह केवल चित्त का दोषरूप होने से विवेकी पुरुषको त्यागना योग्यहै । अतएव भागवत के ११. वें स्कन्ध में भी कहा है—

"किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः" इति ।
"कन्थाकौपीनवासास्तु दण्डधृग्ध्यानतत्परः ।
एकाकी रमते नित्यं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥

ब्रह्मोपदेशादिना प्राण्यनुजिघृक्षायामुत्तमत्वज्ञापनेन श्रद्धामुत्पादयितुं दण्डकौपीनादिलिङ्गं धारयेत् ।

"कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकोपकारार्थाय च परिग्रहेत्" इति श्रुतेः । अनुजिघृक्षयाऽपि तदीयगृहकृत्यादिवार्ता न कुर्यात्, किंतु ध्यानपरो भवेत् । "तमेवैकं विजानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ" इति श्रुतेः ।

अर्थः—गुण दोष के लक्षणों के बहुत वर्णन से क्या फल है ? 'यह अच्छा है,' 'यह बुरा है,' इस भांति गुण दृष्टि करनी, यह दोषरूप है । और इस प्रमाण से गुण दोष दृष्टि का त्याग,

यह गुण रूप है।

गुदड़ी और लंगोट यही जिस के वस्त्र हैं, जो दण्ड धारण करता है, और ध्यान परायण है, और जो निरन्तर अकेला रहता है, अर्थात् जिसको एकान्त रहने में आनन्द होता है उस को देवगण ब्राह्मण कहते हैं। ब्रह्मादि द्वारा प्राणियों पर अनुग्रह करने की इच्छा हो तो अपना उत्तम आश्रम है इसप्रकार मुमुक्षु लोगों के बोधार्थ उनकी अपने शरीर पर श्रद्धा उपजाने के लिये परमहंस दण्डादि चिह्नों को धारण करता है। क्योंकि- "कौपीन, दण्ड, और आच्छादन अपने शरीर के निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिये ग्रहण करे" ऐसा श्रुति कहती है। प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये इच्छा हो तो भी वह परमहंस अन्यों के साथ, उस के घर और संसारकी वार्ता न करे, किन्तु उपदेश के समय को छोड कर सब समय में वह ध्यानपरायण रहे। श्रुति भी कहती है— "उस एक आत्मा का ही ज्ञान सम्पादन करो, और अन्यवातों का त्याग करो" यहां अन्य शब्द से आत्मव्यतिरिक्त वाणी समझनी चाहिये।

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्शब्दान् वाचोविग्लापनं हि तत्" इति श्रुतेश्च।

ब्रह्मोपदेशस्त्वन्या वाङ्न भवतीति न विरोधी। तच्च ध्यानमेकाकित्वे निर्विघ्नं भवति। अतएव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्।

अर्थः—धीर ब्रह्मज्ञानी पुरुष, उस आत्मा का ही ज्ञान सम्पादन कर निरन्तर प्रज्ञा को करे, अनात्म विषयक अनेक शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी को श्रम देने वा-

ला है। ब्रह्मोपदेश अन्यवाणी नहीं। अतएव वह जीवन्मुक्त पुरुष का विरोधी नहीं। परमात्मा का ध्यान अकेला रहने से निर्विघ्नता के साथ हो सकता है। इस लिये अन्य स्मृतियों में भी कहा है—

"एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद्द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥
नगरं नहि कर्त्तव्यं, ग्रामो वा, मिथुनं तथा ।
ग्रामवार्त्ता हि तेषां स्याद्भिक्षावार्त्ता परस्परम् ॥
स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षात्प्रवर्त्तते ।
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ॥
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥

विशिष्टैः संसारिभिः प्रणमतां पुरुषाणामाशीर्वादः प्रयुज्यते । यस्य यदपेक्षितं तं प्रति तदभिवृद्धिप्रार्थनमाशीः तथाच पुरुषाणां भिन्नरुचित्वात्तदभिमतान्वेषणे व्यग्रचित्तस्य लोकवासना वर्द्धते । सा च ज्ञानविरोधिनी ।
तथाच स्मृत्यन्तरम्—

अर्थः—शास्त्रानुसार अकेला भिक्षु (संन्यासी) का नाम भिक्षु (संन्यासी) है। दो भिक्षु (मिलकर रहने विचरने वाले) का नाम मिथुन या जोडा है। तीन भिक्षुओं का संवाद गाँव कहलाता। और तीन से अधिक भिक्षुओं का तो नगर नाम है। भिक्षुओं का नगर, ग्राम या जोडा न करे । क्योंकि ऐसा करने से उन में परस्पर ग्राम या नगर की बातें होती हैं या भिक्षा की बातें

१ इस स्थलमें "ग्रामवार्त्तादि" के बदले "राजवार्तादि" यह पाठ मूलग्रन्थ का है। क्योंकि आगे विवेचना में वह पाठ (राजवार्ता) पढा है जिस का अर्थ राजनीति वार्ता आदि ऐसा होता है।

होती हैं। और समीप रहने से परस्पर स्नेह, चुगलखोरी, मत्सरता, आदि दोष उत्पन्न होते हैं। जो किसी को आशीर्वाद न देवे, जो कोई उद्यम न करे, किसी को नमस्कार या स्तुति न करे, जो दीनता के वश में नहो और जिस के कर्मोंका क्षय हो गया है, उस को देवगण ब्राह्मण कहते हैं॥

श्रेष्ठ संसारी पुरुष आपे को प्रणाम करनेवाले लोगों के लिये आशीर्वाद देते हैं। जिस को जिस पदार्थ की अपेक्षा होती उस के प्रति उस अपेक्षित पदार्थ की, ईश्वर से प्रार्थना करने का नाम आशीर्वाद है। जैसे जिस को सन्तति की अपेक्षा होती, उस के प्रणाम करने पर "ईश्वर तुम को पुत्र देवे" या ईश्वर तुमे पुत्रवान् करे इस प्रकार के वचन मुख में बोलने का नाम आशीर्वचन है। लोगों की भिन्न २ रुचि होने से सब की इच्छित वस्तु के खोज करने में व्यग्रचित्तवाला जीवन्मुक्त संन्यासी की लोकवासना प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती है, और वह ज्ञान की विरोधिनी होती है। योगवासिष्ठ में कहा है—

"लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते"॥

एतच्चाऽऽरम्भनमस्कारादिष्वपि द्रष्टव्यम्। आरम्भः स्वार्थं परोपकारार्थं वा गृहक्षेत्रादिसम्पादनप्रयत्नः। तावेतावाशीर्वादारम्भौ मुक्तेन त्याज्यौ। न चाऽऽशीर्वादाभावे प्रणतानां नृणां खेदः शङ्कनीयः। लोकवासनाखेदयोरुभयोः परिहाराय निखिलाशीर्वादप्रतिनिधित्वेन नारायणशब्दप्रयोगात्। आरम्भस्तु सर्वोऽपि दुष्ट एव। तथा च स्मृतिः—

अर्थ—लोकवासना, शास्त्रवासना, और देह की वासना के कारण जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं होता । उद्यम और नमस्कार भी लोकवासना के वृद्धि का हेतु होनेसे ज्ञान का प्रतिवन्धक होता है । आरम्भ अर्थात् अपने या पराये के लिये गृह, क्षेत्रादिकों के सम्पादनार्थ यत्न (उद्योग) करना इन आरम्भ और नमस्कार को मुक्त पुरुष त्याग देवे ।

शङ्काः—जो मुक्त पुरुष (आपे को) प्रणाम करने वाले को आशीर्वाद न देवे, तो प्रणाम करने वाले के चित्त में खेद प्रतीत हो, अतएव आशीर्वाद देना आवश्यक है ।

समाधानः—लोकवासना न वढ़े और प्रणाम करने वाले के जी में खेद की प्रतीति न हो इस लिये सब आशीर्वाद के बदले जीवन्मुक्त पुरुष "नारायण" शब्द का प्रयोग करे और आरम्भ (उद्यम) तो सब ही बुरे हैं ।

अन्य स्मृति भी कहती है—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः" इति ।

नमस्कारोऽपि विविदिषासंन्यासिनोऽभिहितः-

अर्थः—जैसे धूँए से अग्नि का प्रकाश सब ओर से छिप-जाता उसी प्रकार सब ही उद्यम दोषों से आवृत होते हैं । इसी प्रकार नमस्कार भी विविदिषासंन्यासी के लिये विहित है—

"यो भवेत् पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन" ॥

तत्र पूर्वत्वधर्मतुल्यत्वविचारे चित्तं विक्षिप्यते । अतएव नमस्कारमात्र एव बहवः कलहायमाना उपलभ्यन्ते । तत्र निमित्तं वा-

र्त्तिककारैर्दर्शितम्—

अर्थः—'जिस ने अपने पूर्व सन्यास का ग्रहण किया है और धर्माचरण में जो अपने तुल्य हो ऐसे संन्यासी को प्रणाम करना औरों को नही। इस वाक्य से भी विविदिषासंन्यास में नमस्कार का विधान किया गया है। विद्वत्संन्यास के लिये यह वाक्य नही है। क्यों कि "यह संन्यासी मुक्त से पूर्व क्यों क्या हुआ ? धर्म में मेरी बराबर किस रीति से है" ? इत्यादि विचार द्वारा जीवन्मुक्त की बुद्धि विक्षेप को प्राप्त होती हैं। इसी से नमस्कार के निमित्त बहुत से संन्यासी परस्पर लड़मरते अर्थात् झगडते हुए पाये जाते हैं।

इस विषय में वार्त्तिक कार ने कहा है—

"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः" इति मुक्तस्य नमस्काराभावो भगवत्पादैर्दर्शितः—

अर्थः—प्रमादी, वहिर्मुखवृत्तिवाले (संसारी कामों में मन देने वाले) चुगलखोर, झगडने में प्रीति करनेवाले इस प्रकार अपने दुर्दैव से दूषित चित्तवाले संन्यासी भी बहुत से देखने में आते है। मुक्त पुरुष किसी को नमस्कार न करे यह बात श्री शङ्कराचार्य जीने भी कही है।

"नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्येऽवस्थितो यदा प्रणमेत्कं तदाऽऽत्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा" इति चित्तकालुष्यहेतोर्नमस्कारस्य प्रतिषेधेऽपि सर्वसाम्यबुद्ध्या प्रसादहेतुर्नमस्कारोऽभ्युपेयते। तथाच स्मृतिः।

अर्थः—आत्मज्ञ पुरुष, जिस समय नामरूप से परे और

व्यापक ऐसे स्वरूप में अवस्थित होता है, तब यह किस को प्रणाम करे ? किसी को नहीं । क्यों कि उस को कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं रहता है । चित्त विक्षेप के हेतुरूप नमस्कार का निषेध होने पर भी सब पदार्थों में समब्रह्मबुद्धि से नमस्कार करनेका शास्त्र विधान कहता है ।

श्रीमद्भागवत के ११ वें स्कन्ध में लिखा है—

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्" इति।
स्तुतिर्मनुष्यविषया प्रतिषिध्यते न त्वीश्वर-
विषया, तथाच बृहस्पतिस्मृतिः—

अर्थः—'सब में ईश्वर, जीवकलारूप से प्रवेश कर स्थित है, इस भाव से चाण्डाल श्वान (कुत्ता) बैल, गदहे पर्यन्त प्राणियों को भी भूमि पर प्रणाम करे । मनुष्य की स्तुति करने का निषेध है, ईश्वर की स्तुति का निषेध नहीं ।

बृहस्पतिस्मृति का वचन है—

"आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया ।
तथा चेत् विश्वकर्त्तारं को न मुच्येत बन्धनात्"
इति ।

अक्षीणत्वमदीनत्वम् । अतएव स्मृतिः ।

अर्थः—जैसे मनुष्य, धन की अभिलाषा से आदर पूर्वक धनाढ्य पुरुष की स्तुति करता उस प्रकार यदि विश्वकर्ता की स्तुति करे, तो कौन नहीं इस संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जावे ? अक्षीणता अर्थात् दीनता का त्याग करे ।

इस विषय में स्मृति भी कहती है—

"अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।

लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमान् उभयं दैवतन्त्रितम्"
इति ।

क्षीणकर्मत्वं विधिनिषेधानधीनत्वम् ।

"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः"
इति स्मरणात् । एतदेवाभिप्रेत्य भगवताऽप्युक्तम्

अर्थ—योग्य समय पर कदाचित् अन्न न मिले तो, संन्यासी को विषाद युक्त न होना चाहिये । और मिले तो, उस धर्मवाला यति हर्षित भी न होवे । क्यों कि, अन्नादि का मिलना या न मिलना दोनों ही प्रारब्ध के अधीन है । क्षीणकर्मत्व अर्थात् विधि निषेध के वश होके वर्त्ताव न करे, क्यों कि त्रिगुणातीत मार्ग पर चलने वाले पुरुष को क्या विधि क्या निषेध होता ? नहीं होता ऐसा स्मृति कहती है ।

इसी अभिप्राय से श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ? ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्"
इति ।

नारदः—
"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु
र्विस्मर्तव्यो न जातु चित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्यु
रेतयोरेव किङ्करा" इति ॥

"योऽहेरिव गणाद्भीतः सन्मानान्नरकादिव ।
कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥
राजवार्तादि तेषां स्यादित्युक्तत्वात्सर्पवत्

गथाद्भीतिरुत्पद्यते, सन्मानस्याऽऽसक्तिकारणतया पुरुषार्थविरोधित्वान्नरकवद्धेयत्वम् ।
अत एव स्मृतिः ।

अर्थ—वेद (कर्मकाण्डात्मक) सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुणरूप जो संसार के विषयसुख उन को प्रकाश करानेवाले है । अर्जुन! तू तो निष्काम हो और परस्पर विरोधी सुख दुःखादि पदार्थों से मुक्त हो, नित्य धैर्य को धारण कर, यह पदार्थ कैसे मिलेगा ? यह कैसे रहेगा ? इस चिन्ता को छोड और आत्मवान् अर्थात् प्रमाद से रहित हो । भगवान् नारद का वचन है—निरन्तर विष्णु का स्मरण करे, किसी समय भी उसे भूले नहीं जो सदा विष्णु का स्मरण करता और कभी भी उसे भूलता नहीं, उस के तो विधि और निषेध दास हो रहते हैं । सर्प के समान जो गण (समूह भीड) से भय करता, नरक के तुल्य जो सम्मान (आदर) से डरता, मुर्दे के समान जो स्त्री को छूने से डरता उसे देव गण ब्राह्मण कहते हैं ।

राजसम्बन्धी वार्ता आदि उन में होती है इत्यादि कथन से सर्प का जैसे भय, जन समूह से जिस को उत्पन्न होता है । सम्मान यह आसक्ति होने का हेतु होने से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ का विरोधी है । अत एव नरक के तुल्य त्याज्य है ।

अन्य स्मृति में भी कहा है—

"असन्मानात्तपोवृद्धिः सन्मानात्तु तपःक्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति" ॥

एतदेवाभिप्रेत्यावमान उपादेयतया स्मर्यते ।

अर्थः—अपमान से तप की वृद्धि होती है । और सम्मान से तप का क्षय होता है । अत एव अर्चन पूजन को राग से ग्र-

हण करनेवाले पुरुष दुही गौ के समान दुःखी होता है ।

इसी अभिप्राय से अन्य स्मृति में अपमान को यतियों के लिये (ग्रहणयोग्य) उपादेय गिना है--

"तथाचरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्" इति॥

स्त्रीषु द्विविधो दोषः प्रतिषिद्धत्वं जुगुप्सितत्वं चेति । तत्र कदाचिद् रागात्प्रारब्धबलादुल्लङ्घ्यते । तदेतदभिप्रेत्याऽऽह स्मृतिः ।

अर्थः—सत्पुरुषों के धर्मको दूषित न करनेवाला योगी इस संसार में इस प्रकार का आचरण करे कि जिससे इतर लोग उस का अपमान करे और उस का सङ्ग न करे ।

स्त्री से दो प्रकार का दोष होता है, जिन में से एक वह दोष है जिस का शास्त्रों में निषेध है, दूसरा वह है जो शास्त्रों में निन्दित है इन में कोई उत्कट पाप प्रारब्ध के योग से उत्पन्न होके रागवशतः कदाचित् कोई अल्प धैर्यवान् पुरुष से निषेध का उल्लङ्घन हो जाता है ।

इसी लिये अन्य स्मृति कहतीहै—

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा
नैकशय्यासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो
विद्वांसमपि कर्षति" ॥

तथाच स्मृतिभिर्जुगुप्सा दर्शिता ।

अर्थः—मा, बहिन, और लडकी के साथ भी एक या बहुत समीप बिछावन पर न सोवे और एक आसन पर न बैठे । क्यों कि बलवान् इन्द्रियों की समूह विद्वानों को विषय के ओर झुकाती है ।

स्त्री में जुगुप्सादोष का निरूपण स्मृतियों ने किया है ।
"स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते" ॥
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।
ये रमन्ति रतास्तत्र कृमितुल्याः कथं न ते" ॥
अतः प्रतिषेधजुगुप्सयोरुभयोर्विवक्षया कुणपदृष्टान्तोऽत्राभिहितः ।

अर्थः—स्त्री का गुह्यभाग (जननेन्द्रिय) और आर्द्रनाडी व्रण में कोई भेद न होने पर भी मन की वृत्ति के कारण प्रायः लोग धोखा खाते है । अपान वायु मल साग का मार्ग के दुर्गन्ध से दूषित, चमडे के दो अलग २ टुकडा रूप स्त्री के गुह्यस्थान में जो पुरुष रमण करते हैं, वे कीडे के समान क्यों न हैं ? कृमि तुल्य ही है ।

इससे स्त्री के शरीर को स्पर्श करने का निषेध है, और उसमें जो निन्द्यतारूप दोष स्थित है, इन दोनों दोषों के कारण स्त्री का शरीर मुर्दे के समान है ।

"येन पूर्णमिवाऽऽकाशं भवत्येकेन सर्वदा ।
शून्यं यस्य जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥
संसारिणामेकाकित्वेनावस्थानं भयालस्यादिहेतुत्वाद्वर्ज्यम् । जनसम्बन्धश्चातथाविधत्वादभ्युपेयः। योगिनस्तु तद्विपरीतत्वमेकाकित्वे सत्यविघ्नेन ध्यानानुवृत्तौ परिपूर्णेन परमानन्दात्मना सर्वमाकाशं पूर्णमिवावभासते।अतो भयालस्यशोकमोहादयो न भवन्ति।

अर्थः—अद्वितीय आत्मा से सम्पूर्ण आकाश जिस को

सदा पूर्णसा भासता है और जिस को जनसमूह वाला स्थान जनरहित स्थान की नाईं प्रतीत होता है, उसे देवगण ब्राह्मण कहते हैं।

संसारी जीव को एकान्तवास, भय आलस्यादि का कारण होने से वर्ज्य है और जनसम्बन्ध वैसा न होने से उसे ग्राह्य है। योगी को इस का उलटा है। अर्थात् निर्जन स्थान में स्वयं अकेला होने से निर्विघ्नता से वह ध्यान कर सकता है, जिस से उस को परिपूर्ण परमानन्द स्वरूप परमात्म तत्त्वद्वारा सम्पूर्ण आकाश पूर्ण के समान भासता है, इस से उस को एकान्त प्रदेश में संसारी के तुल्य भय आलस्यादिदोष नहीं होते।

इसविषय में श्रुति कहती है—

"यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"
इति श्रुतिः।

जनाकीर्णमिति जनसहितं स्थानं राजवार्त्तादिना ध्यानविरोधित्वादात्मप्रतीतिरहितं तच्छून्यमिव चित्तं क्लेशयति। जगतो मिथ्यात्वादात्मनः पूर्णत्वाच्चेत्यर्थः।

अतिवर्णाश्रमी सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे पञ्चमाध्याये परमेश्वरेण वर्णितः।

अर्थ—जिस में सब भूत आत्मा ही हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष को और एकताका अनुभव करने वाले योगी को शोक या मोह कैसे हो ? अर्थात् नहीं होते।

जन वाले स्थान में राजा की या अन्य के विषय में वार्ता होने से, वह स्थान, आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतीतिरहित शू-

न्यसा चित्त को क्लेश पहुंचाता है, क्योंकि जगत् मिथ्या है, और आत्मा पूर्ण है।

अतिवर्णाश्रमी, इस संज्ञा से जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन सूत संहिता के मुक्ति खण्ड के वें अध्याय में किया गया है—

"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
अतिवर्णाश्रमी तेऽपि क्रमाच्छ्रेष्ठा विचक्षणाः"॥

अर्थः—ब्रह्मचारी से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से संन्यासी (विविदिषासंन्यासी) और संन्यासी से अतिवर्णाश्रमी (जिस ने ज्ञानद्वारा वर्णाश्रम धर्म्मों का त्याग करदिया) इस प्रकार उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ है और सब से अतिवर्णाश्रमी श्रेष्ठ है।

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम्।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तम ?॥

अर्थः—हे पुरुषोत्तम—विष्णो ? अतिवर्णाश्रमी, सब अधिकारी पुरुषों का गुरु है, जैसा मैं (सदाशिव) किसी का शिष्य नहीं, इसी प्रकार वह भी किसी का शिष्य नहीं।

"अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते।
तत्समो नाधिकश्चास्मिँल्लोकेऽस्त्येव न संशयः॥

अर्थ—अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुओं का गुरु कहा जाता है, इस लोक में, उस के तुल्य या उस से अधिक है नहीं, इस में संशय नहीं।

"यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम्।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयम्प्रभम्॥
परं तत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्"॥

अर्थ—शरीर इन्द्रियों से भिन्न, सब का साक्षी, नित्यज्ञान-

रूप, सुखस्वरूप और स्वयम्प्रकाश इस परम तत्त्व को जो जानता वह अतिवर्णाश्रमी कहलाता है ।

"यो वेदान्तमहावाक्यश्रवणेनैव केशव ? ।
आत्मानमीश्वरं वेद सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥
योऽवस्थात्रयनिर्मुक्तमवस्थासाक्षिणं सदा ।
महादेवं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्" ॥

अर्थ—हे केशव ! जो पुरुष वेदान्त के महावाक्य के श्रवणद्वारा ही अपने आत्मा को ईश्वर से अभिन्न अनुभव करता वह अति वर्णाश्रमी कहाता है । जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से रहित और सदा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी महादेव को जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

"वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नाऽऽत्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ॥
इति यो वेदवेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्" ।

अर्थः—वर्णाश्रमादिक देह का विषय है, आत्मा में देहरूप उपाधि के सम्बन्ध के कारण अविद्याद्वारा कल्पित है । मैं जो बोध स्वरूप हूं, उस का किसी काल में भी वर्णाश्रमादि धर्म नहीं, ऐसा जो वेदान्त वाक्य द्वारा जानता है, अतिवर्णाश्रमी होता है ।

"आदित्यसंनिधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु ।
तथा मत्संनिधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

अर्थः—जैसे प्रातः काल में सूर्य्य भगवान् के उदय होते ही, उस समय सूर्य की सन्निधि में लोग अपने आप निज २ कामों में लग जाते हैं, व्यापार करता इस प्रकार जो वेदान्त के

वाक्य द्वारा जानता वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

"सुवर्णहारकेयूरकटकस्वस्तिकादयः ।
कल्पिता मायया तद्वज्जगन्मय्येव सर्वदा ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्"॥

अर्थः—जैसे सुवर्ण में हार, बाजूबन्द, कडा, और स्वस्तिकादि आकृति कल्पित हैं, उसी प्रकार सारा जगत् मुझ में ही कल्पित हैं इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य द्वारा जानता हैं वह अति वर्णाश्रमी होता है ।

"शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा ।
महदादि जगन्मायामयं मय्येव कल्पितम् ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्" ॥

अर्थः—जैसे शींप में रूपा अविद्या करके कल्पित है, उसी प्रकार यह महत्तत्त्व आदि मायामय सारा जगत मुझ में कल्पित है, ऐसा जो वेदान्त वाक्यद्वारा जानता हैं, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

"चण्डालदेहे पश्वादिशरीरे ब्रह्मविग्रहे ।
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु पुरुषोत्तम ? ॥
व्योमवत्सर्वदा व्याप्तः सर्वसम्बन्धवर्जितः ।
एकरूपो महादेवः स्थितः सोऽहं परामृतः ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्"।

अर्थः—हे पुरुषोत्तम ! चाण्डाल के देह में, पशु आदि के शरीर में, और ब्राह्मणशरीर में, उसी तरह परस्पर विलक्षणता से स्थित अन्य पदार्थों में, आकाश के समान सदा व्याप्त, एकरूप, जो महान् परमात्मा देव स्थित है, वह मरणधर्म रहित मैं हूं। इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथा पूर्वा विभाति दिक्।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्नहि ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्"।

अर्थः—जिस पुरुष को दिङ्मोह (दिशा की भ्रान्ति हो जाती उसे सूर्यादिग्रह की गति अवलोकन से उस मोह के छूट जाने परभी संस्काररूप होने से जैसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार, यह विश्व ज्ञान करके नाश होने पर भी मुझ को केवल आभास रूप से भासता है, वस्तुतः जगत कुछ नही हैं। इस प्रकार जो वेदान्त वाक्य कर के जानता हैं, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"यथा स्वप्ने प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः।
तथा जाग्रत् प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्"।

अर्थः—जैसे यह स्वप्न प्रपञ्च मुझ में माया कल्पित है उसी प्रकार यह जाग्रत प्रपञ्च भी मुझ में माया कल्पित है, इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात्।
स वर्णाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्"।

अर्थः—आत्म साक्षात्कार होने के पश्चात् जिस का वर्ण और आश्रम का आचार निवृत्त होगया है। वह पुरुष सब वर्ण तथा आश्रम को अतिक्रम कर अपने आत्मा में स्थित है।

आत्मा का साक्षात्कार द्वारा देहादि अभिमान निवृत्त होने से देह के साथ उस का वर्णाश्रमादि धर्मों का भी उस मुक्त पुरुष को अतिक्रमण हो जाने से वह अतिवर्णाश्रमी होता है परन्तु उस स्थिति की प्राप्ति के विना प्रसाद, आलस्यादि दो

वश वर्त्तने वाला, जिस पुरुष ने वर्णाश्रमाचार का त्याग किया है, वह पतित है ।

"यस्त्यक्त्वा स्वाश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान्।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः" ॥

अर्थः—जो अपने वर्णाश्रम के अभिमान को छोड कर केवल स्वरूप में ही स्थित है, उस को सब वेदान्तवेत्ता पुरुष अतिवर्णाश्रमी कहते हैं ।

"न देहो नेन्द्रियं प्राणो न मनो बुद्ध्यहंकृती ।
न चित्तं नैव माया च नच व्योमादिकं जगत् ॥
न कर्त्ता नैव भोक्ता च नच भोजयिता तथा ।
केवलं चित् सदानन्दो ब्रह्मैवाऽऽत्मा यथार्थतः ॥
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः ।
तथाऽहङ्कारसंसारादेव संसार आत्मनः ॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि केशव ?।
आत्मन्यारोपिता एव भ्रान्त्या ते नात्मवेदिनः" ॥

अर्थः—आत्मा देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, प्राण नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, अहङ्कार नहीं, चित्त नहीं, माया नहीं, आकाशादि जगत नहीं, कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं, भोगवानेवाला नहीं, वह तो यथार्थ दृष्टि से केवल सत् चित् आनन्द ब्रह्मरूप है । जैसे जल के डोलने से प्रतिबिम्बरूप जल में स्थित सूर्य में चञ्चलता प्रतीत होती, उसी प्रकार सारा जगत् अहङ्कार में होके उस के तादात्म्याध्यास से आत्मा में मिथ्या प्रतीत होता । अत एव हे केशव ? वर्ण और आश्रम जो अन्य का [अहङ्कार का] धर्म है, वह केवल अज्ञजन को भ्रान्ति करके आत्मा में आरोपित है; अतएव आत्मज्ञ पुरुषको नहीं ।

१२

"न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना।
आत्मविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यज्जनार्दन ?॥
आत्मविज्ञानिनां निष्ठामहं वेदाम्बुजेक्षण ?।
मायया मोहिता मर्त्या नैव जानन्ति सर्वदा॥
न मांसचक्षुषा निष्ठा ब्रह्मविज्ञानिनामियम्।
द्रष्टुं शक्या स्वतः सिद्धा विदुषां सैव केशव।
यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान् सुषुप्तस्तत्र केशव ?॥
एवमात्मानमद्वन्द्वं निर्विकारं निरञ्जनम्।
नित्यशुद्धं निराभासं चिन्मात्रं परमामृतम्॥
यो विजानाति वेदान्तैः स्वानुभूत्या च निश्चित
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः स एव गुरुरुत्तमः" इति
तदेवं "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादि श्रुतयो
जीवन्मुक्तस्थितप्रज्ञभगवद्भक्तगुणातीतब्रा-
ह्मणातिवर्णाश्रमिप्रतिपादकस्मृतिवाक्यानि
च जीवन्मुक्तिसद्भावे प्रमाणानीतिस्थितम्।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्ति-
विवेके प्रथमं जीवन्मुक्तिप्रमाण-
प्रकरणम् ॥ १ ॥

अर्थः—आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष को विधि नहीं, नि-
ध नहीं, वर्ज्य, अवर्ज्य की कल्पना नहीं, उसी प्रकार हे जना-
न ! अन्य लौकिक व्यवहार भी नहीं, हे कमल समाननेत्रवा
विष्णो ! आत्मज्ञानी की निष्ठा को मैं जानता हूं, माया के व
इवशतः जीव किसी काल में भी नहीं जान सकता। ब्रह्मवि

पुरुष की यह निष्ठा केवल मांसमय नेत्र करके देखी नहीं जा सकती । हे केशव ? विद्वान् पुरुष की यह स्वतः सिद्ध निष्ठा है। जिस समय मनुष्य सोता है, उस समय विद्वान जागता है, और जिस समय विद्वान् सोता है, उस समय मनुष्य जागता है । इस भांति अद्वितीय, निर्विकार, निरावरण, नित्यशुद्ध, आभासरहित, चैतन्यस्वरूप, और सदा मरणधर्मरहित ऐसे आत्मा को जो पुरुष वेदान्तवाक्यद्वारा और अपने अनुभव से साक्षात् अनुभव करता हैं, वहीं निश्चय अतिवर्णाश्रमी कहलाता हैं और वहीं उत्तम गुरु है ।

इस रीति से 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवचन का तथा जीवन्मुक्त, गुणातीत, ब्राह्मण, और अतिवर्णाश्रमी के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले स्मृतिवाक्य जीवन्मुक्ति के सद्भाव में प्रमाणरूप से हैं ।

इस भांति जीवन्मुक्तिप्रमाण प्रकरण समाप्त हुआ ।

॥ श्रीः ॥

अथ द्वितीयं वासनाक्षयप्रकरणम् ।

अथ जीवन्मुक्तिसाधनं निरूपयामः । तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयास्तत्साधनम् । अत एव वासिष्ठरामायण उपशमप्रकरणस्यावसाने "जीवन्मुक्तशरीराणाम्" इत्यस्मिन्प्रस्तावे वसिष्ठ आह—

"वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ! ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः" इति।

अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—

अर्थः—अब जीवन्मुक्ति के साधन का निरूपण करते हैं। तत्त्वज्ञान वासनाक्षय और मनका नाश ये तीनों मिलकर जीवन्मुक्ति के साधन हैं । इसी लिये योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण के अन्त में जीवन्मुक्ति का वर्णन है—

हे महामति रामचन्द्र ! वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान, और मनोनाश को दीर्घकालपर्य्यन्त साथ २ सेवने से ये फल देने वाले होते हैं ।

वासनाक्षयादि तीन साधनों का अन्वय (इन तीन के अभ्यास से जीवन्मुक्तिरूप फल होता है) बता या, अब इन का व्यतिरेक (इन तीनों का साथ २ अभ्यास न करने से पूर्वोक्त फल नहीं होता) कहते हैं—

"त्रयमेतत् समं यावन्न स्वभ्यस्तं मुहुर्मुहुः ।
तावन्न पदसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः" इति ॥

समकालाभ्यासाभावे बाधकमाह—

अर्थः—जबतक इन तीनों का बार २ भली भांति एक साथ अभ्यास न किया जावे, तब तक सैकड़ों वर्ष में भी परमात्मपद की प्राप्ति नहीं होती ।

तीनों का एक साथ अभ्यास न किये जाने पर उस में बाध (रुकावट) बतलाते हैं—

"एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः सङ्कलिता इव" इति॥

यथा सन्ध्यावन्दने मार्जनेन सह विनियुक्तानां "आपो हिष्ठा" इत्यादीनां तिसृणामृचां मध्ये प्रतिदिनमेकैकस्या ऋच पाठे शास्त्रीयानुष्ठानं न सिध्यति । यथा वा षडङ्गमन्त्राणामेकैकमन्त्रेण न सिद्धिः । यथावा लोके शाकसूपौदनादीनामेकैकेन न भोजनसिद्धिस्तद्वत् । चिराभ्यासस्य प्रयोजनमाह—

अर्थः—यदि इन में से एक २ का अलग २ बहुत दिनों तक भली भांति सेवन किया जाय तौ भी वे, एक कर्म में सह विनियुक्त मन्त्रों के समान फल देते नहीं ।

जैसे सन्ध्यावन्दन में मार्जन के लिये एक साथ विनियोग किथी हुई तीन ऋचायें हैं, उन में से प्रतिदिन एक २ ऋचा को पढने से यथा शास्त्र मार्जन कर्म सिद्ध नहीं होता । तथा जैसे श्रीसदाशिव के ऊपर अभिषेक करने में विनियुक्त षडङ्ग मन्त्रों में से प्रतिदिन एक २ मन्त्र करके अभिषेक करने से अभिषेक रूप शास्त्रीय कर्म की यथार्थ सिद्धि नहीं होती । और जैसे जगत में शाक, दाल, भात, आदि को में से केवल एक ही पदार्थ

के आहार से यथार्थ भोजन की सिद्धि नहीं होती है। उसी प्रकार वासना क्षय तत्त्वज्ञान, और मन के नाश में से एक २ का अलग २ सेवन करने से जीवन्मुक्तिरूप अलौकिक फल की सिद्धि नहीं होती है।

चिरकाल तक अभ्यास करने का प्रयोजन कहते हैं—

"त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव" इति।

तस्यैव व्यतिरेकमाह—

अर्थः—तत्त्वज्ञान आदि पूर्वोक्त तीनों के चिरकाल तक अभ्यास करने से हृदय की दृढ गांठें, जैसे कमल दण्ड को तोडने से उसके सूत टूट जाते, उसीप्रकार टूट जाती इस में कोई सन्देह नहीं।

उसी पूर्वोक्त अर्थ को व्यतिरेक के द्वारा बतलाते हैं—

"जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम ! संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्" इति

न केवलमेकैकाभ्यासे फलाभावः किन्तु तत्त्वरूपमपि न सिद्ध्यतीत्याह—

अर्थः—हे राम ! अनेक जन्मों से परिचित जो संसार की संस्थिति है वह तत्त्वज्ञान आदि तीनों के दीर्घकाल तक अभ्यास विना कभी नहीं क्षय को प्राप्त हो सकती है।

तत्त्वज्ञान, मनोनाश, और वासनाक्षय में से केवल एक २ का अलग २ अभ्यास करने से कोई फल नहीं होता, इतना ही नहीं बलकी उस प्रत्येक स्वरूप की भी सिद्धि नहीं होती, इस बात को कहते हैं।

"तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।

मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि" इति ॥

त्रयाणामेतेषां मध्ये द्वयोर्द्वयोर्मेलनेन त्रीणि द्वन्द्वानि भवन्ति । तत्र मनोनाशवासनाक्षय-द्वंद्वस्यान्योन्यकारणत्वं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—

अर्थः—तत्त्वज्ञान, मनोनाश, और वासनाक्षय, ये तीनों परस्पर कारणता को पाकर, वे प्रत्येक असाध्य हैं ।

इन तीनों में से दो २ का योग करने से तीन युग्म (जोडा) बनते हैं । उस में मनोनाश वासनाक्षय नाम के जोडे का परस्पर कारणता को व्यतिरेक *द्वारा बतलाते हैं ।

"यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति" ॥

प्रदीपज्वालासन्तानवद्वृत्तिसन्तानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते । तस्य नाशो नाम वृत्तिरूपपरिणामं परित्यज्य निरुद्धत्वाकारेण परिणामः । तथाच पतञ्जलिर्योगशास्त्रे सूत्रयामास—

"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" इति ॥

व्युत्थानसंस्कारा अभिभूयन्ते । निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति । निरोधयुक्तः क्षणश्चित्तेनान्वीयते । सोऽयं मनोनाश इत्यवगन्तव्य-

---

* परस्पर के सद्भाव को 'अन्वय' और परस्पर के अभाव से परस्पर के अभावको 'व्यतिरेक' कहते हैं ।

म् । पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारो वासना । पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात् । तस्याश्च वासनायाः क्षयो नाम विवेकजन्यायां शान्तिदान्तिशुद्धवासनायां दृढायां सत्यपि बाह्यनिमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः तत्र मनोनाशाभावे वृत्तिषूत्पद्यमानासु कदाचिद्बाह्यनिमित्तेन क्रोधाद्युत्पत्तेर्नास्ति वासनाक्षयः । अक्षीणायां च वासनायां तथैव वृत्त्युत्पादनान्नास्ति मनोनाशः । तत्त्वज्ञानमनोनाशयोः परस्परकारणत्वं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—

अर्थः—जब तक मन का विलय नहीं होता, तब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता, उसी प्रकार जब तक वासनायें क्षीण नहीं होती, तब तक चित्त भी शान्त नहीं होता है।

दीप के टेम के समान वृत्तिनामक टेम या सन्तानरूप परिणाम को प्राप्त हो अन्तःकरण नामक द्रव्य मननरूप होने से मन कहलाता है। इस का नाश अर्थात् वृत्तिरूप परिणाम निवृत्त होने से उस का निरुद्धाकार परिणाम हो जाता है।

यह बात भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र में कही है--

जब चित्तगत व्युत्थानसंस्कार (स्फुरण होना संस्कार) शान्त हो जाता, और निरोध संस्कार प्रकट होता है, तब चित्त निरोधयुक्त के अनुकूल होता है, यह चित्त का निरोधपरिणाम कहाता है।

इस प्रकार के चित्त के निरोध परिणाम को ही मनोनाश

समझो । पूर्वापर विचार किये विना अकस्मात् अन्तःकरणमें से उठी हुई क्रोधादिवृत्तियों का हेतुरूप जो चित्तगत संस्कार है उस की वासना यह संज्ञा है । पूर्व पूर्व के अभ्यास द्वारा संस्कार चित्त में स्थित होता है, अतएव संस्कार वासना कहाती है । उस वासना का क्षय अर्थात् विवेकजन्य शम दम आदि शुद्ध वासनाओं के दृढ होने से बाह्य उद्बोधक निमित्त समीप होने पर भी क्रोधादि की अनुत्पत्ति होती है । अब जो मनोनाश के अभाव से वृत्तियां उत्पन्न होती हों तो कदाचित् बाह्य निमित्त करके क्रोधादि की उत्पत्ति से वासना का क्षय नहीं होता । उसी प्रकार वासना का क्षय न हो तो वासना वशतः वृत्तियों का स्फुरण होने से मन का नाश नहीं होता है । इस लिये दोनों का एकसाथ अभ्यास करना आवश्यक है ।

तत्त्वज्ञान और मनोनाश की परस्पर कारणता व्यतिरेक द्वारा बतलाते हैं—

यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनं" इति ॥

इदं सर्वमात्मैव प्रतीयमानं रूपरसादिकं जगन्मायामयं न त्वेतद्वस्तुतोऽस्तीति निश्चयस्तत्त्वज्ञानम् । तस्याऽनुत्पत्तौ रूपरसादिविषयाणां सद्भावे सति तद्गोचराश्चित्तवृत्तयो न निवारयितुं शक्यन्ते । यथा प्रक्षिप्यमाणेष्विन्धनादिषु वन्हिज्वाला न वार्यन्ते तद्वत् । असति च चित्तोपशमे वृत्तिभिर्गृह्यमाणेषु रूपादिषु सत्सु "नेहनानाऽस्ति किञ्चन" इति श्रुते "यजमानः प्रस्तर" इत्यादेरिव प्र-

त्यक्षविरोधशङ्कया ब्रह्माद्वितीयमित्येतादृश-
स्तत्त्वनिश्चयो नोदियात् ।

वासनाक्षयतत्त्वज्ञानयोः परस्परकारणत्वं व्य-
तिरेकमुखेनाऽऽह—

अर्थः—जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक चित्त
शान्ति कहां से ? और जब तक चित्त की शान्ति नहीं तब
तत्त्वज्ञान भी नहीं होता है ।

'यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, वह आत्मा ही है,
रसादि अनेक वस्तु आत्मक जगत्, मायामय है, वस्तुतः
ही नहीं, इस प्रकार जो निश्चय उस का नाम 'तत्त्वज्ञान'
जब तक तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक रूपरसादि वि
यों का सद्भाव ज्यों का त्यों बना रहने से, उस २ विषय
वारण हो नहीं सकता । जैसे अग्नि में इन्धन जब तक डा
जाते तब तक उस की ज्वाला की शान्ति नहीं होती उसी प्रक
"यजमानः प्रस्तरः" (दर्भमुष्टि यजमान है) इस वाक्य के
नने द्वारा पुरुष को दर्भमुष्टि को अचेतन का और यजमान
चेतन का अनुभव होने से, उसको जैसे 'यजमानः प्रस्तरः'
वाक्य के अर्थ में प्रत्यक्ष विरोध प्रतीत होता है, उसी प्रकार ज
तक जिस पुरुष के मन का नाश नहीं होता है, तब तक उ
पुरुष को प्रवृत्ति द्वारा विषयों को साक्षात् अनुभव होने से 'ने
नानास्ति किञ्चन' (यहां कुछ भी नाना वस्तु नहीं है) इ
श्रुति में प्रत्यक्ष विरोध की शङ्का के उत्पन्न होने के कार
पूर्वोक्त श्रुति वाक्य से " अद्वितीय ब्रह्म है, उस से भिन्न अ
किसी पदार्थ की सत्ता है ही नहीं " इस प्रकार का तत्त्व नि
श्चय नहीं होता अत एव मन का नाश एवं तत्त्वज्ञान की प

स्पर कारणता व्यतिरेक द्वारा कथन कियी है ।

"यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः" इति॥

क्रोधादिवासनास्वनष्टासु शमादिसाधनाभावान्न तत्त्वज्ञानमुदेति । अज्ञाते चाद्वितीयब्रह्मतत्त्वे क्रोधादिनिमित्तस्य सत्यत्वभ्रमानपायान्न वासना हीयते । तथोक्तानां त्रयाणां द्वन्द्वानामन्योन्यकारणत्वमन्वयमुखेन वयमुदाहरामः । मनसि नष्टे सति संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यनिमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते, क्षीणायां च वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति । तदिदं मनोनाशवासनाक्षयद्वन्द्वम् । "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इतिश्रुतेरात्मैक्याभिमुखवृत्तेर्दर्शनहेतुत्वादितरकृत्स्नवृत्तिनाशस्य तत्त्वज्ञानहेतुत्वमवगम्यते । सति च तत्त्वज्ञाने मिथ्याभूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगान्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति । तदिदं मनोनाशतत्त्वज्ञानयोर्द्वन्द्वम् । तत्त्वज्ञानस्य क्रोधादिवासनाक्षयहेतुतां वार्तिककार आह—

अर्थः—जब तक वासना का क्षय नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कहां से हो सकती? नहीं होती ? उसी प्रकार जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक वासना का भी क्षय नहीं होता है ।

जब तक क्रोधादिवासना का नाश नहीं होता तब तक ज्ञा का शम दमादि साधनों के अभाव होने से तत्त्वज्ञान का उद होता ही नहीं। उसी प्रकार जब तक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का साक्षा अनुभव नहीं होता तब तक क्रोधादि वृत्तियों के निमित्त में से सत्य की भ्रान्ति निवृत्त न होने से वासना का भी क्षय नहीं होता है मनोनाश और वासनाक्षय का युग्म, तत्त्वज्ञान और मनोनाश युग्म, और वासनाक्षय तथा तत्त्वज्ञान का युग्म इन तीन द्वन्द्वों परस्पर कारणता को व्यतिरेक द्वारा सप्रमाण बतलाया है। अ इन तीनों की परस्पर कारणता को व्यतिरेक द्वारा बतलाते हैं।

जब मन का नाश हो जाता, तब संस्कारों का उद्बोधक वा निमित्तों की प्रतीति न होने से वासना का नाश होता है। उ प्रकार वासना के क्षय होने से क्रोधादिवृत्तियों को प्रकट क वाले हेतुओं (वासनाओं) का नाश होने से वह २ वृत्ति उदित नहीं होती अतएव मन भी नाश को प्राप्त होता है। मनोनाश और वासना क्षय के नाम के युग्म की परस्पर का णता बतलायी गयी। 'दृश्यतेत्व०' 'एकाग्र हुई बुद्धिद्वारा आ त्मसाक्षात्कार होता है' इस श्रुति से अद्वितीय आत्मा को अ भिमुख होनेवाली वृत्ति आत्मसाक्षात्कार में कारणरूप होने इतर सब वृत्तियों का नाश इस तत्त्वज्ञान का कारण है ऐ प्रतीत होता है। तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर नरविषाण की ना मिथ्या जगत् में बुद्धिवृत्तिका उदय नहीं होता और आत्म का तो साक्षात्कार हो ही चुका है अतएव उस को पुन वृत्ति का उपयोग नहीं। अत एव जैसे इन्धन के अभाव से अ ग्नि अपने आप शान्त हो जाता इसी प्रकार वृत्ति को भी किसी भी विषय में जाने का प्रयोजन न होने से स्वयं मन शान्त हो

जाता है इस प्रकार तत्त्वज्ञान और मनोनाश के युग्म में भी परस्पर कारणता बतलायी गयी ।

तत्त्वज्ञान इस क्रोधादिवासना के क्षयका कारण है, ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है—

"रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव" इति ॥

क्रोधादिवासनाक्षयरूपस्य शमादेर्ज्ञानहेतुत्वं प्रसिद्धम् । वसिष्ठोऽपि—

अर्थः—प्रत्येक अवयवों का भिन्न २ अभिमानी नहीं है। परन्तु अवयव समुदायरूप सम्पूर्ण शरीर का अभिमानी मैं एक हूं, इस प्रकार जो समझता है, वह पुरुष, एक अङ्गद्वारा अन्य अङ्ग को मारने आदि पर, इस मारने वाले अवयव पर जैसे क्रोध नहीं करता उसी प्रकार विवेकी पुरुष, वह जो शत्रु में, बन्धु में, और अपने शरीर में एक ही आत्मा का अनुभव करता है, उसे शत्रु आदिक पर क्रोध कहां से हो ? नहीं होता है ।

क्रोधादिवासना का क्षय रूप शमादिगुण ज्ञान का साधक है, यह बात तो प्रसिद्ध है। भगवान् वसिष्ठ मुनि भी कहते हैं कि—

"गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।
परस्परं विवर्धेते द्वे पद्मसरसी इव" इति ॥

तदिदं वासनाक्षयतत्त्वज्ञानयोर्द्वन्द्वम् । तत्त्वज्ञानादीनां त्रयाणां सम्पादने साधनमाह—

अर्थः—ज्ञान से शमादिगुणों की प्राप्ति होती है, और शमादि गुणों से ज्ञानीपन प्राप्त होता है । इस प्रकार से कमल और सरोवर के जल की भांति दोनों एक दूसरे के आश्रय से बढता हैं ।

यह वासना क्षय और तत्त्वज्ञान का युग्मभाव भी बतला-या। अब तत्त्वज्ञान आदि तीनों को सम्पादन करने का साधन कहते हैं—

"तस्माद् राघव ? यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत् समाश्रयेत्"
इति ॥

पौरुषो यत्नः केनाप्युपायेनावश्यं सम्पादयिष्यामीत्येवंविधोत्साहरूपो निर्बन्धः। विवेको नाम विभज्य निश्चयः। तत्त्वज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनं, मनोनाशस्य योगः। वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति। भोगेच्छायाः स्वल्पाया अभ्युपगमे—
"हविषाकृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते"

इति न्यायेनातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् दूरत इत्युक्तम्। ननु पूर्वत्र विविदिषासंन्यासस्य तत्त्वज्ञानं फलं, विद्वत्संन्यासस्य जीवन्मुक्त्यवस्था वर्णिता, तथा च सति प्रथमतस्तत्त्वज्ञानं सम्पाद्य पश्चाद्विद्वत्संन्यासं कृत्वा जीवतः स्वस्य बन्धरूपयोर्वासनामनोवृत्त्योर्विनाशः सम्पादनीय इति प्रतिभाति, अत्र तु तत्त्वज्ञानादीनां सहैवाभ्यासो नियम्यतेऽतः पूर्वोत्तरविरोध इति चेत्। नायं दोषः। प्रधानोपसर्जनभावेन व्यवस्थोपपत्तेः। विविदिषासंन्यासिनस्तत्त्वज्ञानं प्रधानम्। मनोनाशवासनाक्षयावुपसर्जनीभूतौ। विद्वत्संन्यासिन-

स्तु तद्वैपरीत्यम् । अतः सहाभ्यास उभय-त्राऽप्यविरुद्धः । नच तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमात्रेण कृतार्थस्य किमुत्तरकालीनेनाभ्यासप्रयासेनेति शङ्कनीयम् । जीवन्मुक्तिप्रयोजननिरूपणेन परिहरिष्यमाणत्वात् । ननु विद्वत्संन्यासिनो वेदनसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानवैफल्याद्वेदनस्य च स्वरूपेण कर्तुमन्यथा कर्त्तुमशक्यस्याननुष्ठेयत्वादुपसर्जनेनाप्युत्तरकालीनोऽभ्यासः कीदृश इति चेत्, केनापि द्वारेण पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणमिति ब्रूमः । तादृशश्चाभ्यासो लीलोपाख्याने दर्शितः ।

अर्थः—इस लिये हे राघव ! विवेकी पुरुष पुरुषप्रयत्नद्वारा अपनी भोग की सारी इच्छाओं को सर्वथा त्याग कर तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का भली भांति आश्रय करे ।

'किसी भी प्रकार मैं अवश्य इष्ट फल को सम्पादन करूंगा' इस प्रकार उत्साहरूप जो निश्चय वह 'पुरुष प्रयत्न' कहाता है । विवेचन पूर्वक जो निश्चय उस का नाम 'विवेक है । तत्त्वज्ञान का, श्रवण, मनन, और निदिध्यासन साधन है । मनोनाशका साधन योग है । और वासनाक्षय का उपाय विरोधी वासना का उपजाना हैं । "घृतद्वारा जैसे बुझा हुआ अग्नि पुनः जलने लगता उसी प्रकार तृष्णा पुनः बढ जाती है" । इस न्याय से थोडे भोग की इच्छा स्वीकार करने पर वह इतनी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, कि उस का निवारण कठिन वा अशक्य हो पडता है, अतएव उसका निःशेषतया त्याग करे ऐसा कहा है ।

शङ्का—विविदिषा संन्यास का 'तत्त्वज्ञान' फल है, और विद्वत्संन्यास का ' जीवन्मुक्ति फल है, ऐसी व्यवस्था पूर्व कर आये हैं, इस पूर्वोक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान सम्पादन कर जीवितपर्य्यन्त बन्धनरूप वासना और मनोनाश वृत्तियों का नाश करे और यहां तो तत्त्वज्ञान आदि तीनों का एक साथ अभ्यास करे ऐसा नियम करते हैं। अतएव पूर्वापर विरोध आता है।

उत्तरः—बिविदिषा संन्यासी को तत्त्वज्ञान का अभ्यास प्रधानता से करना चाहिये, और वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास गौणभाव से करना योग्य है, और विद्वत्संन्यासी को इस से उलटा है। अर्थात् उस को तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौण भाव से और वासनाक्षय, एवं मनोनाश के निमित्त प्रधानता से अभ्यास करना कर्त्तव्य है, अत एव विद्वत्संन्यासी को गौणप्रधान भाव से तीनों को एकसाथ अभ्यास करने में किसी प्रकार विरोध नहीं आता।

शङ्काः—तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति मात्र से ही कृतकृत्यता को प्राप्त हुए पुरुष को फिर मनोनाश और वासनाक्षय के लिये परिश्रम किस लिये करना चाहिये ?

उत्तरः—इस प्रश्न का समाधान जीवन्मुक्ति के प्रयोजन के निरूपण समय आगे करें गे।

शङ्काः—विद्वत्संन्यासी को पूर्वकाल में ही ज्ञान प्राप्त हुआ है, अतएव उस को श्रवणादिसाधनों का अनुष्ठान व्यर्थ है और तत्त्वज्ञान स्वतः या श्रवणादि व्यतिरिक्त साधनों द्वारा होता नहीं, अतएव तत्त्वज्ञान का गौणभाव से अभ्यास भी कैसे होता हैं ?

उत्तरः—किसी प्रकार बार२ तत्त्व का स्मरण करना यहां अभ्यास समझो ।

यह अभ्यास योगवासिष्ठ रामायण के लीला नामक उपाख्यान में कहा गया है—

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्" इति ॥
मनोनाशवासनाक्षयाभ्यासावपि तत्रैव दर्शितौ–

अर्थः—उसी का चिन्तन, उसी का कथन, परस्पर उसी का बोधन, और उसी के विषय में परायण रहना, उसे विद्वान् लोग ब्रह्म का अभ्यास जानते हैं । यह दृश्य जगत् और मैं सृष्टि के आदि काल में ही उत्पन्न न हुआ और तीनों काल में है नहीं, इस प्रकार के विचार का नाम श्रेष्ठ ब्रह्माभ्यास कहते हैं ।

मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास भी लीला आख्यान में ही देखलाया है—

"अनन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थिताः"
इति ॥

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसम्पत्तिः । स्वरूपेणाप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसम्पत्तिः । युक्तिर्योगः । सोऽयं मनोनाशाभ्यासः ।

अर्थः—'जो पुरुष, ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का अत्यन्त अभाव की प्रतीति होने के निमित्त, शास्त्र तथा युक्ति द्वारा प्रयत्न करता हैं, उस का नाम अभ्यासी है ।

ज्ञाता और ज्ञेय के विषय में मिथ्यात्वबुद्धि यह उस अभाव की प्रतीति है, और उस के स्वरूप की भी अप्रतीति उस ज्ञाता और ज्ञेय की अत्यन्ताभाव की प्रतीति की गणना है। युक्ति अर्थात् योग साधन समझना। योगाभ्यास और शास्त्रों के अभ्यास से जो ज्ञाता और ज्ञेयादि सारे संसार की अप्रतीति होने का यत्न करता है, उसी का नाम ब्रह्माभ्यास है। सो इसप्रकार का अभ्यास, मनोनाश का अभ्यास है।

"दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्नवोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते"
इति ॥

सोऽयं वासनाक्षयाभ्यासः। तेष्वेतेषु त्रिष्वभ्यासेषु साम्येन प्रतीयमानेषु प्रधानोपसर्जनभावेन न विवेक्तुं शक्यत इति चेत्। मैवम्। प्रयोजनानुसारेण विवेक्तुं शक्यत्वात्। मुमुक्षोः पुरुषस्य जीवन्मुक्तिर्विदेहमुक्तिश्चेति प्रयोजनद्वयम्। अतएव दैवसम्पदा मोक्षः, आसुरसम्पदा बन्धः। एतच्च षोडशाध्याये भगवताऽभिहितम्।

अर्थः—दृश्य के असम्भव का ज्ञान होने से रागद्वेषादि क्षीण हुए विषय में रति का उदय नहीं हो पाता, इस का नाम ब्रह्माभ्यास है। इस को वासनाक्षय का अभ्यास भी कहते हैं।

शङ्काः—ये तीनों प्रकार के अभ्यास एक से जान पड़ते हैं, अत एव इस का अभ्यास प्रधान और इस का अभ्यास गौण है, इस का विवेक किस तरह हो सकता ?

समाधानः—प्रयोजन वशतः उन का विवेक हो सकता है।

वह इस भांति कि--

मुमुक्षु पुरुष को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो प्रयोजन है। इसी लिये "विमुक्तश्च विमुच्यते" ऐसा श्रुति भी कहती है। अत एव दैवी सम्पत्ति द्वारा मोक्ष होता एवं आसुरी सम्पत्ति से बन्धन होता है, यह बात भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में श्रीकृष्णभगवान् ने कथन कियी हैं—

"दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता"

इति ॥

ते च सम्पदौ तत्रैवाभिहिते—

अर्थः—दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धन के लिये मानली है।

इन दो प्रकार की सम्पत्तियों का वर्णन गीताके १६ वें अध्याय में किया गया है—

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पद मासुरीम्"

इति ॥

पुनरप्याध्यायपरिसमाप्तेरासुरसम्पत्प्रपञ्चिता।
तत्राशास्त्रीयायाः स्वभावसिद्धया आसु-
रसम्पदो दुर्वासनायाः शास्त्रीयया पुरुषप्रय-

त्नसाध्यया दैवसम्पदा सद्वासनया क्षये सति जीवन्मुक्तिर्भवति। वासनाक्षयवन्मनोनाश-स्यापि जीवन्मुक्तिहेतुत्वं श्रूयते।

अर्थः—श्रीभगवान् बोले—अभय, चित्त की शुद्धि, ज्ञान प्राप्ति का उद्योग, दान, इन्द्रियों का संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, आर्जव (सीधापन) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, (उदारता) शान्ति, चुगली न करनी, प्राणियों पर दया, विषयों में लोलुप न होना, मृदुता, लज्जा, चपलता का त्याग, मौन, क्षमा, धीरता, शौच [बाहर भीतर से शुद्धि] अद्रोह, और अनतिमानिता [आपे में पूज्यता की भावना का अभाव अर्थात् मैं अधिक आदरणीय हूं' इस प्रकार की दुर्भावना से रहित होना] ये सब हे भारत ! दैवी सम्पत्ति भोगने के निमित्त जन्म धरने वालों को प्राप्त होते हैं। हे पार्थ ! दम्भ, गर्व, मान, क्रोध, कठोरपन, और अज्ञान, ये सब आसुरी सम्पत्ति भोगने के लिये जन्मने वाले पुरुषों को प्राप्त होते हैं।

इस आसुरी सम्पत्ति का वर्णन भगवद्गीता अ० १६। समाप्ति तक किया गया है। शास्त्रीय पुरुषार्थ से साध्य शुभ वासनारूप दैवीसम्पत्ति द्वारा जब अशास्त्रीय स्वाभाविक दुर्वासनारूप आसुरी सम्पत्ति का क्षय हो जाता है, तब जीवन्मुक्ति प्राप्ति होती है।

वासनाक्षय के समान मनोनाश भी जीवन्मुक्ति का कारण है, यह वार्त्ता श्रुति में कही गयी है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥
यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।

अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥
निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदिगतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः"
इति ॥

बन्धो द्विविधः तीव्रः मृदुश्च । तत्राऽऽसुरसम्पत्साक्षादेव क्लेशहेतुत्वात्तीव्रोबन्धः। द्वैतमात्रप्रतीतिस्तु स्वयमक्लेशरूपत्वादासुरसम्पदुत्पादकत्वाच्च मृदुर्बन्धः तत्र वासनाक्षयेण तीव्रबन्ध एव निवर्त्यते मनोनाशेन तूभयम् । तर्हि मनोनाशेनैवालं वासनाक्षयस्तु निरर्थक इति चेन्न । भोगहेतुना प्रबलेन प्रारब्धेन व्युत्थापिते मनसि वासनाक्षयस्य तीव्रबन्धनिवारणार्थत्वात् । भोगस्य मृदुबन्धेनाप्युपपत्तेः। तामसवृत्तयस्तीव्रबन्धः। सात्त्विकराजसवृत्तिद्वयं मृदुबन्धः । एतच्च—

अर्थः—मनुष्य को बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है, विषय में आसक्त मन बन्धन का कारण है, और निर्विषय होने से मन मुक्ति का हेतु है, जिस कारण इस निर्विषय मन की मुक्ति मान ली है, इसी लिये मुमुक्ष पुरुष को नित्य अपने मन को विषय से अलग रखना चाहिये विषय संसर्गरहित हृदय में निरोध करने पर मन जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त होता है, उस समय, वह परम पद ब्रह्म रूप हो जाता है । जब तक उस का क्षय हो तब तक उसका हृदय देश में निरोध करे । 'मन

का निरोध ' यही ज्ञान और ध्यान है, उस के सिवाय और सब तो युक्तियों का विस्तार है।

तीव्रबन्ध और मृदुबन्ध इस भांति दो प्रकारका बन्ध है इनमें से आसुरी सम्पत्ति साक्षात् क्लेश का हेतु होने से तीव्र बन्ध की गिनती में है और द्वैतमात्र की प्रतीति स्वतः क्लेश प्र नहीं, तो भी आसुरी सम्पत्ति को उपजानेवाली है। इस लिये वह मृदुबन्ध माना जाता । इनमें वासना के क्षय से तीव्र बन्ध निवृत्त होता और मनोनाश से दोनों प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति होती है।

शङ्काः—यदि ऐसा है, तो मन के नाश ही से बस है वासनाक्षय का कोई प्रयोजन नहीं।

समाधानः—भोग देने वाले प्रबल प्रारब्ध द्वारा जब मन को व्युत्थान होता, उस समय तीव्र बन्ध के निवारण के लिये वासनाक्षय की अपेक्षा होती है। क्यों कि भोग की सिद्धि तो विषय की प्रतीतिरूप मृदुबन्ध से भी हो सकती है। तामसी वृत्तियां तीव्रबन्ध है। सात्त्विक और राजस वृत्तियां मृदुबन्ध है। यह वार्त्ता—

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः"। इत्यत्र स्पष्टीकृतम् । एवञ्च सति मृदुबन्धस्याभ्युपेयत्वात् तीव्रबन्धस्य वासनाक्षयेणैव निवृत्तेरनर्थको मनोनाश इति चेन्न। दुर्बल प्रारब्धापादितानामवश्यम्भाविभोगानां प्रतीकारार्थत्वात्। तादृग्भोगस्य प्रतीकारनिवर्त्यत्वमभिप्रेत्येदमाहुः ।

अर्थः—इस श्लोक के व्याख्यान करते समय स्पष्ट किया है

शङ्का:—इस उपरले वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि मृदुबन्ध हो तौ भी कोई हानि नहीं। केवल हानिकारक तीव्र बन्ध है। अतएव उस की निवृत्ति तो वासना क्षय ही से होती है, उस से मनोनाश का कोई प्रयोजन नहीं दीखता।

समाधान:—दुर्बल प्रारब्ध से प्राप्त हो हुए अवश्य भावि भोग के प्रतीकार के लिये मनोनाश की आवश्यकता है।

अवश्य भाविभोग की मनोनाश के सिवाय अन्य उपाय द्वारा निवृत्ति नहीं होती है, इस अभिप्राय का स्मृतिवाक्य है—

"अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः" इति॥

तदेवं जीवन्मुक्तिं प्रति वासनाक्षयमनोनाशयोः साक्षात् साधनत्वात् प्राधान्यम्। तत्त्वज्ञानं तु तयोरुत्पादनेन व्यवहितत्वात् उपसर्जनम्। तत्त्वज्ञानस्य वासनाक्षयहेतुत्वं बहुशः श्रुतौ श्रूयते।

अर्थः— अवश्यं भावि भोग का जो अन्य उपाय होता तो नल, राम और युधिष्ठिर सरीखे पुरुष को दुःख होता ही नहीं।

इस प्रकार वासनाक्षय और मनोनाश जीवन्मुक्ति का साक्षाव साधन होने से विद्वत्संन्यासियों को उन का अभ्यास प्रधानता से करना उचित है, और तत्त्वज्ञान तो इन दोनों की उत्पत्ति से व्यवहित कारणरूप होने से उस का गौणभाव से अभ्यास कर्त्तव्य है।

तत्त्वज्ञान वासनाक्षय का कारण है, यह बात अनेक श्रुतियों में कथन किया है—

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" ॥

"तरति शोकमात्मवित्" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" । "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" इति ।

मनोनाशहेतुत्वं च तत्त्वज्ञानस्य श्रुतिसिद्धम् । विद्यादशामभिप्रेत्येदं श्रूयते—

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं जिघ्रेत्" इत्यादि ।

गौडपादाचार्याश्चाऽऽहुः—

अर्थः—"परमात्मा देव के ज्ञान से सब बन्धनों की नि[illegible]त्ति हो जाती है, क्लेशों के क्षय से जन्ममरण की हानि हो[illegible] अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति से परमात्म देव का साक्षात्कार क[illegible] पर धीर पुरुष हर्षशोक का त्याग करता है" । आत्मवित् पु[illegible] शोक को पार कर जाता है । सर्वत्र अद्वितीय आत्मवस्तु [illegible] साक्षात् अनुभव करने पर शोक मोह कहां से हो ? नहीं हो[illegible] परमात्म देव को जानने पर सब बन्धनों से छूट जाता है ।

तत्त्वज्ञान मनोनाश का भी कारण है, यह बात भी श्रु[illegible] द्वारा ही सिद्ध है । विद्यादशा को अङ्गीकार कर यह श्रुति है "जो विद्यादशा में इस अधिकारी पुरुष को सब आत्मा ही [illegible] जाता उस अवस्था में वह किस कारण किस पदार्थ को दे[illegible] और किस कारण किस पदार्थ को सूंघे ।

गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

"आत्मतत्त्वानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।

अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहः" इति ॥
जीवन्मुक्तेर्वासनाक्षयमनोनाशाविव विदेह-
मुक्तेः साक्षात्साधनत्वाज्ज्ञानं प्रधानम् ।

अर्थः—आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से जब संकल्प रहित होता है, उस समय अधिकारी पुरुष अमनस्कभाव को प्राप्त होता है, तत्त्वज्ञानद्वारा ग्राह्य वस्तुओं का अभाव होने से वह वृत्ति द्वारा किसी भी विषय को ग्रहण नहीं करता ।

जैसे जीवन्मुक्ति का साक्षात्साधन वासनाक्षय और मनोनाश है, उसी प्रकार विदेहमुक्ति का साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान है । अत एव विदेहमुक्ति के लिये ज्ञानाभ्यास प्रधानता से सेवने योग्य है ।

"ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते"
इति स्मृतेः ॥
केवलस्याऽऽत्मनो भावः कैवल्यं देहादिरहि-
तत्वम् । तच्च ज्ञानादेव प्राप्यते सदेहत्वस्या-
ज्ञानकल्पितत्वेन ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात् । ज्ञाना-
देवेत्येवकारेण कर्मव्यावृत्तिः । "न कर्मणा न
प्रजया" इति श्रुतेः । यस्तु ज्ञानशास्त्रमनभ्य-
स्य यथासम्भवं वासनाक्षयमनोनाशावभ्य-
स्य सगुणं ब्रह्मोपास्ते न तस्य कैवल्यमस्ति ।
लिङ्गदेहस्यानपायात् । अत एवकारेण तावः-
पि व्यावर्त्येते । "येन मुच्यते" इत्यस्यायमर्थः
येन ज्ञानप्रापितकेवलत्वेन कृत्स्नसम्बन्धाद्वि-
मुच्यते इति । बन्धश्चानेकविधः अविद्याग्रन्थिः,
अब्रह्मत्वम्, हृदयग्रन्थिः, संशयः, कर्माणि,

सर्वकामत्वम्, मृत्युः, पुनर्जन्मेत्यादिशब्दै-
स्तत्र व्यवहारात्। अज्ञानत एते बन्धाः सर्वे
ज्ञाननिवर्त्याः। तथाच श्रुतयः-
"एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं
विकिरतीह सौम्य" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव
भवति"।

अर्थः-'ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, जिस कैवल्य
इस संसार से मुक्त होता है। ऐसा स्मृति वचन है। कैवल्य अर्थ
देहादि रहितभाव वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है। सभी
होना यह अज्ञान से है इस लिये केवल ज्ञान ही से निवृत्ति उसकी हो
नेवाली है। इस स्मृतिवाक्य मे 'एव' ('ही') पद कर्म की निवृत्ति
लिये है। कर्म, प्रजा, और धन से मुक्ति नहीं प्राप्त होती है
प्रकार श्रुति भी कहती है। जो पुरुष ज्ञान शास्त्र का अभ्या
किये बिना केवल मनोनाश और वासनाक्षय का ही अभ्या
कर सगुण ब्रह्म की उपासना करता है, उस के लिङ्ग शरीर
नाश न होने से वह कैवल्य को प्राप्त नहीं होता है। अतएव व
सनाक्षय और मनोनाश द्वारा भी कैवल्य प्राप्त नही होता
भी 'एव' पद से झलकता है। उपरले स्मृति वाक्य में 'येन
च्यते' का इस भांति अर्थ है—ज्ञान प्राप्त होने पर जिस कैवल
से सारे बन्धनों से मुक्त होता है। अविद्या ग्रन्थि, अब्रह्मत
हृदय ग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकामत्व, पुनर्जन्म आदि अने
शब्दों से भिन्न २ स्थलों में बन्धन का निरूपण किया है। ब
अनेक प्रकार का है। ये सब बन्धन अज्ञान से हुए हैं अत ए
उन की निवृत्ति ज्ञान से होती है,। निम्नलिखित श्रुतियां इ
विषय में प्रमाणभूत है। (एतद्यो० इत्यादि) "हे सौम्य

बुद्धि–गुहा में स्थित इस आत्मस्वरूप को जो जानता है, वह यहीं अविद्या ग्रन्थि को काट डालता हैं" "जो ब्रह्म को जानता वह ब्रह्म ही होता है" ।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"॥
"यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान्कामान्त्सह" "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति" ।

अर्थः—"उस परमात्मा के साक्षात्कार होने से इस अधिकारी पुरुष के हृदय की गांठें खुल जाती है । सब संशय छिन्न भिन्न हो जाते और सब कर्म क्षय हो जाते हैं" । "जो हृदयाकाशरूप गुहा में स्थित ब्रह्म को जानता है, वह सब कामनाओं के साथ पाता हैं" "उस ब्रह्म को ही जान कर अधिकारी पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है ।

"यस्तु विज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्परमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते" ॥
"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" इत्यादीन्यसर्वज्ञत्वादिबन्धनिवृत्तिपराणि वाक्यान्यत्रोदाहरणीयानि । सेयं विदेहमुक्तिर्ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया । ब्रह्मण्यविद्यारोपितानामेतेषां बन्धानां विद्यया विनाशे सति पुनरुत्पत्त्यसम्भवादननुभवाच्च । तदेतद्विद्यासमकालीनत्वं भाष्यकारः समन्वयसूत्रे प्रपञ्चयामास ।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ त-

द्व्यपदेशात्" इति । ननु वर्त्तमानदेहपाता-
नन्तरभाविनी विदेहमुक्तिरिति बह्वो वर्ण-
यन्ति तथाच श्रुतिः—

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ स-
म्पत्स्ये" इति ।

वाक्यवृत्तावप्युक्तम् ।

अर्थः—जो अमनस्कभावसे प्राप्त हो के सदा शुचि पु
विज्ञानयुक्त होता है, वह परमात्म पद को प्राप्त होता है, जिस
फिर संसार में जन्म धारण नहीं करता है । 'मैं ब्रह्म हूं'
प्रकार जो जानता है—साक्षात् अनुभव करता है, वह यह स
रूप होता है ।

ये सब वाक्य, असर्वज्ञत्व आदि बन्ध निवृत्ति में प्रमाण
से समझना । वही यह विदेहमुक्ति, ज्ञान की उत्पत्ति समय ही प्र
होती है, ऐसा जानना । क्यों कि, ब्रह्म में आरोपित पूर्वोक्त
बन्धनों के नाश होने पर वह फिर विद्या प्राप्ति के समय
बन्धन की निवृत्ति होती है, यह बात भगवान् भाष्यकार श्री
शङ्कराचार्यजी ने समन्वय सूत्र में विस्तार पूर्वक कथन किया है
उस ब्रह्म के साक्षात्कार से उत्तर और पूर्व अर्थात् पुण्यपाप
क्रम से अस्पर्श और विनाश होता है, श्रुति में उस का कथन है।

शङ्काः "वर्तमान शरीर के पतन होने पर विदेहमुक्ति प्रा
होती है, ऐसा बहुत लोग कहते हैं" और उस ज्ञानवान् पु
को तब तक विदेहमुक्ति में विलम्ब है कि जब तक वर्तमान दे
से मुक्त नहीं होता है । वैसा होने पर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होत
है इसी प्रकार श्रुति भी है—वाक्यवृत्ति में भी कहा हैः—

"प्रारब्धकर्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत् ।

कञ्चित् कालमथाऽऽरब्धकर्मबन्धस्य संक्षये ॥
निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम् ।
पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं प्रतिपद्यते" इति ॥
सूत्रकारोऽप्याह—
"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" इति ।
इतरे–प्रारब्धपुण्यपापे ।
वसिष्ठोऽप्याह—

अर्थः—अधिकारी पुरुष जब जीवन्मुक्त होता है, तब प्रारब्ध कर्म के योग से अमुक काल अनुभव कर, प्रारब्ध कर्म के क्षय होने के अनन्तर, पुनरावृत्तिरहित निरतिशय आनन्दस्वरूप सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के कैवल्यपद को प्राप्त होता है। सूत्रकार नेभी कहा है—

"भोग करके प्रारब्धस्वरूप पुण्य पाप का क्षय करने पर परमात्मा के स्वरूप में अभेद को प्राप्त होता है।

वसिष्ठजी ने भी कहा है—

"जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव" इति ॥

अर्थः—जैसे गतिमान् वायु निष्पन्द (स्थिर) अवस्था को प्राप्त होता है, तैंसे जीवन्मुक्त पुरुष, अपने शरीर के काल के वश होने अनन्तर (मरनेपर) जीवन्मुक्तदशा का त्यागकर विदेहमुक्त पद में प्रवेश करता है ।

नायं दोषः, विवक्षाविशेषेण मतद्वयस्याविरोधात् । विदेहमुक्तिरित्यत्रत्येन देहशब्देन कृत्स्नं देहजातं विवक्षित्वा बहुभिर्वर्णितम् । अस्माभिस्तु भाविदेहमात्रविवक्षयोच्यते ।

तदनारम्भायैव ज्ञानसम्पादनात् । अयं देहः पूर्वमेवाऽऽरब्धः, अतो ज्ञानेनापि नास्याऽऽरम्भो वारयितुं शक्यते । क्षये तन्निवृत्तिरपि न ज्ञानफलम् । अज्ञानिनामप्यारब्धकर्मक्षये तन्निवृत्तेः ।

अर्थः—समाधान–अभिप्राय के भेद को लेकर मतभेद सता है । वस्तुतः मतभेद नहीं । जो मरने पीछे विदेहमुक्ति नते हो उस विदेहमुक्ति पद में देह शब्द से सम्पूर्ण देह हैं । सकल देह की निवृत्ति तो मरने के बाद ही होती है, अतः उस के अभिप्रायानुसार मरने बाद विदेहमुक्ति में प्रवेश वास्तविक है । हम तो भाविदेह की निवृत्ति को ही विदेह कहते हैं । क्यों कि भाविदेह का आरम्भ न होने के लिये सम्पादन किया जाता । वर्त्तमान देह का तो ज्ञान होने हिले आरम्भ हो चुका है । अत एव ज्ञानसे भी वर्तमान का निवारण हो सकता, ऐसा नहीं है । वर्त्तमान शरीर निवृत्ति भी कोई ज्ञान का फल नहीं है । क्यों कि प्रारब्ध का क्षय होता अज्ञानी लोगों का भी वर्त्तमान देह निवृत्त होता

तर्हि वर्तमानलिङ्गदेहनिवृत्तिर्ज्ञानफलमस्तु ज्ञानमन्तरेण तदनिवृत्तेरिति चेन्न ।

सत्यपि ज्ञाने जीवन्मुक्तेस्तन्निवृत्त्यभावात् ।

अर्थः—शङ्का—जो वर्त्तमान स्थूलशरीर की निवृत्ति का फल न हो तो, वर्त्तमान लिङ्गशरीर का नाश ज्ञान का मानना चाहिये, क्यों कि ज्ञान हुए बिना लिङ्गदेह का नहीं होता है ।

समाधान–यह बात ठीक है, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को

प्राप्त होने पर भी उस के लिङ्गशरीर का नाश नहीं होता है। अतएव ज्ञान का फल लिङ्गकी निवृत्ति भी मानी नहीं जा सकती।

ननु ज्ञानस्य किञ्चित्कालं प्रारब्धेन कर्मणा प्रतिबद्धत्वेनानिवर्तकत्वेऽपि प्रतिबन्धक्षये लिङ्गदेहनिवर्तकत्वं भविष्यतीति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का—यद्यपि प्रारब्धकर्म अपने स्थितिपर्यन्त ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से जब तक शेष प्रारब्ध होता हैं, तब तक लिङ्गदेह की निवृत्ति नहीं होती है, तथापि प्रारब्ध रूप रुकावट के क्षय होने पर ज्ञानद्वारा लिङ्गदेह की निवृत्ति होगी, अत एव ज्ञान का फल लिङ्गकी निवृत्ति है, ऐसे कहने में कोई बाधा नहीं मालूम होती हैं ।

पञ्चपादिकाचार्य्येण
"यतोज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकं"
इत्युपपादितत्वात् ।

अर्थः—समाधानः—तेज और तम के तुल्य ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है । लिङ्गदेह तो अज्ञान का कार्य्य होने से उस का तो अज्ञान के साथ विरोध होता ही नहीं । अत एव ज्ञानद्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति होती है, ऐसा श्रीपञ्चपादिकाचार्य्य ने प्रतिपादन किया है ।

तर्हि लिङ्गदेहनिवृत्तेः किं साधनं इति चेत् । सामग्री निवृत्तिरिति ब्रूमः । द्विविधं हि कार्यनिवर्तकम् । विरोधिसद्भावः सामग्री निवृत्तिश्चेति । तद्यथा विरोधिना वायुना, तैलवर्त्तिसामग्रीनिवृत्त्या वा दीपो निवर्त्तते । लिङ्गदेहस्य साक्षाद्विरोधिनं न पश्यामः ।

सामग्री हि द्विविधा प्रारब्धमनारब्धञ्चेति। ताभ्यामुभाभ्यामज्ञानिनां लिङ्गदेह इहामुत्र चावतिष्ठते। ज्ञानिनां त्वनारब्धस्य ज्ञानेन निवृत्त्या प्रारब्धस्य भोगेन लिङ्गदेहो निवर्त्तते। अतो न तन्निवृत्तिर्ज्ञानफलम्।

अर्थः—प्रश्न—उस समय लिङ्गदेह की निवृत्ति का साधन है ? समाधान—जिस सामग्री से लिङ्गदेह उत्पन्न होता है उस सामग्री की निवृत्ति से लिङ्गदेह की निवृत्ति होती है। विरोधी के सद्भाव से और सामग्री की निवृत्ति से भांति दो प्रकार से कार्य की निवृत्ति होती है। जैसे तेल आदि दीप की सामग्री होने पर भी विरोधी वायु से शान्त जाता है, उसी प्रकार लिङ्गदेह का साक्षात् विरोधी तो पदार्थ देखने में नहीं आता इस लिये उस की सामग्री कि से निवृत्ति होती है। प्रारब्धकर्म और सञ्चित आदि अनारब्ध कर्म यों दो प्रकार की लिङ्गदेह की सामग्री है। अज्ञानी लिङ्गदेह इन दो सामग्रियों करके इस लोक परलोक में स्थिर है। ज्ञानी पुरुषों का अनारब्धकर्म, ज्ञान द्वारा निवृत्त होता और प्रारब्ध कर्म की भोग से निवृत्ति होती है। अतएव तेल बत्ती रूप सामग्री के नाश से जैसे दीप नाश को प्राप्त होता उसी प्रकार उस का लिङ्गदेह उक्त दो प्रकार के कर्मरूप सामग्री की निवृत्ति से निवृत्त होता है।

नन्वनेन न्यायेन भाविदेहानारम्भोऽपि ज्ञानफलम्। तथाहि— किमनारम्भ एव हि फलम्, किंवा, तत्प्रतिपालनम्। नाद्यः। तस्य प्रागभावरूपत्वेनानादिसिद्धत्वात्। न द्वितीयः,

अनारब्धकर्मरूपसामग्रीनिवृत्त्यैव भाविदेहारम्भप्रागभावप्रतिपालनसिद्धेः । नच तन्निवृत्तिः फलं, अविद्यानिवृत्तेरेव विद्याफलत्वात् ।

अर्थः—शङ्का—यह उपरले वाक्य से तो भावि देह का अनारम्भ (आरम्भ न हुआ) भी ज्ञान फल है, ऐसा जान पडता है, परन्तु वह सम्भव नहीं, क्योंकि, क्या भाविदेह का अनारम्भ ही ज्ञान का फल है ? या भाविदेहके अनारम्भ का पालन अर्थात् अनारम्भ सदाकाल रहे यह भी उस का फल है ? इन में से प्रथम पक्ष—भाविदेह का अनारम्भ यह ज्ञान का फल है, यह वात सम्भव नहीं, क्योंकि भाविदेह का अनारम्भ इस भावि देह का प्रागभावरूप होने से अनादि सिद्ध है, अतएव, यह ज्ञान से उत्पन्न होता नहीं । उसी प्रकार भाविदेह के अनारम्भ का पालन यह ज्ञानफल है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि भाविदेह के आरम्भ के प्रागभाव का पालन अर्थात् सर्वकाल भाविदेह का अभाव ही रहना यह तो सञ्चित कर्मरूप सामग्री की निवृत्ति से ही होता है । अनारब्धकर्म [सञ्चितकर्म] रूप सामग्री की निवृत्ति भी ज्ञान का फल नहीं । केवल अविद्या की निवृत्ति ही विद्या का फल हैं ।

नैष दोषः । भाविजन्मारम्भादीनां विद्याफलत्वस्य प्रामाणिकत्वात् । "यस्माद्भूयो न जायते" इत्याद्युदाहृताः श्रुतयस्तत्र प्रमाणम् । नच ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकमिति न्यायेन विरोधः । अज्ञानसहभावनियतानामब्रह्मत्वादीनामज्ञानशब्देन पञ्चपादिकाचार्यैर्विवक्षितत्वात् । अन्यथाऽनुभवविरोधः । अ-

नुभूयते ह्यज्ञाननिवृत्तिवदब्रह्मत्वादिनिवृत्तिर-
पि। तस्माद्भाविदेहराहित्यलक्षणा विदेह-
मुक्तिर्ज्ञानसमकालीना। तथाच याज्ञवल्क्य-
वचनं श्रूयते—"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि,"
इति, "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति च।

अर्थः—उत्तर—तुम ने जो दोष बतलाया, वह प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भावि में जन्म की प्राप्ति होती नहीं इत्यादि विद्या के फलत्व की प्रमाणसिद्ध बात है। (यस्मात्भू०) 'जिस तत्त्वज्ञान के होने से फिर जन्म पाता नहीं" इत्यादिपूर्वोक्तश्रुतियां इस विषय में प्रमाणभूत हैं। सदा अज्ञानी के साथ रहनेवाला-अज्ञान की सद्‌भावसे ही सद्भाववाला-पूर्वोक्त 'अब्रह्मत्व ('मैं ब्रह्म नहीं' ऐसा मिथ्या निश्चय) इत्यादि बन्धन को श्री पञ्चपादिकाचार्य ने अज्ञान ही गिना है। पुनर्जन्म, अब्रह्मत्व आदि बन्धन की निवृत्ति जो ज्ञान का फल न हो, तो अनुभव में विरोध प्राप्त होता है। ज्ञान करके जैसे अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार उस के साथ पूर्वोक्त 'अब्रह्मत्व' आदि बन्धन की भी निवृत्ति होती है, यह बात अनुभवसिद्ध है। इसलिये भाविदेह की अप्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति ज्ञान समकाल ही है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है कि—'हे जनक! तुम अभय को प्राप्त होगये हो'। 'इतना ही यथार्थ अमृतत्व है'।

श्रुत्यन्तरेऽपि "तमेवं विद्वानमृत इह भवति"
इति। यद्युत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने तत्फलभूता
विदेहमुक्तिस्तदानीं न भवेत् कालान्तरे च
भवेत्। तदा ज्योतिष्टोमादाविव ज्ञानजन्यध-

पूर्वं किञ्चित्कल्प्येत । तथा च कर्मशास्त्र एव ज्ञानमन्तर्भवेत् । अथोच्यते । मन्त्रादिप्रतिबद्धाग्निवत् प्रारब्धप्रतिबद्धं ज्ञानं कालान्तरे विदेहमुक्तिं दास्यतीति । मैवम् । अविरोधात् । न ह्यस्मदभिप्रेता भाविदेहात्यन्ताभावलक्षणा विदेहमुक्तिर्वर्तमानदेहमात्रस्थापकेन प्रारब्धेन विरुध्यते, येन प्रतिबध्येत । किञ्च क्षणिकत्वेन कालान्तरे स्वयमविद्यमानं ज्ञानं कथं मुक्तिं दद्यात् । ज्ञानान्तरं चरमसाक्षात्कारलक्षणमुत्पत्स्यत इति चेन्न । साधनाभावात् । प्रतिबन्धकप्रारब्धनिवृत्त्यैव सह गुरुशास्त्रदेहेन्द्रियाद्यशेषजगत्प्रतिभासनिवृत्तेः किं ते साधनं स्यात् ।

अर्थः—अन्य श्रुति भी कहती है—इस प्रकार आत्मा का ज्ञान जिस को होता है, ऐसा पुरुष वर्तमान शरीर ही में मरण रहित हो जाता है ।

जो तत्त्वज्ञान होने परभी उस की फलरूप विदेहमुक्ति उस समय न हो और कालान्तर में हो तो ज्योतिष्टोमादिकर्म समाप्ति के अनन्तर, तत्काल स्वर्गादिफल न मिलने से जैसे अपूर्व नामके संस्कार विशेष को कर्मविषय में कल्पना कियी जातीहै, उसी प्रकार ज्ञान को भी अपूर्व की कल्पना करनी पडेगी और जो वैसा हो तो कर्मशास्त्र में ही ज्ञानशास्त्र का अन्तर्भाव हो जावे कदाचित् इस स्थल में वादी ऐसा कहे कि मणिमन्त्रादि द्वारा जिस की दाहकशक्ति का प्रतिबन्ध हो गयाहै ऐसा अग्नि प्रतिबन्ध छूट जाने पर जिस प्रकार अपना दाह कर्म कर सकता है,

उसी तरह प्रारब्धसे प्रतिबन्ध को प्राप्त होने पर ज्ञान प्रारब्धके अन्तमे विदेह मुक्तिरूप फल को देगा, परन्तु यह कहना वस्तुतः ठीक नही, क्योंकि, हमारे अभि मेत भाविदेह का अत्यन्त अभाव रूप विदेह मुक्ति को केवल वर्त्तमान शरीर को ही स्थापन करनेवाले प्रारब्धकर्म के साथ कोई विरोध नही। जिस से प्रारब्धकर्म विदेहमुक्तिरूप ज्ञान के फल का प्रतिबन्धक हो नही सकता वह ज्ञान क्षणिक है इस लिये कालान्तर में स्वयं न होने से से विदेहमुक्ति को कैसे दे सकता? कदाचित् ऐसा कहो कि मरणसमय में चरमसाक्षात्कार रूप अन्यज्ञान उत्पन्न होगा और वह विदेहमुक्ति देगा तो यह बात भी सम्भव नहीं क्योंकि उस समय पुनः अन्यज्ञान का उत्पादक कोई अन्य साधन होता नहीं। प्रतिबन्धकरूप प्रारब्धकर्म की निवृत्ति से ही गुरु, शास्त्र, देह, और, इन्द्रिय आदिक सारे संसार की प्रतीति की निवृत्ति हो जाती है इसलिये उस समय किस साधन से ज्ञान होता है ? होता ही नहीं।

तर्हि "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इत्यस्याः श्रुतेः कोऽर्थ इति चेत् । आरब्धान्ते निमित्ताभावाद्देहेन्द्रियाद्यशेषनैमित्तिकनिवृत्तिरित्येवार्थः। ततो भवदभिमता वर्तमानदेहराहित्यलक्षणा विदेहमुक्तिः पश्चादस्तु देहपातानन्तरम् । अस्मदभिमता तु ज्ञानसमकालीनैव । एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् शेष आह—

अर्थः—शङ्का— उस समय 'प्रारब्ध के क्षय होने पर फिर सारी माया की निवृत्ति होती हैं, इस श्रुति का क्या

अर्थ तुमने समझा ?

समाधानः—इस श्रुति का अर्थ यही है कि प्रारब्ध के अन्त में देहादि का स्थापक निमित्त न होने से देह इन्द्रियादि सब की निवृत्ति होती है । इस लिये अन्य मत के अनुसार वर्तमान देह का अभावरूप विदेहमुक्ति देहपात के बाद हो, परन्तु भाविदेह की अभावरूप को हम मानते हैं यह विदेह मुक्ति तो ज्ञानसमय में ही प्राप्त होती है ॥

इसी अभिप्राय से भगवान् शेष भी कहते हैं—

"तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः" इति॥

अर्थः—मरणसमय में जिस को स्वरूपका विस्मरण हो गया है ऐसा पुरुष कदाचित् तीर्थ में या चाण्डाल के घर मर जावे तो भी ज्ञानकाल में ही मुक्त होकर शोक रहित वह पुरुष मुक्ति को ही प्राप्त होता है ॥

तस्माद्विदेहमुक्तौ साक्षात्साधनस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रधानत्वमुपपन्नम् । वासनाक्षयमनोनाशयोर्ज्ञानसाधनत्वेन व्यवहितत्वादुपसर्जनत्वम्।आसुरवासनाक्षयकारिण्या दैववासनाया ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते— "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्" इतिश्रुतिः। स्मृतिरपि—

अर्थः—विदेहमुक्ति में साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान की ही, प्रधानता है यह बात इस से सिद्ध हुई, वासनाक्षय और मनोनाश तत्त्वज्ञानद्वारा विदेहमुक्ति का साधन है । इस लिये विदेहमुक्ति

में उस का गौणपन है ।, आसुरी वासनाओंकी क्षय करनेवाली दैवीवासना ज्ञान का साधन है, यह बात श्रुति और स्मृति में प्रत्यक्ष प्रतीत होती है । "शान्तोदान्त इत्यादि" 'शम दम उपराति तितिक्षा, और समाधान आदि दैवी सम्पत्ति युक्त होकर अपने आत्मा से अभिन्न परमात्मा का अनुभव करे यह श्रुति इस मे प्रमाण रूप से है । और स्मृति में कहाहै कि—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः" ॥

अर्थः—अमानित्व, निरभिमानपना, अदम्भित्व (निष्कपटता) अहिंसा, शान्ति, आर्जव (सूधापन) गुरुकी सेवा, पवित्रता, स्थिरता, और अपने शरीरका संयम ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषय जो शब्दादिक हैं उन में विरक्ति, निरहङ्कार, और जन्म, मृत्यु, बुढापा, व्याधि और दुःख इन में दोष देखना ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

अर्थः—पुत्र, स्त्री, गृह, आदिकों से विरक्ति और उन के सुखदुःखों में अत्यन्त दृष्टि न देनी । इष्ट और अनिष्ट में सदा एकसा रहना ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

अर्थः—मेरे विषय में अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति, चित्त को प्रसन्न करनेवाले देश में निवास, संसारी पुरुषों की

सभा में अप्रीति ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अर्थः—अध्यात्मज्ञान (आत्मादि विषयक जो विचार) अर्थात् जीव माया ईश्वरादिकों का विवेक । इसका नित्यचिन्तन और तत्त्वज्ञान का प्रयोजन जो मोक्ष है उस का अवलोकन यह सब ज्ञान कहलाता है इस से अन्य अज्ञान है ।

अन्यस्मिन्नहंबुद्धिरभिष्वङ्गः । ज्ञायतेऽनेनेति-व्युत्पत्त्या ज्ञानसाधनमित्यर्थः । मनोनाश-स्यापि ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति च । प्रत्यगात्मस-माधिप्राप्त्या देवं ज्ञात्वेत्यर्थः ।

अर्थः—यह पदार्थ मैं ही हूं इस प्रकार की अभेदभावना-सें जो उन पदार्थों में अधिक प्रीति करनी अर्थात् उन पदार्थों-के सुखी दुःखी हुए मैं ही सुखी दुःखी होता हूं इस प्रकार जो अत्यन्त अभिनिवेश है उस को अभिष्वङ्ग कहते हैं ॥

"इसके द्वारा जाना जाता है ऐसी व्युत्पत्ति से ज्ञानसाधन" होता है । मनोनाश भी ज्ञान का साधन है यह श्रुति में प्र-सिद्ध है, तहां श्रुति का प्रमाण (--ततस्तुतं ०) ध्यान करने-वाला पुरुष उस निरवयव आत्मा का साक्षात् दर्शन करता है" "(अध्यात्म०) प्रत्यक् आत्मा में समाधि के लाभ से परमा-त्म देव को जान कर धीर पुरुष हर्ष शोक को छोडता है" । और स्मृति का प्रमाण—

"यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः॥
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै विद्यात्मने नमः"॥

अर्थः—निद्रा श्वास और इन्द्रियों को जीतने वाले योगीजन जिस ज्योति को योग द्वारा देखते हैं उस योगात्मक परमात्मा को नमस्कार हैं ॥

तदेवं तत्त्वज्ञानादीनां त्रयाणां विदेहमुक्तिजीवन्मुक्तिवशाद्गुणप्रधानभावव्यवस्था सिद्धा।

अर्थ—इस प्रकार विदेहमुक्ति और वासनाक्षय की यथायोग्य गौणत्व की एवं प्रधानता की व्यवस्था सिद्ध है ॥

ननु विविदिषासंन्यासिना सम्पादितानामेतेषां किं विद्वत्संन्यासादूर्ध्वमनुवृत्तिमात्रं, किं वा पुनरपि सम्पादनप्रयत्नोऽपेक्षितः। नाद्यः। तत्त्वज्ञानस्येवान्ययोरप्ययत्नसिद्धत्वे प्राधान्यप्रयुक्तादराभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। इतरयोरिव ज्ञानस्यापि यत्नसापेक्षत्वे सत्युपसर्जनत्वप्रयुक्तौदासीन्याभावप्रसङ्गात्।

अर्थः—शङ्का–विविदिषासंन्यासी द्वारा प्राप्त किये तत्त्वज्ञान आदि तीन साधनों की विद्वत्संन्यास धारण करने के बाद अनुवृत्तिमात्र समझें ? या उस के सम्पादन के लिये फिर प्रयत्न करने की आवश्यकता है ? जो उस की अनुवृत्तिमात्र करोगे तो तत्वज्ञान के समान वासनाक्षय और मनोनाश भी विना यत्न के सिद्ध होने से उस को प्रधानता दे कर विशेष आदर करने की आवश्यकता नहीं रहती और जो प्रयत्न की आवश्यकता है ऐसा कहोगे तो जैसे मनोनाश और वासनाक्षय के निमित्त यत्न

की अपेक्षा हैं उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के लिये भी यत्न की अपे-क्षा होने से उस के गौणपन के कारण उस में उदासीनता रखनी योग्य हैं सो नही बनता है ।

नायं दोषः । ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रमितरयोर्यत्नसाध्यत्वमित्यङ्गीकारात् ।

अर्थः—समाधान—यह दोष नही है जीवन्मुक्त-अवस्था में ज्ञान की केवल अनुवृत्ति तथा वासनाक्षय और मनोनाश प्रयत्नसाध्य है ऐसा हमने स्वीकार किया है—

तथाहि—विद्याधिकारी द्विविधः, कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्चेति । तत्रोपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तामुपास्तिं कृत्वा यदि ज्ञाने प्रवर्तेत, तदा वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं विद्वत्संन्यासजीवन्मुक्ती स्वत एव सिध्यतः । तादृश एव शास्त्राभिमतो मुख्यो विद्याधिकारी । ततस्तं प्रति शास्त्रेषु सहोपन्यासात् स्वरूपेण विविक्तावपि विद्वत्संन्यासौ सङ्कीर्णाविव प्रतिभासेते । इदानींतनास्तु प्रायेणाकृतोपास्तय एवौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तन्ते । वासनाक्षयमनोनाशौ च तात्कालिकौ सम्पादयन्ति । तावता श्रवणमनननिदिध्यासनानि निष्पद्यन्ते । तैश्च दृढाभ्यस्तैरज्ञान-संशय-विपर्ययनिरासात् तत्त्वज्ञानं सम्यगुदेति।उदितस्य ज्ञानस्य बाधकप्रमाणाभावान्निवृत्ताया अविद्यायाः पुनरुत्पत्तिकारणाभावाच्च नास्ति तस्य

शैथिल्यम् । वासनाक्षयमनोनाशौ तु दृढा-भ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन तदा तदा-बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशदीपवत्सहसा निवर्तेते । तथाच वसिष्ठः—

अर्थः—कृतोपासन (जिस ने उपासना सिद्ध कर लियी है) और अकृतोपासन (जिस ने उपासना नही सिद्ध कियी है) इस प्रकार विद्याधिकारी के दो भेद हैं। इनमें से जो अपने उपास्य 'देवके साक्षात्कार करने तक उपासना कर ज्ञान में प्रवृत्त हो ते हैं उस अधिकारी के मनोनाश, एवं वासनाक्षय अत्यन्त दृढ होने से ज्ञान होने के अनन्तर विद्वत्संन्यास और जीवन्मुक्ति उस को स्वतः सिद्ध होती हैं । शास्त्र में तो ऐसे पुरुष को ही अध्यात्मविद्या का मुख्य अधिकारी गिना है इस लिये ऐसे अधिकारी के लिये ही शास्त्र में तीन साधनों के साथ कथन किया है इस से विद्वत्संन्यास और विविदिषासंन्यास स्वरूप करके भिन्न होने पर भी वे मिले हुए के समान भासते हैं साम्प्रत काल में तो प्रायः अकृतोपासन ही अधिकारी होते हैं। इस से वह केवल उत्सुकता से सत्वर ब्रह्म विद्या में प्रवृत्ति करता है, उतने समय तक ही वासनाक्षय और मनोनाश को सम्पादन करता हैं, उतने से उस को श्रवण, मनन और निदिध्यासन सिद्ध होता है । इस प्रकार के दृढ अभ्यास से अज्ञान, संशय, और विपर्यय निवृत्त होने के कारण तत्त्वज्ञान का भली भांति उदय होता है उदय को प्राप्त होने पर तत्त्वज्ञान को बाध करने वाला कोई भी प्रमाण न होने से और निवृत्त हो कर अविद्या को फिर उत्पन्न करने वाला कोई कारण न होने से उस का तत्वज्ञान शिथिल नही होता । परन्तु वासनाक्षय और मनो·

नाश के दृढ अभ्यास न होने से और भोग देनेवाले प्रवल प्रारब्ध से उस का उस २ समय में वाध होनेसे वायुवाले प्रदेश में स्थित दीपक के समान उसी समय वासनाक्षय और मनोनाश निवृत्ति को प्राप्त होते हैं ।

वसिष्ठजी भी कहते हैं—

"पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि सम्मतः ।
दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि" इति॥

अर्जुनोऽपि—

अर्थः—पूर्वोक्त प्रयत्नों के अभ्यास करने की अपेक्षा यह वासनात्यागरूप प्रयत्न सुमेरुपर्वत को जड से उखाडने से भी विषम और अधिक कष्ट सें सिद्ध होने योग्य है, ऐसा माना है ।

अर्जुन ने भी गीताके अ० ६. श्लो० ३४ में कहा है—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्" इति॥

अर्थः—हे कृष्ण इन्द्रियों को क्षुब्ध करनेवाला विचार से भी जीतने योग्य नही, दृढ अर्थात् विषयवासनाओं से दुर्भेद्य मन अत्यन्त ही चपल है । वायु के समान इसका रोकना मैं दुष्कर मानता हूं ॥

तस्मादिदानीन्तनानां विद्वत्संन्यासिनां ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रम् । वासनाक्षयमनोनाशौ तु प्रयत्नसम्पाद्याविति स्थितम् । ननु केयं वासना ? यस्याः क्षयाय प्रयतितव्यमिति चेत्तत्स्वरूपमाह वसिष्ठः—

अर्थः—ऐसा है इस लिये इस समय के विद्वत्संन्यासियों को ज्ञान की केवल अनुवृत्ति और वासनाक्षय, और मनोनाश

प्रयत्न करके साध्य है यह बात सिद्ध हुई। जिस के क्षय के लिये यत्न करने की आवश्यकता है यह वास ना क्या वस्तु है? ऐसी शङ्का पर महामुनि वसिष्ठ जी उस का स्वरूप कहते हैं:—

"दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्त्तिता॥
भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः।
भवत्याशु महाबाहो? विगतेतरसंस्मृतिः॥
तादृग्रूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः।
संपश्यति यदेवैतत् सद्वस्त्विति विमुह्यति॥
वासनावेगवैवश्यात्स्वरूपं प्रजहाति तत्।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मोहवशादिव" इति॥

अर्थः—पूर्वापर विचारको न करके दृढ भावना से पदार्थ का जो ग्रहण है उसे वासना कहते हैं। हे महावाहो? तीव्र संवेग से जो स्वयं भावना करता (जैसा कि मैं शरीररूप हूं,) वह रूप वह पुरुष तत्काल हो जाता है, और इतर स्मृति उस की जाती रहती है। वासना के वश में करने से पुरुष स्वयं जिस वासनानुसार निश्चय कर लिया हो वही रूप होता है, और स्वयं निश्चय किया हुआ वही ठीक वस्तु है। ऐसा मोह को प्राप्त होता है। वासना के वेग में विवश होने से अपने रूप को भूल जाता है। जैसे मदिरा पीए हुए पुरुष नशे के वश में हो यथार्थ नहीं देखता उसी प्रकार वासना से दूषित हुई दृष्टि वाला पुरुष सब पदार्थों को भ्रान्ति युक्त देखता है। वास्तविक रूप को नहीं देख सकता है।

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मभाषाभेदतद्गतापशब्दसुशब्दादिषु प्राणिनामभिनिवे-

शः सामान्यत उदाहरणम् । विशेषस्तु भेदानुक्त्वा पश्चादुदाहरामः । यथोक्तां वासनामभिप्रेत्य बृहदारण्यके श्रूयते—

"स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते" इति ।

वासनाभेदो वाल्मीकिना दर्शितः—

अर्थः—अपने देश, आचार कुल, धर्म, भाषा, और भाषामें के अपशब्द, साधु शब्द आदि में जो प्राणियोंका आग्रह देखने में आता उसे वासना का सामान्य उदाहरण समझना। उस का विशेष उदाहरण वासना के भेदों को कह कर पीछे देंगें। इस प्रकार की वासना को स्वीकार कर बृहदारयक उपनिषद में कहा है कि—

"वह जैसी वासना वाला होता वैसा सङ्कल्प करता जैसा सङ्कल्प करता वैसी क्रिया करता और जैसी क्रिया करता वैसा उसे फल मिलता है।

वासना का भेद वाल्मी की जी ने योगवासिष्ठ मे बतलाया है।

"वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ।
अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः
पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता सम्भृष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते" इति ॥

अर्थः—शुद्धवासना तथा मलिनवासना इस भांति दो प्रकार की वासना है। इन मे से मलिनवासना जन्म का कारण है।

और शुद्धवासना जन्म को नष्ट करने वाली है। अज्ञान से अतिशय घन आकाश वाली और घन अहंकार वाली मलिनवासना को विद्वान् पुरुषों ने पुनर्जन्म देनेहारी कहा है। भूने एहु बीज के समान पुनर्जन्मरूप अङ्कुर को छोड कर स्थित तथा जिस के द्वारा ज्ञेय वस्तु का ज्ञान होता है वह शुद्धवासना देहके निर्वाहार्थ धारण कियी जाती ऐसा विवेकी पुरुष कहते हैं।

देहादीनां पञ्चकोशानां तत्साक्षिणश्चिदात्मनश्च भेदावरकमज्ञानं तेन सुष्ठु घनीभूत आकारो यस्याः सेयमज्ञानसुघनाकारा। यथा क्षीरं तक्रमेलनेन घनीभवति। यथा वा विलीनं घृतमत्यन्तशीतलप्रदेशे चिरमवस्थापितं सुघनीभवति तथा वासना द्रष्टव्या। घनीभावश्चात्र भ्रान्तिपरम्परा। तां चाऽऽसुरसम्पद्विवरणे भगवानाह—

अर्थः—अन्नमयादि (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय) तथा इन का साक्षी आत्मा के भेद को ढाकने वाला अज्ञान है। उस अज्ञान से उस का आकार अतिघनीभूत हो गया है। इस लिये मलिनवासना को "अज्ञानसुघनाकारा" ऐसा विशेषण दिया है। जैसे तक्र मिलाने से दूध गाढा हो जाता। जैसे अत्यन्त शीतल स्थान में रक्खा हुआ पतला घृत जम कर गाढा हो जाता उसी प्रकार वासना के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये अर्थात् भ्रान्ति की परम्परा से वासना भी घनीभाव को पहुंच जाती है। इस भ्रान्ति की परम्परा रूप वासना के घनीभाव का निरूपण, भगवद्गीता के १६ अ० श्लोक ७ १२ तक में आसुरी सम्पत्ति के विचार के

प्रसङ्ग में किया है ।

"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहादुगृहीत्वाऽसदुग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्" इति ॥

अहङ्कारश्च तत्रैवोदाहृतः ।

अर्थः—आसुर स्वभाववाले लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति किस भांति की होती हैं, सो नहीं जानते । और उनमें शौच, आचार, सत्य, ये कोई नहीं होते । वे इस जगत् को असत्य (नहीं है सत्य वेदादिकों का प्रमाण जिस में) अप्रतिष्ठ [नहीं है धर्माधर्मरूप व्यवस्था जिस में] और अनीश्वर (नहीं हैं ई-श्वर कर्त्ता जिस का) कहते हैं । और यह कहते हैं कि परस्पर काम से प्रेरित स्त्रीपुरुषों के संयोग से जगत् उत्पन्न हुआ है और कोई कारण नहीं है । मलिनचित्त, अल्पबुद्धि क्रूरकर्म करनेहारे, शत्रु के भांति जगत् के क्षय करने के लिये उत्पन्न होते हैं । दुःख से पूर्ण होने के योग्य अभिलाष को अङ्गीकार कर दम्भ, मान, और मद से युक्त अशुचि (अपवित्र) व्रत के

करने हारे वे अशुभ विचार को स्वीकार करके सर्वत्र प्रवृत्त होते हैं। वे मरणकाल तक चिन्ता से व्याप्त कामोपभोग ही एक परम पुरुषार्थ है दूसरा कोई नहीं ऐसा मानते हैं। अनेक आशा-रूप पाशों [फांसों] से बन्धे, कामक्रोध में तत्पर, वे कामोप-भोग के लिये अन्याय से धनोपार्जन की इच्छा करते हैं। अहङ्कार का उदाहरण भी वहीं (गी० अ० १६ श्लो० १३–१६) कहा है।

"इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ" इति॥
एतेन पुनर्जन्मकारणत्वमुदाहृतं भवति, तच्च पुनः प्रपञ्चितम्।

अर्थः—यह मैने आज पाया, इस मनोरथ (अभिलषित) को पाउंगा। यह वस्तु मेरे पास है, और, यह भी धन फिर मुझ को मिलेगा। इस शत्रुको मैने मारा, औरों को भी मारूंगा। मैं ईश्वर [समर्थ] हूं मैं भोगी (भोग्य वस्तु को उपभोग करनेवाला) हूं, सिद्ध [कृतकृत्य] हूं, बलवान हूं, और सुखी हूं, धनी हूं, और उत्तम कुल में उत्पन्न हवा हूं मेरे तुल्य इस संसारमें कौन हे। मैं यज्ञ करता हूं दान देता हूं और प्रसन्न रहता हूं इस प्रकार अज्ञान से अत्यन्त मोहित अनेक भांति के चित्त विकारों कर के भ्रान्त, मोह ('अज्ञान) रूप जाल से फँसे हुए विषय

भोगों में अत्यन्त अनुरक्त वे, अपवित्र नरक में पडते हैं । इत्यादि नाना प्रकार की पुनर्जन्म में कारणता देखलायी है और फिर से भी उसी का विस्तार सेवर्णन (श्लो० १७-२०) करते हैं-

"आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहं कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु ।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्" इति॥
शुद्धवासना तु ज्ञातज्ञेया । ज्ञेयस्वरूपं त्रयोदशाध्याये भगवानाह—

अर्थः—अपने आप अपनी स्तुति (तारीफ) करनेवाले, स्तब्ध पूज्यों का सत्कार न करनेवाल, धन से उत्पन्न हुए मान-मदों करके युक्त, वे पाखण्डपने से विधिपूर्वक यज्ञ नहीं करते है। अहङ्कार, बल, गर्व, काम, एवं क्रोध को भली भांति प्राप्त हुए वे अपने और दूसरों के शरीर में स्थित जो मैं तिस (मेरे) साथ द्वेष करते हुए निन्दा मे प्रवृत्त होते हैं। सन्मार्ग के शत्रु क्रूर, अशुभ कर्म करने हारे, उन नीच मनुष्यों को मैं सदा इस संसार में आसुरी योनि के वीच जन्म देता हूं । हे कौन्तेय (अर्जुन) वे मूढ प्रति जन्म में असुर योनि को प्राप्त होते हैं मुझ को न पाकर अधमा गति को जाते हैं । ज्ञेय की ज्ञान करानेवाली शुद्धवासना है ।

ज्ञेयवस्तु का स्वरूप भगवान ने गीता के १३अ०में कथन किया है—

"ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्मृतम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः पारमुच्यते" इति।

अर्थः—जिस को जान कर मोक्ष प्राप्त होता उस ज्ञेय (ज्ञान करने योग्य वस्तु) को कहता हूं वह अनादि परब्रह्म सत् (विद्यमान) असत् (अविद्यमान) से विलक्षण कहा जाता है। उस से चारो ओर हाथ, पैर, आंख, शिर, मुह, और कान, हैं। वह लोक में सब को व्याप्त करके टिका है। वह सारे इन्द्रियों के गुणों का आभास अर्थात् प्रकाश स्थान होकर भी सब इन्द्रियों से हीन है। सङ्ग रहित होकर भी सारे ब्रह्मण्ड को धारण करने हारा है, और सत्त्व रज तम गुणों से अलग भी सत्त्वादिगुणों का भोक्ता है। वह सारे भूतों के बाहर, और भीतर, चर और अचर है, सूक्ष्म होनेसे जानने के योग्य नही है, दूर है और निकट भी है। वह भूतों के विषय में अविभक्त (अलग बटा हुआ नहीं भी बटासा) स्थित है और सारे भूतों का पोषण संहार और उत्पत्ति करनेहारा है वह सूर्य चन्द्र आदिक ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) है, तमसः पर कहिये अज्ञान से परे कहा जाता है।

अत्र तटस्थलक्षणस्वरूपलक्षणाभ्यामवगन्तुं सोपाधिकनिरूपाधिकस्वरूपद्वयशून्यमुपन्यस्तम् । कदाचित्सम्बन्धि सद्यल्लक्षयति तत्तटस्थलक्षणम् । यथा देवत्तदत्तगृहम् । तथा कालत्रयसम्बन्धि सद्यल्लक्षयति तत्स्वरूपलक्षणम् । यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति ।

अर्थः—उपरोक्त श्लोकों में ज्ञेय वस्तु को तटस्थ और स्वरूपलक्षण द्वारा जानने के लिये उपाधि सहित और उपाधिरहित इस दो प्रकार के ज्ञेय स्वरूप का कथन किया है । जो लक्ष्य के साथ अमुक समय मे सम्बन्ध वाला होकर लक्ष्य वस्तु का बोधन करे उस का नाम तटस्थ लक्षण है जैसे पटनेवाले देवदत्तका घर हैं ? इस वाक्य में पटना देवदत्त के घर के साथ अमुक समय में ही सम्बन्धवाला हो कर इतर घर से अलग हो देवदत्त के गृहरूप लक्ष्य को बतलाता है अतएव वह तस्थलक्षण कहलाता है । सदा लक्ष्य के साथ ही रह कर लक्ष्य को अन्य पदार्थों से अलग कर बतलाने वाला वह स्वरूप लक्षण है जैसे किसी ने किसी बालक से पूच्छा कि इस आकाश में स्थित ज्योतिर्गणों में चन्द्रमा कौन है ? इस के उत्तर में स्थूलविचार से उस ने कहा कि जिस का सब से अधिक प्रकाश है वह चन्द्रमा है इस वाक्य में बालक को तारागण से अलग हुए चन्द्रमा का बोध कराता है, और प्रकृष्ट प्रकाश सदा चन्द्रमा के साथ ही रहता है, यह स्वरूप लक्षण है ।

ननु त्यक्तपूर्वापरविचारत्वं वासनालक्षणमुक्तम् । ज्ञेयज्ञानं च विचारजन्यमतो न शुद्धायां तल्लक्षणमस्ति । मैवम् ।

अर्थः—शङ्का—पूर्वापर विचाररहित स्फुरण का हेतुरूप संस्कार को तुम वासना कहते हो और ज्ञेय ज्ञान तो विचार जन्य है, अत एव उस में शुभवासना का लक्षण सम्भव नहीं होता है।

लक्षणे दृढभावनयेत्युक्तत्वात् । यथा बहुषु जन्मसु दृढभावितत्वेनास्मिन्जन्मनि विनैव परोपदेशमहङ्कारममकारकामक्रोधादयो मलिनवासना उत्पद्यन्ते, तथा प्राथमिकस्य बोधस्य विचारजन्यत्वेऽपि दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारभाविते तत्त्वे पश्चाद्वाक्ययुक्तिपरामर्शमन्तरेणैव पुरोवर्तिघटादिवत्सहसा तत्त्वं परिस्फुरति तादृश्या बोधानुवृत्त्या सहित इन्द्रियव्यवहारः शुद्धवासना । सा च देहजीवनमात्रायोपयुज्यते । न तु दम्भदर्पाद्यासुरसम्पदुत्पादनाय, नापि जन्मान्तरहेतुधर्माधर्मोत्पादनाय । यथा भृष्टानि व्रीह्यादिबीजानि कुसूलपूरणमात्रायोपयुक्तानि न रुचिरान्नाय, नापि सस्यनिष्पत्तये, तद्वत् ।

अर्थः—समाधान—वासनालक्षण में "दृढभावनया" (दृढ अभ्यास द्वारा) ऐसा पद दिया है, इस लिये जैसे अनेक जन्मों में दृढ अभ्यास किया हुआ होने से इस जन्म में अन्य के उपदेश विना ही, अहङ्कार, ममकार, काम, क्रोध, आदि मलिन वासनायें उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार प्रथम ज्ञान विचारद्वारा उत्पन्न होने पर भी उस का चिर काल अविच्छिन्नता से (निरन्तर) आदरपूर्वक सेवन करने से परमतत्त्व की भावना दृढ होने के अनन्तर

महावाक्य और युक्तियों का स्मरण किये विना भी सम्मुख रक्खे हुए घडे के समान आत्मतत्त्व फुरता है। इस प्रकार के बोध की अनुवृत्ति सहित जो इन्द्रियव्यवहार, वह शुद्धवासनारूप है, वह शरीर के जीवन के लिये ही उपयोगी है । वह दम्भ, दर्प आदिक किसी आसुरी सम्पत्ति को नहीं पैदा करती, उसी प्रकार जन्मान्तर के कारणरूप धर्म, अधर्म को भी उत्पन्न करती नहीं। जैसे भूना हुआ व्रीहि आदि वीज केवल कोठी भरने ही के काम में आता किन्तु उस का रुचिकर अन्न नहीं होता उसी प्रकार उस में से बीज अन्न भी नहीं उपजता, उसी तरह शुभवासना भी भृष्टबीज की तरह अर्थात् वह शरीर निर्वाह के सिवाय आसुरी सम्पत्ति की उत्पत्ति या पुनर्जन्म का कारण नहीं हो सकती।

मलिना च वासना त्रिविधा । लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति । सर्वे जना यथा मां न निन्दन्ति यथा वा स्तुवन्ति तथैव सर्वदा चरिष्यामीत्यभिनिवेशो लोकवासना । तस्याःसम्पादयितुमशक्यत्वान्मलिनत्वम्— तथाहि—

"कोन्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्"

इत्यादिना बहुधा वाल्मीकिः प्रपच्छ ।

"इक्ष्वाकुवंश प्रभावो रामो नाम जनैः श्रुतः"

इत्यादिना प्रत्युत्तरं नारदो ददौ । तादृशस्यापि रामस्य पतिव्रताशिरोमणिभूतायां जगन्मातुः सीतायाश्च श्रोतुमशक्यो जना-

पवादः सम्प्रवृत्तः । किमु वक्तव्यमन्येषाम् ।

अर्थः—लोकवासना शास्त्रवासना और देहवासना इस भान्ति मलिनवासना तीन प्रकार की है। तहां सब लोग मेरी स्तुति करें कोई भी मेरी निन्दा न करे ऐसा मैं आचरण करूंगा इस प्रकार के अभिनिवेश को लोकवासना कहते हैं ऐसी वासना का सम्पादन करना कठिन होने से इस का नाम मलिनवासना है क्यों कि श्रीवाल्मीकीजी ने नारद जी से पूछा कि इस संसार में अत्यन्त गुणवान और कीर्तिमान् कौन है? इस के उत्तर में नारद ने कहा कि, ऐसा तो इक्ष्वाकुवंश में अवतीर्ण श्रीरामजी हैं, ऐसे श्रीरामचन्द्रजी की स्त्री पतिव्रताओं में मुकुट रूपा जगन्माता श्रीसीता देवीके ऊपर भी ऐसा अपवाद लगा जिसे लोग सुन न सके। जब कि ऐसों की यह दशा हुई फिर दूसरों की क्या कहना ?

तथा देशविशेषेण परस्परं निन्दाबाहुल्यमुपलभ्यते। दाक्षिणात्यैर्विप्रैरौत्तरीया वेदविदो विप्रा मांसभक्षिणो निन्द्यन्ते । औत्तरेयैश्च मातुलसुतोद्वाहिनो यात्रासु मृद्भाण्डवाहिनो दाक्षिणात्या निन्द्यन्ते। बह्वृचा आश्वलायनशाखां कण्वशाखायाः प्रशस्तां मन्यन्ते । वाजसनेयिनस्तु वैपरीत्येन । एवं स्वस्वकुलगोत्रबन्धुवर्गेष्टदेवतादिप्रशंसा परकीयनिन्दा च, आविद्वदङ्गनागोपालं सर्वत्र प्रसिद्धा। एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—उसी तरह देशभेद के कारण परस्पर निन्दा प्रायः देखने में आती है—दक्षिणदेशस्थ ब्राह्मण उत्तर देशस्थ वेद

जाननेहारे ब्राह्मणो को मांस खानेवालेहैं कहकर निन्दा करते हैं उसी तरह उत्तरदेशस्थ ब्राह्मण दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंको "वे मातुल (मामी) की लडकी से ब्याहनेवाले है तथा मुसाफरीमें माटीके बर्तनों को साथ लेकर जाते हैं यो कहकर निन्दा करतें । ऋग्वेदी ब्राह्मण आश्वलायन शाखाको कण्वशाखा से श्रेष्ठ मानते हैं, तो वाजसनेयी शाखा के पढने वाले यजुर्वेदी द्विज इस के उलटा मानते हैं अर्थात् आश्वलायन शाखा से कण्व को श्रेष्ठ मानते हैं इस भान्ति अपने २ कुल, गोत्र, बन्धु वर्ग को इष्ट देव की प्रशंसा तथा अन्य कुल गोत्र की निन्दा, विद्वान् से लेकर अत्यन्त पामर गोआलेकी जाति तक सर्वत्र यह लोकप्रसिद्ध वातहै।

इसी अभिप्राय से कहा है कि—

"शुचिः पिशाचो विचलो विचक्षणः क्षमोऽप्यशक्तो बलवांश्च दुष्टः ।
निश्चित्तचोरः सुभगोऽपि कामी को लोकमाराधयितुं समर्थः" इति ।

अर्थः—पवित्र और पिशाच के समान, चपल और विचक्षण शक्तिमान् तथा अशक्त, बलवान् तथा दुष्ट, चित के ठिकाना विना चोर, सुन्दर, औंर कामी ऐसा कौन पुरुष लोक को प्रसन्न करने में समर्थ है ? कोई भी नही ।

"विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः ।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्प" इति च ।

अर्थः—जिससे सब लोग प्रसन्न ही रहें कोई भी अप्रसन्न न हो ऐसा कोई भी उपाय नही इस लिये सब प्रकार से जिस में

अपनी भलाई हो वैसे काम को करे। बहुत बोलने वाला मनुष्य क्या कर सकता तैसा है?

अतो लोकवासनाया मलिनत्वमभिप्रेत्य योगीश्वरस्य तुल्यनिन्दास्तुतित्वं मोक्षशास्त्रेषु वर्णितम्। शास्त्रवासना त्रिविधा। पाठव्यसनं शास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति। पाठव्यसनं भरद्वाजेऽवगम्यते। स हि पुरुषायुषत्रयेण बहून् वेदानधीत्येन्द्रेण चतुर्थायुषि प्रलोभितस्तत्रापि परिशिष्टवेदाध्ययनायोद्यमं चकार। तस्यापि पाठस्याशक्यत्वान्मलिनवासनात्वम्। तां चाशक्तिमिन्द्रः प्रतिबोध्य पाठान्निवर्त्त्य ततोऽप्यधिकाय पुरुषार्थाय सगुणब्रह्मविद्यामुपदिदेश। तदेतत्सर्वं तैत्तिरीयब्राह्मणे द्रष्टव्यम्। तथैवाऽऽत्यन्तिकपुरुषार्थाभावाद्बहुशास्त्रव्यसनस्य मालिन्यं कावषेयगीतायामुपलभ्यते।

"कश्चिन्मुनिर्दुर्वासा बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्तुमागतस्तत्सभायां नारदेन मुनिना भारवाहिगर्दभसाम्यमापादितः कोपात्पुस्तकानि लवणार्णवे परित्यज्य महादेवेनाऽऽत्मविद्यायां प्रवर्त्तितः" इति। आत्मविद्या चानभिमुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते। तथा च श्रुतिः—
"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इति।

अभ्यत्राप्युक्तम् ।

अर्थः—इस प्रकार लोकवासना को मलिन कहकर मोक्ष शास्त्र में योगीश्वर की निन्दा और स्तुति में समानता कथन कियी है।

शास्त्र वासना भी तीनप्रकार की है १ पाठव्यसन २ शास्त्रव्यसन और ३ अनुष्ठानव्यसन। इनमे से पाठव्यसन भरद्वाजमुनि में देखने में आता है। इन भरद्वाज मुनि ने अपनी ३०० वर्ष की पूरी आयु पर्यन्त बहुत वेदों को पढा, तब इन्द्रने आकर १०० वर्ष की आयु देने का लालच बतलाया, इसने आयु से भी शेष रहे वेदों के अध्ययन के लिये प्रयत्न करने का निश्चय किया। उस के बाद इन्द्र ने उन को समझा कर पाठ करने से रोक उन्हे अधिक पुरुषार्थ करने के लिये सगुण ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। यह सब वार्त्ता तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्ट है। बहुत शास्त्रों का व्यसन भी मोक्षरूप आत्यन्तिक पुरुषार्थ का हेतु न होने से उस की भी मलिनता कावषेय गीता में पायी जाती है, वह इस रीति से—कोई दुर्वासा नाम के मुनि अनेक प्रकार के पुस्तकों का भार साथ लेकर महादेव जी को नमस्कार करने आये, तब नारदमुनि जो महादेवजी की सभामें पहिले से बैठे थे। उन्हों ने दुर्वासा मुनि को भार ढोने वाले गदहे की भांति सभा के बीच ठहराया। इस से दुर्वासा मुनिने क्रोध के वश सब पुस्तकें खारसमुद्र में फेक दियी और महादेवजीकी सभामें आगमन, किया तब महादेवजी ने उन्हें अध्यात्मविद्या में प्रवृत्ति कराई। यह आत्मविद्या, जिसकी अन्तर्मुख वृत्तियां हुई नहीं, तथा जिस ने सद्गुरु की कृपा प्राप्त नहीं कियी ऐसे पुरुषको किसी काल में भी केवल वेदशास्त्र के अभ्यास से प्राप्त नहीं होती। यह आत्मा शास्त्रद्वारा, ग्रन्थ के अर्थ को धारण कराने वाली शक्ति

द्वारा, या बहुत सुनने से प्राप्त नहीं होती ऐसी श्रुति है। अन्यत्र भी कहा है—

" बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् " इति॥

अर्थ—अनेक शास्त्रों की कथारूप कन्था के वार २ चर्वण से क्या फल हैं ? तत्त्वज्ञ पुरुष तो प्रयत्न द्वारा आन्तर ज्योति का अन्वेषण करें (आन्तरज्योति को खोजें)।

"अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा " इति च॥

अर्थः—चारो वेदों और अनेकशास्त्रों के पढनेपर भी, जैसे अनेक पाक में फिरती हुई करछी (दर्वी) अन्नके रस को जानती नहीं, वैसें ही, अन्तर्मुख वृत्ति रहित और गुरु कृपाशून्य पुरुष ब्रह्मतत्त्व को नही जानता।

नारदश्चतुः षष्टिविद्याकुशलोऽप्यनात्मवित्त्वेनानुतप्तः सनत्कुमारमुपससाद इति छन्दोगा अधीयते। अनुष्ठानव्यसनं विष्णुपुराणे निदाघस्योपलभ्यते। वासिष्ठरामायणे दाशूरस्य। निदाघोहि ऋभुणा पुनः पुनर्बोध्यमानोऽपि कर्मश्रद्धाजाड्यं चिरं न जहौ। दाशूरश्चात्यन्तश्रद्धाजाड्येनानुष्ठानाय शुद्धप्रदेशं भूमौ न क्वाप्युपलेभे। अस्याश्च कर्मवासनायाः पुनर्जन्महेतुत्वान्मलिनत्वम्। तथाचाऽऽथर्वणिका अधीयते—

अर्थः—नारदमुनि ६४ कला विद्याओं मे कुशल थे। तौभी ब्रह्मवित्, न होने से व्याकुल हो सनत्कुमार मुनिकी शरण में

गये यह बात छान्दोग्य उपनिषद् में है। अनुष्ठान व्यसन निदाघजी का विष्णुपुराणमें वर्णित है । दाशूरके पुत्र निदाघको ऋभु के बार २ बोध कराने पर भी चिरकाल तक उन्होंने कर्म में जडश्रद्धा को नहीं त्याग दिया। दाशूरको अत्यन्त श्रद्धा की जडता के कारण यज्ञ करने योग्य भूमि पृथिवी पर कहीं नहीं मिली । यह बात योगवासिष्ठ रामायण में है । यह कर्मवासना पुनर्जन्मकी हेतुरूप होने से मलिन है । अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद् में भी कहा है कि—

"प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनेव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ इष्टापूर्तं मन्यमन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेनानुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति "॥

भगवताप्युक्तम् ।

अर्थः—जिन यज्ञोंमें अठारह प्रकारके (१६ऋत्विक् १ यजमान और यजमानकी स्त्री) नीच कर्म कहे हैं । सो ये यज्ञरूप नौकायें अदृढ हैं अर्थात इन से संसारसागर को पार नहीं पा सकते। जो मूढ लोग इस उक्त कर्म को परमकल्याण मार्ग या

मोक्ष है, ऐसा सर्वोत्कृष्ट मानकर अच्छेप्रकार आनन्द मानते हैं। वे बार २ ही वृद्धावस्था के साथ होनेवाले मृत्यु को प्राप्त होते या अर्थात नष्ट भ्रष्ट होते हैं । अविद्या के बीच डूबे हुए आपे को धीर, और पण्डित मानने हारे, अधम, जैसे नेत्रहीन पुरुष द्वारा अन्य अन्धे पुरुष चलते इस प्रकार वे मूढ (कर्म करनेहारे) वारवार जन्ममरणरूप गढे (कुमार्ग) में गिरते हैं । बहुत प्रकारवाली अविद्या में ऐसे बालक (अज्ञलोग) आपेको कृतकृत्य मानते हैं।राग का आश्रयकर जिसी किसी कर्म में आसक्त होकर उस कर्म के फलप्राप्ति के हेतुसे आतुर कर्म फल के क्षय होने से उस परमतत्त्व मोक्ष से गिरजाते है । जो असन्त मूढ कर्मी पुरुष इष्टापूर्त्त (लौकिक फलभोग की इच्छा) को ही श्रेष्ठ मानते, कर्म के सिवाय अन्य उपायों को श्रेष्ठ नहीं जानते । उनमे वे स्वर्ग में सुकृत द्वारा तज्जन्य तुच्छ सुख को भोगकर इस मनुष्य लोक में या इस से भी नीच लोक में प्रवेश करते हैं।

श्री कृष्णजी ने भी भगवद्गीता के अ० २ । श्लो० ४२ ४६ में कहा है कि—

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ? नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ?।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः" इति ॥
अर्थः—हे अर्जुन! वेदों में अनेकभान्ति से दिखाये हुए जो स्वर्ग आदिक फल हैं उन में अभिलाषा करनेवाले, कर्मकाण्ड से अन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है ऐसा भाषण करनेहारे विविध-कामनाओं करके कर्म में प्रवृत्त, स्वर्गवास ही को परम पुरुषार्थ माननेवाले ऐसे जो अज्ञानी लोग वे केवल ऐश्वर्यों के भोग ही में दृष्टि देकर नाना क्रियाओं के आडम्बरों से वढी हुई जन्म केद्वारा कर्मफलों को देनेवाली वाणी को पल्लवित (वढाकर) कहते हैं । परन्तु भोग और ऐश्वर्य में फसे हुए तथा-कर्मकाण्डों करके खींची है चित्तवृत्ति जिनकी ऐसों के अन्तः करण में दृढप्रवृत्तिवाली बुद्धि नही होती है ॥ वेद सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुणरूप जो संसार के विषय सुख उन को प्रकाश करने वाले हैं। हेअर्जुन ? तू तो निष्काम हो और परस्परविरोधी सुखदुःखादिपदार्थों से मुक्त हो, नित्यधैर्य को धारणकर, यहपदार्थ कैसे मिलेगा यह कैसे रहेगा इस चिन्ता को छोड और आत्मवान् अर्थात् प्रमाद से रहित हो । छोटे २ जलाशयों से होनेवाले जो काम होतें वे चारों ओर से भरे हुए बडे भारी जलाशय में जैसे सहज मे होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण वेदों से होने वाले जो प्रयोजन वो ब्रह्म जाननेवाले को सहज में हो जाते हैं ।

"दर्पहेतुत्वाच्छास्त्रवासनाया मलिनत्वम् । श्वेतुकेतुरल्पेनैव कालेन सर्वान् वेदानधीत्य दर्पेण पितुरपि पुरतोऽविनयं चकारेति छन्दोगाः षष्ठाध्याये पठन्ति। तथा बालाकिः कानि चिदुपासनान्यवगत्य दृप्त उशीनरादिषु बहुषु देशेषु दिग्विजयेन बहून् विप्रानवज्ञाय काश्य-

मजातशत्रुं ब्रह्मविच्छिरोमणिमनुशासितुं धार्ष्ट्यं चकारेति कौषीतकिनो वाजसनेयिनश्चाधीयते। देहवासनाऽऽत्मत्वगुणाधानदोषापनयनभ्रान्तिभिस्त्रिविधा। तत्राऽऽत्मत्वं भाष्यकार उदाजहार—

"देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता लौकायितिकाश्च प्रतिपन्नाः" इति ॥

अर्थः—शास्त्रवासना गर्व का कारण होनेसे मलिन है, श्वेतकेतु ने थोडे समय में सब वेदों का अभ्यास कर गर्व से अपने पिता के समीप भी अविवेक किया, यह वार्त्ता छान्दोग्य उपनिषद् में हैं। बालाकि ने कई एक उपासना ओं को जाननेसे गर्विष्ठ होके, उशीनर आदि अनेक देशों में दिग्विजय द्वारा बहुत से ब्राह्मणों का अपमान कर अन्त में काशी में ब्रह्मज्ञ शिरोमणि अजातशत्रु नामक राजा को भी उपदेश देनेके लिये अपनी ढिठाई (धृष्टता) प्रकट कियी, यह बात बृहदारण्यक एवं कौषीतकी उपनिषद् में प्रसिद्ध है। देहवासना भी देहात्मभाव, गुणाधान, और दोषापनयन भ्रान्तिद्वारा तीन प्रकार की है। — " चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है, इस प्रकार पामर लोग और लौकायतिक—चार्वाक के अनुयायी मानते हैं। इस प्रकार देह में आत्मापनका उदाहरण भगवान् शङ्कराचार्य ने शारीरक भाष्य में दिया हैं।

"सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यारभ्य "तस्मादन्नं तदुच्यते" इत्यन्तेन ग्रन्थेन तामेव प्राकृतप्रतिपत्तिं तैत्तिरीयाः स्पष्टीकुर्वन्ति। विरोचनः प्रजापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वचित्त-

दोषेण देहात्मबुद्धिं दृढीकृत्यासुरान् सर्वाननु-शशास इति छन्दोगा अष्टमाध्याये समाम-नन्ति। गुणाधानं द्विविधम्। लौकिकं शास्त्री-यं चेति । समीचीनशब्दादिसम्पादनं, लौकि-कम् । कोमलध्वनिना गातुमध्येतुं वा तैलपा-नमरीचभक्षणादिषु लोकाः प्रयतन्ते। मृदुस्प-र्शाय लोकाः पुष्टिकरावौषधाहारावुपयुञ्ज-ते । लावण्यायाभ्यङ्गोद्वर्तनदुकूलालङ्कारानुप-सेवन्ते । सौगन्ध्याय स्रगालेपने धारयन्ति । शास्त्रीयं गुणमाधातुं गङ्गास्नानशालिग्राम-तीर्थादिकं सम्पादयन्ति ।

अर्थः—सो यह पुरुष अन्न रसका विकाररूप है। यहां से आरम्भ कर "इस लिये उसे अन्न कहते है" यहां तक तैत्तिरी-योपनिषद्में भी उसी प्राकृत लोगों का मत दिखलाया है। विरो-चन कों ब्रह्मा ने उपदेश दिया उस पर भी उसने अपने अन्तः करण के दोष से देहात्म बुद्धि को दृढकर उसको असुरों को उपदेश दिया, यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् के अ० ८ में स्पष्ट है। गुणाधान (आपे में जो गुण न हो उस को प्राप्त करना) शास्त्रीय और लौकिक इस भांति दो प्रकारका है । कण्ठ में सुन्दर स्वर का सम्पादन आदिक लौकिक गुणाधान है । को-मल स्वर से गान या अध्ययन के लिये तैलपान, मरीच का से-वन, आदि उपायों को बहुत लोग प्रयत्न पूर्वक सेवते हुए देख पडते हैं। बहुत से तो अपने शरीर को मुलायम करने के लिये पुष्टिकारक औषध और आहार का सेवन करते हैं। सुन्दररूप होनेके लिये अभ्यंग और उवटन को सेवते हैं। उसी प्रकार सुन्द-

वस्त्र और अलंकारों को धारण करते हैं। शरीर को सुगन्धवाला करने के लिये चन्दन और पुष्पमालाओं को धारण करते हैं। इन सब की लौकिकगुणाधान में गिनती है। शास्त्रीय गुण को हासिल करने के लिये गंगास्नान और शालिग्राम के चरणामृत को सेवन करते हैं।

दोषापनयनं च चिकित्सकोक्तैरौषधैर्मुखादिप्रक्षालनेन च लौकिकं, शौचाचमनाभ्यां वैदिकमित्युभयविधम्। अस्याश्च देहवासनाया मालिन्यं वक्ष्यते। देहस्याऽऽत्मत्वं तावदप्रामाणिकत्वादशेषदुःखहेतुत्वाच्च मलिनत्वम्। अस्मिंश्चार्थे पूर्वाचार्यैः सर्वैरपि पराक्रान्तम्। गुणाधानं च प्रायेण न पश्यामः। प्रसिद्धा एव गायका अध्यापकाश्च प्रयतमाना अपि बहवो ध्वनिसौष्ठवं न लभन्ते। मृदुस्पर्शोऽङ्गपुष्टिश्च न नियता। लावण्यसौगन्ध्ये अपि दुकूलस्रगादिनिष्ठे नतु देहनिष्ठे। अतएव विष्णुपुराणेऽभिहितम्।

अर्थः—दोषापनयन (शरीर में के दोषों को दूर करना) भी लौकिक और शास्त्रीय इस भान्ति दो प्रकार का है। तहां वैद्यक में कहे अनुसार औषधों के सेवन तथा मुखप्रक्षालनादि से दोषापनयन को लौकिक दोषापनयन कहते हैं, और शौच आचमन द्वारा शास्त्रीय दोषापनयन कहलाता है। इस देहवासना की मलिनता को कहेंगे। देह को आत्मा जानना यह प्रमाणशून्य और सब दुःखों का कारणरूप होनेसे मलिन है। देह को आत्मा मानने का खण्डन सब ही पूर्वाचार्यों ने अति प्रयत्न से

क्रिया है । गायक और अध्यापक सुन्दरध्वनि होने के लिये प्रयत्न करते हुए भी प्रायः निष्फल होते जाते हैं। शरीर का खूब मुलायम होना और पुष्टि होना यह भी औषधादिक सेवने से ही होजाता ऐसा कोई नियम नहीं । लावण्य और सुगन्धिपन भी वस्त्र अलंकार, पुष्पमाला आदिमें स्थित है, देहमें नहीं,

अत एव विष्णुपुराण में कहा है—

"मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान् मूढो भवति नरकेऽपि सः ।
स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते" इति ॥

अर्थ—मांस, रुधिर, पीव, विष्ठा, मूत्र, रग, मज्जा और हड्डियों के संघातरूप शरीर में जो मूढ पुरुष प्रीतिमान् होता है तो नरक जो वैसेही पदार्थों से भरा रहता है, उसमें भी उसको प्रीतिमान् होना चाहिये । अपने शरीर में स्थित अशुचि दुर्गन्ध करके जिस पुरुष को शरीर में विराग उत्पन्न नहीं होता, उस पुरुष को दूसरा वैराग्यजनक कारण का क्या उपदेश किया जावेगा ।

"शास्त्रीयं च गुणाधानं प्रबलेन शास्त्रान्तरेणापोद्यते " नहिंस्यात्सर्वभूतानि " इत्यस्य "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेनापवादस्तद्वत्प्रबलशास्त्रमेतत् ॥

अर्थः—शौच आचमनादिगुणाधान, उसके विधान करनेवाले शास्त्र की अपेक्षा अधिक बलवान् शास्त्रसे बाधको प्राप्त होता है, जैसे "किसी प्राणी की हिंसा न करे" इस वेदवचन का—"अग्निष्टोम यज्ञ मे पशु का आलम्भन करे"— यह

वाक्य अपवाद है। तैसे शास्त्रीय गुणाधान का अपवादरूप निम्नलिखित शास्त्र वचन है—

"यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः" ॥

अर्थः—जिस को वात, पित्त, और कफ, इन धातुओं का बना हुआ शव (देह) में आत्मबुद्धि है, स्त्री, पुत्रादि में जिस को आत्मबुद्धि है, पृथिवी का विकार रूप प्रतिमा आदि में जिस को पूज्य बुद्धि है, तीर्थबुद्धि जिस को जल में है, परन्तु ऐसी बुद्धि जिस को ज्ञानवान् पुरुष में नहीं है, वही पुरुष भारवाही बैल या गदहा हैं।

"अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते"
इत्यादि।

अर्थः—देह अत्यन्त मलिन है, अर्थात् किसी प्रकार वह शुद्ध हो ऐसा नहीं। और देहस्थ आत्मा अत्यन्त निर्मल है, उस को शुद्धि की अपेक्षा नहीं, ऐसा इन दोनों के भेद को समझ कर किस को शुद्ध करें? किसीको नहीं।

यद्यप्यनेन शास्त्रेण दोषापनयनं प्रतिषिध्यते नतु गुणाधानं, तथाऽपि सति विरोधिनि प्रबलदोषे गुण आधातुमशक्य इत्यर्थाद्गुणाधानस्य प्रतिषेधः। अत्यन्तमालिन्यं चात्र मैत्रायणीयशाखायां श्रूयते ॥

अर्थः—यद्यपि यह वाक्य दोषापनयनका निषेध करता है

गुणाधान का निषेध करता नहीं तथापि जब तक प्रबल दोष विद्यमान रहते तब तक गुणाधान बन नहीं सकता । इस लिये गुणाधान का निषेध भी इस वाक्य से समझ लेना । देह की अत्यन्त मलिनता मैत्रायणी शाखा में दिखलायी है—

" भगवन्नास्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिकादूषिते विण्मूत्रवातपित्तसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन्शरीरे किं कामोपभोगैः " इति ।

अर्थः—हे भगवन् ! इस शरीर को जो हड्डी, चर्म, नस, मज्जा, मांस, शुक्र (बीज) रुधिर, कफ, आंसु, दूषिका (आंख का मैल) आदि से दूषित है और विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त आदिकों का समुदायरूप और दुर्गन्धि वाला है, उस में विषय भोग का क्या प्रयोजन है ? कोई भी नहीं ।

शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्व्यपेतं निरय इव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवबद्धं विण्मूत्र कफपित्तमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्चाऽऽमयैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इव वसुनेति च चिकित्सया च रोगशान्तिर्न नियता । शान्तोऽपि रोगः कदाचित् पुनरुदेति । नवच्छिद्रैर्निरन्तरं स्रवत्सु मलेषु रोमकूपैरसङ्ख्यातैः स्विन्ने गात्रे को नाम स्वदेहमुपायेन प्रक्षालयितुं शक्नुयात् । तदुक्तं पूर्वाचार्यैः ।

अर्थः—यह नरक तुल्य शरीर, मैथुन से उत्पन्न हुआ है । चैतन्यरहित, मूत्र द्वारसे निकला, हड्डियों से व्याप्त, मांस से

लिपटा, चामसे बन्धा, तथा जैसे द्रव्यों से भरा खजाना होने से इन विष्ठा मूत्र कफ पित्त मज्जा मेद वसा और अन्य रोग रूप द्रव्यों से पूर्ण है। दवा से रोगों की निवृत्ति हो ही जाती ऐसा नियम नहीं। और कदाचित् रोग छूट भी जावे तो फिर वह हो जाता है। नौ च्छिद्र (मलत्याग मार्ग, पेशाब करने का यन्त्र, मुंह, नाकके दो छेद, आंख के दो, वा और कान के दो) में से निरन्तर मल निकलता रहता है। और शरीर में पसीना होता है। उस समय भी असंख्यात रोमकूप में से मल निकलता है। ऐसे शरीर को प्रक्षालन आदि उपायों से कौन शुद्ध कर सकता ? कोई नहीं।

पूर्वाचार्य्योंने भी कहा है—

"नवच्छिद्रकृता देहाः स्रवन्ति घटिका इव।
बाह्यशौचैर्न शुध्यन्ति नान्तः शौचं तु विद्यते"॥

अतोदेहवासना मलिना। तदेतन्मालिन्यमभिप्रेत्य वसिष्ठ आह—

अर्थः—जैसे नौ छेदवाले घडे में से जल बाहर गिरता है, उसी प्रकार नौछेदवाले शरीर में से मल बाहर होता। यह शरीर बाह्य शौच (बाहरी सफाई) से शुद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार उस की भीतरी शुद्धि तो है नहीं। इस लिये देहवासना मलिन है।

देहवासना को मलिन समझ कर वसिष्ठ ने भी कहा है:—

"आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः।
इत्येको निश्चयोराम? बन्धायासद्विलोकनात्॥
सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा।
साऽसिपत्रवनश्रेणी या देहोऽहमितिस्थितिः॥

सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी ”
इति ।

अर्थः—पैर से शिर तक मुझ को माता पिता ने ही रचा है। माता पिता से उत्पन्न इस शरीर के सिवाय, अन्य मेरा स्वरूप नहीं । हे राम ? इस प्रकार का एक निश्चय अयथार्थ दृष्टि रूप होने से बन्धन देने वाला है । ‘मैं देह हूं’ ऐसा जो निश्चय है, वह कालसूत्र नामक नरक का मार्ग है । वह ‘अवीचि’ नामक नरक में फासने वाला बडा जाल है, वह ‘असिपत्रवन’ इस नामके नरक की पंक्ति है । सर्व पदार्थों के नाश का समय आने पर भी ‘ मैं देह हूं ’ ऐसी भावना सब प्रयत्नों से भी त्याग करनी । भविष्यत् में कल्याण चाहने वाला पुरुष कुत्ते का मांस लेकर जाते हुए चण्डाली के समान पूर्वोक्त अहम्भाव का स्पर्श भी नही करे ।

“ तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनात्रयमविवेकिना-मुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषो-र्वेदनोत्पत्तिविराधित्वाद्विदुषो ज्ञानप्रतिष्ठा-विरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम्। अतएव स्म-र्यते” ।

अर्थः—लोकवासना, देहवासना, और शास्त्र वासनायें तीन-वासनायें अविवेकी पुरुषको ग्रहण करने योग्य प्रतीत भी हों तो भी वह जिज्ञासु के लिये ज्ञान उत्पत्ति में विरोधी होनेसे और ज्ञानी को स्थिरता की विरोधी होनेसे विवेकी पुरुष इनका सर्वथा त्याग करे ।

इसी लिये योग्यावासिष्ठ में कहाहैं कि—

"लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते" इति॥

अर्थः—लोकवासना, शास्त्रवासना, और देहवासना द्वारा जीव का यथार्थ (ठीक) ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

या तु दम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्रूपा मानसवासना तस्या नरकहेतुत्वान्मालिन्यमतिप्रसिद्धम्। अतः केनाप्युपायेन वासनाचतुष्टयस्य क्षयः सम्पादनीयः। यथा वासनाक्षयः सम्पादनीयस्तथा मनसोऽपि। नच तार्किकवन्नित्यद्रव्यमणुपरिमाणं मनो वैदिका अभ्युपगच्छन्ति। येन मनोनाशो दुःसम्पादनीयः स्यात्। किं तर्हि सावयवमनित्यं सर्वदा जतुसुवर्णादिवद्बहुविधपरिणामार्हं द्रव्यं मनः। तस्य लक्षणं प्रमाणं च वाजसनेयिनः समामनन्ति।

अर्थः—दम्भ दर्प आदि आसुरी सम्पत्तिरूप जो मानस वासना है। वह नरक का हेतु होने से उस की मलिनता तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है, अतएव किसी उपाय से लोक, शास्त्र, देह और मानस इन चार प्रकार की वासनाओं का क्षय करे। जैसे वासनाओं का क्षय कर्त्तव्य है उसी प्रकार मनोनाश भी कर्त्तव्य है।

तर्कशास्त्री लोग मन को नित्य, और अणुरूप मानते हैं इस लिये उन के मत में मन का नाश यद्यपि अशक्य है। तथापि वैदिक पुरुष वैसा मानते नहीं। वे तो अवयव वाले अनित्य और लोह सुवर्ण आदिक के समान बहुत तरह के परि-

णाम पाने योग्य जो द्रव्य वह मन है ऐसा मानते हैं। मन-का लक्षण और प्रमाण वाजसनेयी शाखावाले यों कहते हैं।

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव" इत्येतल्लक्षणम्।

कामादिवृत्तयः क्रमेणोत्पद्यमानाश्चाक्षुषप्रत्यक्षघटादिवत्साक्षिप्रत्यक्षा अतिस्पष्टं भासन्ते तद्वृत्त्युपादानं मन इत्यर्थः।

अर्थः—"काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय ये सब मन ही हैं यह उपर से जैसे घडा आदि पदार्थ चाक्षुप (आंखसे) प्रत्यक्ष से स्पष्ट भासते हैं उसी प्रकार अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली काम आदिक वृत्तियां साक्षिप्रत्यक्ष से स्पष्ट भासती हैं। उन वृत्तियों का उपादान कारण यह मन ही है यह मन का लक्षण हुआ।

"अन्यत्रमना अभुवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्" इति "मनसा ह्येष पश्यति मनसा शृणोति" इत्यादि प्रमाणम्।

अर्थः—मेरा मन अन्यत्र था इस से मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इससे मैंने नहीं सुना। और "यह पुरुष मन से देखता है और मन से सुनता है" यह श्रुति मन के सद्भाव में प्रमाणरूप है।

चक्षुःसंनिकृष्टः स्फीतावलोकमध्यवर्त्ती घटः श्रोत्रसंनिकृष्ट उच्चैःपठितवेदश्च यस्यानवधाने सति न प्रतीयते, अवधाने तु प्रतीयते। तादृशं सर्वविषयोपलब्धिसाधारणकारणम-

न्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयत इत्यर्थः।

"तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाती" त्येतत्तदुदाहरणम्।

अर्थः—नेत्र इन्द्रिय के समीप बहुत प्रकाश में रहने वाला घडा और कान के पास ऊंचे स्वर से पढने से वेद जिस के अवधान से प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिस की अनवधानता से प्रतीत न हो वैसे सब विषयों के ज्ञान का जो साधारण कारण अन्वय व्यतिरेक रीति से प्रतीत होता है, वह मन है। "पीठ पर से हुए स्पर्श को मन से जानता है" यह मन का उदाहरण है।

यस्माल्लक्षणप्रमाणाभ्यां सिद्धं मनस्तस्मात्तदेवमुदाहरणीयम्। पृष्ठभागेऽप्यन्येनोपस्पृष्टो देवदत्तो विशेषेण जानाति हस्तस्पर्शोऽयमङ्गुलिस्पर्शोऽयमिति। नहि तत्र चक्षुः प्रसरति, त्वगिन्द्रियं तु मार्दवकाठिण्यमात्रोपक्षीणम्। तस्मान्मन एव विशेषज्ञानकारणं परिशिष्यते। तच्च मननान्मन इति चिन्तनाच्चित्तमिति चाभिधीयते। तच्च चित्तं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रकाशप्रवृत्तिमोहानां सत्त्वादिकार्याणां तत्र दर्शनात्। प्रकाशादीनां च गुणकार्यत्वं गुणातीतलक्षणेऽवगम्यते।

अर्थः—लक्षण और प्रमाण द्वारा मन सिद्ध होने के लिये इस भांति उस का उदाहरण समझना कि जैसे देवदत्त के पीठ की ओर होकर किसी ने उस का स्पर्श किया जिस को वह

मालूम करता है कि 'यह हाथ से किसी ने छूआ है और 'यह अङ्गुलि से स्पर्श हुआ'—यहां पीठ की ओर नेत्र इन्द्रिय पहुंच नहीं सकता और त्वचा इन्द्रिय केवल स्पर्शगत कठिनता या मृदुता को जतलाकर विराम को पाता है । अतएव हाथ का स्पर्श या अङ्गुली का स्पर्श इस विशेष ज्ञान का कारण जो शेष रहा यह मनन रूप क्रिया के कारण 'मन' कहलाता हैं, और चिन्तन रूप क्रिया करने से 'चित्त' कहलाता हैं । वह मन सत्त्व, रज, और तमोगुणमय है । क्योंकि इन तीन गुणों का कार्य्य प्रकाश, प्रवृत्ति, और मोह मन में प्रतीत होते हैं ।

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव" १ इत्यभिधानात् । साङ्ख्यशास्त्रेऽपि प्रकाशप्रवृत्तिमोहा नियमार्था इत्युक्तम् । प्रकाशोनाम नात्र सितभास्वरं रूपं किं तु ज्ञानम् ।

अर्थः—प्रकाश आदि तीन गुणों के कार्य्य हैं, यह गुणातीत के लक्षण मे बतलाया है (भगवद्गीता में) प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, नियम के लिये हैं । इसी प्रकार साङ्ख्यशास्त्र में भी कहा हैं । प्रकाश अर्थात् यहां शुक्लभास्वर रूप न समझना, किन्तु ज्ञानरूप प्रकाश समझना । क्योंकि—

"सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च"
इत्युक्तत्वात् । ज्ञानवत्सुखमपि सत्त्वकार्यम् । तदप्युक्तम् ॥

अर्थः—सत्त्वगुण से ज्ञान, रजो गुण से लोभ, और तमो गुण से प्रमाद, मोह, और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । गी० अ० १४ । श्लो १९ में कथन किया है । ज्ञान के समान सुख भी

सत्त्वगुण का कार्य है, यह बात भी उसी अध्याय में ९ मे श्लो. में कथन कीय है।

"सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत !।
ज्ञानमावृत्त्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत" इति॥
समुद्रतरङ्गवन्निरन्तरं परिणममानेषु गुणेषु कदाचित् कश्चिदुद्भवति । इतरावभिभूयेते। तदुक्तम्।

अर्थः—हेभारत ! सत्त्वगुण के उदय होने से सुख, और रजोगुण के उदय होनेसे कर्मों में प्रवृत्ति होती है, परन्तु तमो गुण तो अपने उदय को पाकर ज्ञान को चारों ओर से रोक कर देही को प्रमाद में पटकता है।

समुद्र की लहरों की भान्ति सदा परिणाम को प्राप्त होने वाले गुणों में से जिस समय जो गुण अधिक उद्भव होता है। उस समय इतर गुण दब जाते हैं, यह भी गी० अ० १४ श्लो० १० में वर्णित है—

"रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा" इति॥
"बाध्यबाधकतां यान्ति कल्लोला इव सागरे" इति॥

अर्थः—हेभारत ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर उदय होता है। रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण, को दबाकर उदय होता है। और तमोगुण, सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर उदय होता है । समुद्रमें लहरों की भांति वे सब गुण बाध्यबाधकता को प्राप्त होते हैं।

तत्र तमस उदये सत्यासुरसम्पदुदेति । र-

जस उद्भवे सति लोकादिवासनास्तिस्रो भवन्ति । सत्त्वस्योद्भवे सति दैवी सम्पदुपजायते । एतदभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—जहां तमोगुणका उद्भव होता हैं, तब आसुरी सम्पत्तिका उदय होता हैं, रजोगुण वृद्धि पाता है, तब लोक वासना आदि पूर्वोक्त तीन वासनाओं का उदय होता हैं, और सत्त्वगुण का उदय होता है । तब दैवी सम्पत्ति उपजती है । इसी अभिप्राय से भगवद्गी० अ० १४ श्लो० ११ में कहा है—

"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत" इति॥

अर्थः—इस शरीर के बीच जब सारे इन्द्रियों के द्वारों में ज्ञान रूप प्रकाश उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि जानो ।

यद्यप्यन्तःकरणं त्रिगुणात्मकं भासते तथाऽपि सत्त्वमेवास्य मनसो मुख्यमुपादानकारणम् । उपादानसहकारिभूता अवयवा उपष्टम्भकाः । रजस्तमसी तु तदुपष्टम्भके । अतएव ज्ञानिनो योगाभ्यासेन रजस्तमसोरपनीतयोः सत्त्वमेव स्वरूपं परिशिष्यते । एतदभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है ऐसा प्रतीत होता है, तथापि इस मन का मुख्य उपादान कारण तो सत्वगुण ही है । उपादान कारण की सहायता करनेवाला अवयव 'उपष्टम्भक' कहलाता है, अतएव रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुण का उपष्टम्भक है । इसी कारण से ज्ञानवान् पुरुष का योगाभ्यास से रजस और तमस दूर होनेपर उसको केवल शुद्ध-

सत्त्व स्वरूप ही शेष रहता है। इसी अभिप्राय से किसी महात्मा ने कहा है कि—

"ज्ञस्य चित्तमचित्तं स्याज्ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते" इति॥

अर्थः—ज्ञानी का चित्त सङ्कल्प विकल्प रहित होने से चित्त संज्ञा के योग्य नहीं। उस का चित्त तो केवल शुद्ध स्वरूप है।

तच्च सत्त्वं चाञ्चल्यहेतुरजोगुणशून्यत्वादेकाग्रम्। भ्रान्तिकल्पितानात्मस्वरूपस्थूलपदार्थाकारहेतुतमोगुणशून्यत्वात् सूक्ष्मम्। तत आत्मदर्शनतोग्यम्। अत एव श्रुतिः।

अर्थः—वह सत्त्वरूप चित्त चञ्चलता के कारणभूत रजोगुण रहित होने से एकाग्र होता है, तथा भ्रान्तिकल्पित अनात्मस्वरूप स्थूल पदार्थ का आकार होने में कारणभूत तमोगुणशून्य होने से सूक्ष्म है। इन दोनों गुणों से युक्त होने से वह आत्मदर्शन के लिये योग्यता वाला होता है। श्रुति भी कहती है कि-

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इति॥

अर्थः—सूक्ष्मदर्शी पुरुष एकाग्र और सूक्ष्मबुद्धि द्वारा आत्मा का दर्शन करता है।

न खलु वायुना दोधूयमानेन प्रदीपेन मणिमुक्तादिलक्षणानि निर्धारयितुं शक्यन्ते। नापि स्थूलेन खनित्रेण सूच्येव सूक्ष्मपटस्यूतिः सम्भवति। तदीदृशं सत्त्वमेव योगिषु तमोगुणसहितेन रजोगुणेनोपष्टब्धं बहुविधद्वैतसङ्कल्पेन चेतयमानं चित्तं भवति। तच्चित्तं तमोगुणाधिक्ये सत्यासुरीं सम्पदमुपचिन्व-

त्पीनं भवति । तथाऽऽह वसिष्ठः ।

अर्थः—जैसे वायु द्वारा कापते हुए दीप के प्रकाश से रत्न की परीक्षा करने वाला पुरुष रत्न के लक्षणों की परीक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार—बारीक सूइ से जैसे सूक्ष्म वस्त्र सिआ जाता है, उसी प्रकार स्थूल कोदारी से वस्त्र नहीं सिआ जा सकता । सो यह सत्त्व ही योगियों में तमस सहित रजोगुण मिश्रित होने से नानाविध द्वैत विषयके संकल्प द्वारा अनात्म वस्तु का दर्शन करने से चित्त संज्ञा को प्राप्त होता है । वह चित्त तमोगुण की अधिकतावाला होता है, तब वह आसुरी सम्पत्ति का संग्रह करने से स्थूलता को प्राप्त होता है । यह वार्त्ता योगवासिष्ठ में यों लिखी है कि—

"अनात्मन्यात्मभावेन देहभावनया तथा ।
पुत्रदारैः कुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥
अहङ्कारविकारेण ममतामललीलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतौ ।
हेयादेयविभागेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम्"
इति ॥

आस्था नाम प्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिस्तस्या आदानमङ्गीकारः स एव चारो गमनागमन-

क्रिया तयेति । विनाशनीययोर्वासनामनसोः स्वरूपं निरूपितम् ॥

अथ वासनाक्षयमनानाशौ क्रमेण निरूप्येते, तत्र वासनाक्षयप्रकारमाह वसिष्ठः ।

अर्थः—अनात्मपदार्थ में आत्मबुद्धि करने से, स्थूल शरीर में दृढ अहंभाव के कारण, स्त्री, पुत्र, और कुटुम्ब द्वारा अर्थात् उस में आसक्ति से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है । अहंकार के विकास से अर्थात् उस की वृद्धि होने से ममतारूप मल के संसर्ग से, यह और मेरा ऐसे भाव के उदय होने से सत्यत्व बुद्धि से तथा यह त्यागने योग्यहै और यह ग्रहण करने योग्य है ऐसे विभाग से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है। आपातरमणीय ऐसे स्नेह से, धन के लोभ से, और मणी मुक्ता आदिक तथा स्त्री की प्राप्ति से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है । दुराशारूप दूध पीने से, भोगरूप वायु के सेवन जन्य प्राप्त बल से, जगत में सत्यत्त्व बुद्धि के स्वीकार से और विषयों के प्रति जाने आने से चित्तरूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त होता है ।

इस भान्ति नाश करने योग्य वासना और मन के स्वरूप का निरूपण किया ।

अब वासना क्षय और मनोनाश का क्रमसे निरूपण किया जाता है । पहिले वासना क्षयका प्रकार भगवान् वसिष्ठ जी कहते हैं—

"बन्धो हि वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥
मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः ।

ता अप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ॥
अन्तः शान्ततमस्नेहो भव चिन्मात्रवासनः ॥
तामप्यन्तः परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तं त्यज" इति॥

अर्थः—वासनारूप बन्ध सो ही बन्ध है, और वासनाओं का क्षय यही मोक्ष है । इस लिये प्रथम वासनाओं का त्याग कर मोक्ष की कामना को भी छोडो । प्रथम विषय वासना तथा मानसी वासनाओं का त्याग कर मैत्री मुदिता आदि की भावना नाम की निर्मल वासनाओं को तुम ग्रहण करो । उस शुभवासना के द्वारा व्यवहार करने पर भी, अन्त में उन का भी त्याग कर अन्त में जिस का स्नेह (विषयों में प्रीति) असन्त शान्त हो गया है, ऐसे तुम केवल चिन्मात्र वासना वाला होओ, यह मन बुद्धि सहित चिन्मात्र वासनाओं का भी त्याग कर सब का अवधिभूत वस्तु में स्थिरवृत्ति स्थापन कर और जिस्से इन सब को त्याग दिया है, उसको भी (उसवृत्ति को भी) तुम त्याग दो ।

अत्र मानसवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः। विषयवासनाशब्देन दम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्विवक्षिता । मृदुतीव्रत्वे तद्विवक्षाभेदकारणे । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयास्तेषां काम्यमानत्वदशाजन्यसंस्कारो मानसवासना । भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरन्तर्भावः। अन्तर्बाह्यव्यतिरेकेण वासनान्तरासम्भवात् ।

अर्थः—यहां मानस वासना शब्द से लोकवासना, शास्त्र-
वासना, और देह वासना विवक्षित है। और विषयवासना शब्द
से दम्भ, गर्व आदिक आसुरी सम्पत्ति विवक्षित है। लोक
आदि वासना मृदु होने से तथा दम्भ, दर्प, आदिवासना तीव्र
होने से वे दोनों अलग २ गिने हैं। अथवा शब्द, स्पर्श, रूप,
रस, और गन्ध इन पांच विषयों की कामनाजन्य चित्तगत सं-
स्कार वह मानस वासना है, और उन विषयों को भोगने से उ-
त्पन्न हुए संस्कार हैं सो विषय वासना है ऐसा जानो। इस पक्ष
में पूर्वोक्त ४ वासनाओं का इन दो प्रकार की वासना में समावेश
हो जाता है, क्योंकि अन्तर वासना और बाह्य वासना सिवाय
अन्य वासना है नहीं।

ननु वासनापरित्यागः कथं घटते ? नहि तासां मूर्त्तिरस्ति। येन संमार्जनीसमूहितधूलितृणवद्धस्तेनोद्धृत्य बहिस्त्यक्ष्यामः। मैवम्।

अर्थः—शङ्काः—वासनाओं का त्याग ही किस प्रकार सम्भव
है ? क्योंकि इन का तो कोई आकार नहीं। जो वैसा हो जैसा
कि झाडू से बुहार ने पर जो कूर इकट्ठा होता उसे घर के बा-
हर फेंक देते हैं उसी प्रकार इस वासनारूप कूरे को भी शरीर
के वाहर फेंक देंगे।

उपवासजागरणवत्तदुपपत्तेः। स्वभावप्राप्तयोर्भुजिक्रियानिद्रयोरमूर्त्तत्वेऽपि तत्परित्यागरूपे उपवासजागरणे सर्वैरप्यनुष्ठीयेते तद्वदत्राप्यस्तु।

अर्थः—समाधान—उपवास और जागरण के समान इस के
सम्बन्ध में भी है, अर्थात् जैसे स्वाभाविक पन को प्राप्त भोजन

क्रिया तथा निद्रा का आकार विशेष न होने पर भी उन का त्यागरूप उपवास और जागरण लोक करते हैं । उसी प्रकार यहां भी उस का विरोधी शुभ वासना का ग्रहण यह मलिन वासना का त्याग समझो ।

"अद्य स्थित्वा निराहारः" इत्यादिमन्त्रेण सङ्कल्पं कृत्वा सावधानत्वेनावस्थानं तत्र त्याग इति चेत् ।

अर्थः— शङ्का—"अद्य स्थित्वा०" इत्यादि मन्त्र से सङ्कल्प का सावधनता से रहना, उस को भोजनादि का त्याग कहते हैं । वासनात्याग में तो ऐसा कभी होता नहीं, इस लिये उन का त्याग किस रीति से होगा ?

अत्रापि न तद्दण्डनिवारितम् । प्रैषमात्रेण सङ्कल्प्याप्रयत्नत्वेनावस्थातुं शक्यत्वात् । वैदिकमन्त्रानाधिकारिणां तु भाषया सङ्कल्पोऽस्तु । यदि तत्र शाकसूपौदनादिसन्निधित्यागस्तर्ह्यत्रापि स्रक्चन्दनवनितासंनिधिपरित्यागोऽस्तु । अथ तत्र बुभुक्षानिद्रालस्यादिविस्मारकैः पुराणश्रवणदेवपूजानृत्यगीतवादित्रादिभिश्चित्तमुपलालयेत तर्ह्यत्राऽपि मैत्र्यादिभिस्तदुपलालयेत् । मैत्र्यादयश्च पतञ्जलिना सूत्रिताः ।

अर्थः—समाधान— यहां भी इस प्रकार दण्डनिवारित नहीं, अर्थात् इस विषय में वैसा ही बन सकता । अर्थात् प्रैषोच्चारपूर्वक सङ्कल्पकर मलिन वासनाओं का उदय न होने के लिये सावधानी से रह सकता । जिन को वेदमन्त्रों का अधिकार

न ही उन को अपनी भाषाद्वारा सङ्कल्प करना चाहिये। यदि जो भोजन त्याग रूप उपवास में शाक, दाल, भात, आदि की संनिधि का त्याग, यह विशेष है, ऐसा मानो तो वासनात्याग में पुष्पमाला, चन्दन, वनिता, आदि विषयों की संनिधि भी त्याग ने योग्यहै। कदाचित् ऐसा कहो कि उपवासादि में क्षुधा, निद्रा, आलस्य, आदि का विस्मरण करनेवाले पुराण का सुनना, देवपूजा, नृत्य, गीतवादित्र आदि उपायोंसे चित्त को आनन्द पाने का है, तो इस में भी मैत्री आदि की भावना से चित्त को प्रसन्न करने का है। मैत्री आदि चित्त को निर्मल करने वाला उपाय भगवान् पतञ्जलिने सूत्र में कथन किया है—

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" इति। चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषी क्रियते। रागद्वेषौ च पतञ्जलिः सूत्रयामास।

अर्थः—सुखी के साथ मैत्री, दुःखी पर करुणा, पुण्यवान् को देख हर्ष होना, और पापी से उदासीनता रखना, ऐसी भावना से योगी का चित्त निर्मल होता है। राग द्वेष, पुण्य, और पाप से चित्त की मलिनता होती है। राग और द्वेष का लक्षण पतञ्जल ने सूत्र में लिखा हैं।

"सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः" इति। स्नेहात् स्वेनानुभूयमानं सुखमनुशेते काश्चिद्धीवृत्तिविशेषः सुखजातं सर्वं मे भूयादिति। तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्यभावान्न सम्पादयितुं शक्यम्। अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति यदा सुखिप्राणिष्वयं मैत्रीं

भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति त-
दा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति भावय-
तस्तत्र रागो निवर्तते यथा स्वस्य राज्याऽभा-
वेऽपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयराज्यं तद्वत् ।
निवृत्ते च रागे वर्षास्वतीतासु शरत्सरिदिव
चित्तं प्रसीदति ।

अर्थः—सर्व सुख मुझ को मिले इस प्रकार की प्रीतिपूर्वक स्वयं अनुभव करने योग्य सुख की तृष्णावाली वृत्तिविशेष का नाम सुख हैं । सो वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामग्री के अभाव के कारण उस का सम्पादन हो नहीं सकता, जिससे, वह राग है, चित्त को मलिन करता है । "ये सब सुखी प्राणी मेरे ही हैं" इस भांति जब सुखी प्राणियो में मित्रता की भावना करे तब इस भांति भावना करनेवाले को अन्य का सुख अपना होने से उस सुख में से राग की निवृत्ति हो जाती है । जैसे आप को राज्य न होने पर भी पुत्रादिक का राज्य अपना (राज्य) मानने से ऐसे पुरुष में राग नही रहता, इसी प्रकार अन्य सुखी प्राणियों में स्वकीयत्व (अपनापन) बुद्धि होने से उस सुख में पुरुष को राग नही रहता अर्थात् 'उस का सुख मुझ को प्राप्त हुआ' ऐसी वृत्ति नहीं रहती । राग निवृत्त होने से चातुर्मास्य (वर्षा ऋतु) बीतने पर जैसे शरद् ऋतु की नदियां निर्मल हो जाया करती उसी भांति उस पुरुष का चित्त निर्मल होता है ।

तथा दुःखमनुशेते काश्चित्प्रत्ययः ईदृशं दुःखं
सर्वदा मे मा भूदिति । तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु
सत्सु न निवारयितुं शक्यम् । न च सर्वे दुःख-
हेतवो हन्तुं शक्यन्ते । ततः स द्वेषः सदा

हृदयं दहति । यदा स्वस्यैव परेषां सर्वेषां प्रतिकूलं दुःखं न भूयादित्यनेन प्रकारेण करुणां दुःखिप्राणिषु भावयेत्तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति । अतएव स्मर्यते ।

अर्थ—'इस प्रकार का दुःख मुझ को कभी न हो' ऐसे दुःख विषयक अनुशय को (अनिच्छा को) द्वेष कहते हैं। यह दुःख शत्रु व्याघ्र आदिकों के सद्भाव में नहीं रोक सकता। क्योंकि सारे दुःखों के कारण का नाश नहीं कर सकता, इस लिये यह द्वेष सदा हृदय में दाह उत्पन्न करता है । 'अपने समान अन्य सब को प्रतिकूल दुःख प्राप्त न हो ऐसा जब दुःखि प्राणियों पर करुणा की भावना करता है तब वैरी आदिकों पर से भी द्वेष निवृत्त होनेसे चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है। इस लिये स्मृति कहती है कि—

"प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः"इति।

अर्थः—जैसे अपना प्राण आपे को प्रिय है उसी प्रकार प्राणिमात्र को अपना प्राण प्रिय होता अत एव साधु यह आपे में जैसे दया करते वैसे ही सब प्राणियों पर दया करते हैं। और करुणा की भावना का प्रकार महापुरुष देखाते हैं।

"सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्"इति।

तथाहि प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति, पापं त्वनुतिष्ठन्ति । तदाह ।

अर्थः—इस संसार में सब सुखी होंवे सब नीरोगी हों, सब कल्याण को देखें, और किसी को दुःख न होवे ।

इस संसार में प्राणिगण स्वभाव से ही पाप करते हैं, और पुण्य नहीं करते । सो कहा है—

"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः" इति ।

अर्थः—'मनुष्य पुण्य के फल (सुख) की इच्छा करता है परन्तु पुण्य करने की इच्छा नहीं करता । और पाप के फल (दुःख) की इच्छा नहीं करता, परन्तु यत्नपूर्वक पाप करता है ।

ते च पुण्यपापे पश्चात्तापं जनयतः । स च तापः श्रुत्याऽनूद्यते ।

अर्थः—वह पुण्य पाप पश्चात्ताप को उत्पन्न करते हैं । पश्चात्ताप का स्वरूप श्रुति कहती है कि—

"किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवम्" इति ।

अर्थः—अरे ! मैं ने शुभ कर्म क्यों न किया ? अरे ! मैं ने पाप कर्म क्यों किया ?

"यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्तदा तद्वासनायाः स्वयमेवाप्रमत्तः पुण्येषु प्रवर्त्तते । तथा पापिषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि पापान्निवर्त्तते। अतः पश्चात्तापस्याभावेन चित्तं प्रसीदति।

अर्थः—जो यह मुमुक्षुपुरुष पुण्यात्मा पुरुष में मुदिता की भावना करे, तो उस वासना के कारण स्वयं भी प्रमाद रहित हो पुण्य में प्रवृत्ति करे तथा पापी में उपेक्षा की भावना करे तो भी पाप से निवृत्त हो इससे पुण्य न करने से तथा पाप न करनेसे जो पश्चात्ताप होता हैं, सो उस को नहीं होता और पश्चात्ताप न होनेसे चित्त निर्मल होता है ।

सुखिषु मैत्रीं भावयतो न केवलं रागनिवृत्तिः

किं त्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते। परगुणानामहसनमीर्ष्या, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। यदा मैत्रीवशात् परकीयं सुखं स्वकीयमेव सम्पद्यते तदा परगुणेषु कथमसूयादि सम्भवेत्। एवं दोषान्तरानिवृत्तिरपि यथायोगमुन्नेया।

अर्थः—सुखी पुरुषों के साथ मैत्री की भावना करनेवाले का केवल राग की ही निवृत्ति होती है, ऐसा नहीं, किन्तु उस के साथ असूया, इर्ष्या आदि दोष भी नाश को प्राप्त होते हैं। अन्य के गुणों को न सह सकना ईर्ष्या है, और गुणों में दोषों का आरोपण करना उस को असूया कहते हैं। जब मैत्री की भावना से अन्य का सुख अपना होता है, तब पुरुष में अन्य के गुण में असूयादि कैसे सम्भव हो सकता? नहीं सम्भव हो सकता। इस भांति अन्य दोषों की निवृत्ति भी यथायोग्य कल्पना करनी।

दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यथा निवर्तते तथा दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तो दर्पोऽपि निवर्तते। स च दर्प आसुरसम्पद्यहङ्कारप्रस्तावे पूर्वमुदाहृतः।

अर्थः—दुःखी प्राणियों पर करुणा की भावना करनेवाले पुरुष का जैसे शत्रुवंधादि कर द्वेष निवृत्ति को प्राप्त होता उसी प्रकार दुःखिपन का विरोधी सुखिपन का गर्व भी जाता रहता है। इस गर्व का स्वरूप अहङ्कार के प्रसङ्ग में आसुरी सम्पत्ति में पूर्व कथन कर आये हैं।

"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" इति ।

ननु पुण्यात्मसु मुदितां भावयतः पुण्यप्रवृत्तिफलत्वेनोक्ता सा च योगिनो न युक्ता । मलिनायां शास्त्रवासनायां पुण्यमन्तर्भाव्य पूर्वमुदाहृतत्वात् । मैवम् ।

अर्थः—शङ्का—'पुण्यवान् पुरुषों में मुदिता की भावना करने से पुण्य में प्रवृत्तिरूप फल होता है' । ऐसा जो कहा है सम्भव नहीं, क्योंकि पंहिले इस की गणना मलिन शास्त्रवासना में कर आये हैं ।

पुनर्जन्मकरस्य काम्येष्टापूर्त्तादेस्तत्र मलिनत्वेनोदाहृणात् इह तु योगाभ्यासजन्यमशुक्लकृष्णत्वं पतञ्जलिः सूत्रयामास ।

अर्थः—समाधान—इस के पूर्व, 'इष्ट,' 'पूर्त्त' आदि काम्य कर्म जो पुनर्जन्म के देनेवालेहैं, इन को मलिनवासना रूप गिन आये है । और यहां, तो योगाभ्यासजन्य पुण्य, जो अशुक्ल और अकृष्ण होने से पुनर्जन्म का हेतु नहीं, सो विवक्षित है ।

योगियोंके अशुक्ल और अकृष्ण कर्मों का निरूपण पातञ्जलयोगसूत्र में किया है ।

"कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" इति। काम्यं कर्म विहितत्वात् शुक्लं, निषिद्धं कृष्णं, मिश्रं शुक्लकृष्णम् । तदेतत्त्रयमितरेषामयोगिनां सम्पद्यते । तच्च त्रिविधं जन्म प्रयच्छति । तदाहुर्विश्वरूपाचार्याः ।

अर्थः—योगियों के कर्म अशुक्लकृष्ण और इतर मनुष्यों के

शुक्ल, (विहित काम्य कर्म) कृष्ण (निषिद्ध) और शुक्लकृष्ण मिश्र ये तीन प्रकार के होते हैं । ये तीनों कर्म पुनर्जन्म का हेतु है । ऐसा विश्वरूपाचार्य कहते हैं—

"शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः" इति।

अर्थः—शुभकर्मों द्वारा जीव देवभाव को पाता, निषिद्ध कर्मों से नारकी गति को प्राप्त होता और दोनों से मनुष्यजन्म पाता है।

ननु योगस्याऽनिषिद्धत्वादकृष्णत्वेऽपि विहितत्वाच्छुक्लत्वमिति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—योग, अनिषिद्ध होने से वह भले ही कृष्ण कर्म न हो, परन्तु विहित होनेसे उस की शुक्लकर्मोंमें गणना होनी चाहिये ।

मैवम् । अकाम्यत्वाभिप्रायेणाशुक्लत्वाभिधानात् । अतः शुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवृत्तिर्योगिनोपेक्षिता ।

अर्थः—समाधान—ऐसी शङ्का न करो । योग काम्य कर्म न होने से उस को अशुक्ल कर्म माना है । इस हेतु से शुक्ल कृष्ण पुण्य में जो प्रवृत्ति है, उसकी योगी उपेक्षा करता है ।

नन्वनेन न्यायेन योगिनोऽपि यथोचितपुण्यात्मसु मुदितां भावयित्वा पुण्येष्वेव प्रवर्त्तेरन् ।

अर्थः—शङ्का—इस रीति से तो पुण्यात्मा में योग्यरीति से मुदिता की भावना करनेवाले योगियों की भी प्रवृत्ति होगी?

प्रवर्तन्तां नाम ?। ये मैत्र्यादिभिश्चित्तं प्रसादयन्ति तेषामेव योगित्वात् । मैत्र्यादिचतुष्टयमुपलक्षणम् । "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" इत्या-

दि दैवी सम्पत् । "अमानित्वमदम्भित्वम्" इत्यादिना ज्ञानसाधनानि जीवन्मुक्तस्थित-प्रज्ञादिवचनोक्तधर्माश्चोपलक्ष्यन्ते । सर्वेषा-मेतेषां शुभाशुभवासनारूपत्वेन मलिनवा-सनानिवर्त्तकत्वात् ।

अर्थः—समाधान हो प्रवृत्ति, जो पुरुष मैत्री द्वारा चित्त की प्रसन्नता रखता है, वही योगी है । उपर दिखलाये हुए मैत्री आदि चार साधन का अभय आदि दैवी सम्पत्तियों का, अ-मानित्व आदि ज्ञानसाधनों का, तथा जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का उपलक्षक है, ये सब शुभवासनारूप होने से म-लिनवासना का क्षय करनेहारे हैं ।

ननु सन्त्यनन्ताः शुभवासनाः, न चैकेन ताः सर्वा अभ्यसितुं शक्यन्ते, निरर्थकश्च तद-भ्यासप्रयास इति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का—शुभवासना अनन्त है, इस लिये उन सब का अभ्यास एक पुरुष से बन नहीं सकता; अत एव सब शुभवास-नाओं के लिये अभ्यास करना निरर्थक है ।

तन्निवर्त्यानामनन्तानां मलिनवासनानामेक-स्य नरस्यासम्भवात् । न ह्यायुर्वेदोक्तानि सर्वाण्यौषधान्येकेन सेवितुं शक्यन्ते । नापि तन्निवर्त्याः सर्वे रोगा एकस्य देहे स-म्भवन्ति । एवं तर्हि स्वचित्तं प्रथमतः परी क्ष्य तत्र यदा यावत्यो मलिनवासनास्तदा तावतीर्विरोधिनीः शुभवासना अभ्यसेत् । यथा पुत्रमित्रकलत्रादिभिः पीड्यमानस्ततो

विरक्तस्तन्निवर्तकं पारिव्राज्यं गृह्णाति, तथा विद्यामदधनमदकुलाचारमदादिमलिनवासनाभिः पीड्यमानस्तद्विरोधिनं विवेकमभ्यसेत्। स च विवेको जनकेन दर्शितः।

अर्थः—समाधान—शुभवासनाओं करके त्यागने योग्य मलिन वासनाओं का एक पुरुष मे सम्भव नही हैं। आयुर्वेदोक्त सब औषधों का सेवन एक पुरुष से बन नही सकता। उसी प्रकार उन २ औषधों से हटाने योग्य सब रोग भी एक पुरुष में नही होते। अतएव जैसे अपने शरीर में जो २ रोग होता है, उनके विरोधी औषधों का सेवन करना आवश्यक है, उसी तरह पहिले अपने चित्त की परीक्षा करनी, उस में जितनी जिस समय मलिनवासना हो, उस समय उतनी विरोधी वासना का अभ्यास करे। जैसे पुत्र मित्र स्त्री आदि से पीडित पुरुष उससे वैराग्य को प्राप्त होकर पुत्र आदिक के त्याग का हेतुरूप संन्यास आश्रम को ग्रहण करता है उसी तरह विद्यामद, धनमद, कुलमद, आचारमद, आदिकों से पीडित हो पुरुष उन के विरोधी विवेक का सेवन करे।

यह विवेक जनक जीं ने दिखलाया है—

"अद्य ये महतां मूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः।
हन्त चित्त ? महतायाः कैषा विश्वस्तता तव॥
क? धनानि महीपानां ब्रह्मणः क ?जगन्ति वा।
प्राक्तनानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता तव॥
कोटयो ब्रह्मणो याता गताः सर्गपरम्पराः।
प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते॥
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतां प्रलयोदयौ।

तादृशाः पुरुषा नष्टा मादृशां गणनैव का" इति ॥

अर्थः—जो इस समय बडों के शिरताज बन रहे हैं, वे भी गिने गिनाये दिनौं मे नीचे गिर जाते हैं तो, हे चित्त ? आज तुम उस के वडपन का क्यों भरोसा करते हो ? पूर्व जो राजा हो गये उन का धन कहां गया ? और ब्रह्मा का रचा अनन्त जगत कहां गया ? ये सब गये तो हे चित्त ! तुम इस शरीर आदि का विश्वास क्यों करते हो ? करोडों ब्रह्म और उन की अनन्त सृष्टि चली गयी और अनेक राजा लोग भी धूलि के समान उड गये तो मेरेजीवित में अर्थात् उस की स्थिरता में धैर्य कैसे रहे ? जिस का पलक मारना जगत् का प्रलय और आँख खोलना जगत् का उदय रूप है, ऐसा पुरुष भी जब नाश को प्राप्त हुआ तो मेरे जैसे लोगों की गणना ही क्या ?

नन्वयमपि विवेकस्तत्त्वज्ञानोदयात्प्राचीनः, नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनव्यतिरेकेण ब्रह्मज्ञानासम्भवात् । इह तूत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य जीवन्मुक्तये वासनाक्षयादिसाधनं वक्तुमुपक्रान्तम् । अतः किमिदमकाण्डे ताण्डवमिति चेत् । नायं दोषः ।

अर्थः—शङ्का—यह विवेक तत्त्वज्ञान होने के पहिले होता है, क्यौं कि नित्यानित्य विवेक आदि साधन विना ब्रह्मज्ञान हो नही सकता, और यहां तो जैसे ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है उनको जीवन्मुक्ति प्राप्त होने के निमित्त तुमने वासनाक्षय आदि साधनों कानिरूपण आरम्भ किया है । अत एव इस विवेक का कथन तो विना अवसर नाच होने के समान है ।

साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य पश्चाद्ब्रह्मज्ञानमित्ये-

व सर्वपुरुषसाधारणक्षुण्णः प्रौढो राजमार्गः । जनकस्य तु पुण्यपुञ्जपरिपाकेनाऽऽकाशफलपातवदकस्मात् सिद्धगीताश्रवणमात्रेण तत्त्वज्ञानमुत्पन्नम् । ततश्चित्तविश्रान्तये विवेकोऽयं क्रियते इति काण्ड एवेदमुचितं ताण्डवम् ।

अर्थः— समाधान,-साधनचतुष्टय के सिद्ध होनेपर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती यह तो सब पुरुषों से सेवित साधारण राजमार्ग है । जनक को तो पूर्व पुण्यपुञ्ज के पाक के कारण जैसे आकाश में से फल गिरता, तैसे अकस्मात् सिद्धगीता के सुनने मात्र से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ । चित्त विश्रान्ति उन को बाकी थी, इस हेतु उनने पूर्वोक्त विवेक विचार किया । अतएव मेरा कथन प्रासङ्गिक ही है, अप्रासङ्गिक नृत्य के समान नहीं है ।

नन्वेवमप्यस्य विवेकस्य ज्ञानसमनन्तरभावित्वेन मलिनवासनानुवृत्त्यभावाच्छुद्धवासनाभ्यासो नापेक्षित इति चेन्न ।

अर्थः—ऐसा विवेक, ज्ञान होने के बाद होता है, इस लिये तत्त्वज्ञान हुए पीछे मलिन वासना की अनुवृत्ति (संसर्ग) न रहने से शुभवासना के लिये अभ्यास करना कोई प्रयोजन नहीं।

जनकस्य तदनुवृत्त्यभावे ऽपि याज्ञवल्क्यभगीरथादेस्तदनुवृत्तिदर्शनात् । अस्ति हि याज्ञवल्क्यतत्प्रतिवादिनामुषस्तकहोलादीनां च भूयान्विद्यामदः । तैः सर्वैरपि विजिगीषुकथायां प्रवृत्तत्वात् ।

अर्थः— यद्यपि जनक को तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर मलिनवासना की अनुवृत्ति न थी परन्तु याज्ञवल्क्य, भगीरथ आदि कों में मलिनवासना की अनुवृत्ति मालूम पडती है । याज्ञवल्क्य और उन के प्रतिवादी उषस्त कहोलादि विजिगीषु कथा (जय पाने की इच्छा वाले पुरुषों के वीच परस्पर सम्वाद) में प्रवृत्ते हुए थे, इस कारण उन में विद्यामदरूप मलिन वासना तो प्रसिद्ध है ही ।

ननु तेषां विद्यान्तरमेवास्ति न तु ब्रह्मविद्येति चेन्न । कथागतयोः प्रश्नोत्तरयोर्ब्रह्मविषयत्वात् ।

अर्थः—उन को ब्रह्मविद्या के सिवाय अन्य विद्या प्राप्त थी, ऐसा कहो तो सो नहीं कह सकतें । क्यों कि उन में परस्पर प्रश्नोत्तर ब्रह्मविषयक है ।

ननु ब्रह्मविषयत्वेऽपि तेषामापातज्ञानमेव न तु सम्यग्वेदनमिति चेन्न । तथा सत्यस्माकमपि तदीयवाक्यैरुत्पन्नाया विद्याया असम्यक्त्वप्रसङ्गात् ।

अर्थः— उन को केवल अकस्मात् ज्ञान हुआ, यथार्थ ज्ञान नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो ऐसा होता, तो अपने लिये भी अपने ही वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान यथार्थ हो नहीं सकता ।

ननु सम्यक्त्वेऽपि परोक्षज्ञानमेवेति चेन्न । यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति मुख्यापरोक्षविषयतयैव विशेषतः प्रश्नोपलम्भात् ।

अर्थः— उन को यथार्थ ज्ञान तो ठीक है किन्तु परोक्षज्ञा-

न हुआ ऐसा कहना भी उचित नही, क्यों कि जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है इस वाक्य पर से मुख्य अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में ही प्रश्न हुआ ऐसा प्रतीत होता है।

नन्वात्मज्ञानिनो विद्यामद आचार्यैर्नाभ्युपगम्यते। तथा चोपदेशसाहस्र्यामुक्तम्—

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः"

इति। नैष्कर्म्यसिद्धावपि।

अर्थः—शङ्का—आत्मज्ञानी को विद्यामद का सद्भाव आचार्य स्वीकार नही करते, क्योंकि तथा ब्रह्मवित् पन को अभिमान कहकर जो रहता है वह आत्मज्ञ है अन्य नहीं इस प्रकार उपदेशसाहस्री ग्रन्थ में लिखा है, और नैष्कर्म्यसिद्धि में भी कहाहै-

"न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत् स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्"

इति। नायं दोषः।

अर्थः—ज्ञानी पुरुष को ज्ञानीपन का अभिमान नही होता, क्यों कि वह एक आसुरी सम्पत्ति है। विद्वान् में भी आसुरीपन हो तो पीछे ब्रह्मसाक्षात्कार निष्फल जानो। ऐसा है तो इस लिये ज्ञानी को विद्यामद होना संघटित नही होता।

जीवन्मुक्तिपर्यन्तस्य तत्त्वज्ञानस्य तत्र विवक्षितत्त्वात्। न खलु वयमपि जीवन्मुक्तानां विद्यामदमभ्युपगच्छामः। ननु विजिगीषोरात्मबोध एव नास्ति।

अर्थः—समाधान—उपर के दोनों वचन जीवन्मुक्ति तक तत्त्व ज्ञान के अभिप्रायसे कथन किये हैं। हम भी जीवन्मुक्त पुरुष को विद्यामद, नहीं मानते।

शङ्का—जिस को जय पाने की इच्छा है, उस को आत्मज्ञान नहीं । क्यों कि—

"रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतः शाद्बलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः"
इत्याचार्यैरभ्युपगमादिति चेन्न ।

अर्थः— चित्तरूपी व्यायाम भूमि में राग, यह अज्ञान का चिन्ह है । जिस वृक्ष के कोटरे में अग्नि जल रहा है, उस के नीचे हरिततृणपूर्णता कहां से होगी ? नहीं होती है । ऐसा आचार्य मानते हैं ।

"रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यति ।
उत्खातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति"
इत्यत्र तैरेव रागाद्यभ्युपगमात् । न चात्र परस्परव्याहतिः । स्थितप्रज्ञे ज्ञानिमात्रे च वचनद्वयस्य व्यवस्थापनीयत्वात् ।

अर्थः— तत्त्वज्ञानी में रागादि यथेच्छ हों, उन का सद्भाव ज्ञान को हानि पहुंचानेवाला नहीं । जैसे सांप के दान्त जड से उखड गये । ऐसा सर्प कुछ नहीं कर सकता इसी प्रकार अविद्या उस ज्ञानी पुरुष को क्या कर सकती ? कुछ भी नहीं । इस प्रकार रागादिक का स्वीकार भी आचार्यों ही ने किया है ? इस से आचार्य के वाक्य मे परस्परविरोध न करे, क्योंकि प्रथम वचनकी व्यवस्था स्थितप्रज्ञ में हो सकती है, और दोनों वचनों की व्यवस्था केवल ज्ञानी में हो सकती है ।

ननु ज्ञानिनो रागाद्यभ्युपगमे धर्माधर्मद्वारेण जन्मान्तरप्रसङ्ग इति चेन्मैवम् । अदग्धबीजवदविद्यापूर्विकाणामेव मुख्यरागादित्वेन पु-

नर्जन्महेतुत्वात् । ज्ञानिनस्तु दग्धबीजवदाभासा एव रागादयः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—ज्ञानी में रागादिक का सद्भाव मानने से उसके धर्म अधर्म द्वारा जन्मान्तर का प्रसङ्ग आवेगा, ऐसी शङ्का न करनी । विनभूने बीज के समान अविद्यासहित मुख्य रागादि दोष ही पुनर्जन्म का कारणरूप है, ज्ञानी पुरुष का रागादि तो भूने हुए बीज के समान केवल आभास रूप है । इस अभिप्राय से कहा है—

"उत्पद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना ।
तदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम्" इति॥

अर्थ—विवेकी पुरुष के अन्तः करण मे राग आदि दोष जब २ उत्पन्न होता तब २ विवेकसहित ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो जाया करता उस्से वे पुनः क्यों कर अङ्कुरित हों ? नही होते।

तर्हि स्थितप्रज्ञस्यापि ते सन्त्विति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का—तब स्थित प्रज्ञ में भी राग आदि हो तो क्या दिक्कत है !

तत्काले मुख्यवदेवाऽऽभासानां बाधकत्वात्। रज्जुसर्पोऽपि मुख्यसर्पवदेव तदानीं भीषयन्नुपलभ्यते तद्वत् । नन्वाभासत्वानुसन्धानानुवृत्तौ न कोऽपि बाध इति चेच्चिरं जीवतु भवान् । इयमेव ह्यस्मदभिमता जीवन्मुक्तिः । याज्ञवल्क्यस्तु विजिगीषुदशायां न हीदृशः। चित्तविश्रान्तये विद्वत्संन्यासस्य तेन करिष्यमाणत्वात् । न केवलमस्य विजिगीषा किन्तु धनतृष्णाऽपि महती जाता।

यतो बहूनां ब्रह्मविदां पुरतः स्थापितं सालङ्कारगोसहस्रमपहृत्य स्वयमेवेदमाह—

अर्थः—समाधान-स्थित प्रज्ञ अवस्था में मुख्य के तुल्य भासता है, आभासरूप राग आदिक दोष क्लेशरूप हो जाता है । जैसे रज्जु में प्रतीत होता (नकली) सर्प भी मुख्य की नाईं भय देता है, उसी प्रकार रागादि आभासरूप होनेपर भी क्लेश देनेवाले मालूम पडते हैं । रागादि आभासरूप हैं, इस प्रकार वार २ अनुसन्धान करें तो वह स्थितप्रज्ञ को कदापि बाधा नहीं करता ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो उस को सिद्धान्ती उत्तर देता है कि भाई ! चिरजीव हो । इसी को हम भी जीवन्मुक्त मानते हैं याज्ञवल्क्यजी विजिगीषु दशा मे स्थितप्रज्ञ नहीं थे इस लिये उन्हों ने चित्तविश्रान्ति के लिये विद्वत्संन्यास पीछे से ग्रहण किया । याज्ञवल्क्य को केवल जीत ही की इच्छा न थी । किन्तु धन की भी बहुत तृष्णा थी क्योंकि बहुत से ब्रह्मविद् ब्राह्मणों के सामने अलङ्कार सहित १००० गौओं कों खडी करा इन का धन स्वयं लेकर यों बोले कि—

"नमोवयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्मः" इति । इतरान् ब्रह्मविदोऽवज्ञातुमियं का चिद्वचोभङ्गीति चेत् । अयमपि तर्ह्यपरो दोषः । इतरे च ब्रह्मविदः स्वकीयं धनमनेनापहृतमिति मत्वा चुक्रुधुः । अयं च क्रोधपरवशः शाकल्यं मारयामास । न चास्य ब्रह्मघ्नस्य मोक्षाभावः शङ्कनीयः । यतः कौषीतकिनः समामनन्ति—

अर्थः—हम ब्रह्मवित् पुरुष को नमस्कार करते हैं हम

२५

तो केवल गौओं के चाहने वाले हैं । इतर ब्रह्मवित् की अवज्ञा करने के लियें यह केवल उनके वाक्य की चतुराई है ऐसा कदाचित् समझो तो, यह भी एक दूसरा दोष है। अन्य ब्रह्मवित् ब्राह्मणोंने भी श्री याज्ञवल्क्य ने अपना धन लेलिया ऐसा समझ कर क्रोध किया, उस्से याज्ञवल्क्य भी क्रोध में आकर शाकल्य ऋषि को शाप देकर मार दिया । इस भांति याज्ञवल्क्य ने ब्रह्महत्या किया इस्से उन को मोक्ष न होगा, ऐसी शंका न करो, क्यों कि कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि—

"नास्य केनापि कर्मणा लोको मीयते न मातृवधने न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया" इति ।

शेषोऽपि स्वकृतायामार्यपञ्चाशीत्यामिदमाह।

अर्थः—इस ज्ञानवान् पुरुष को प्राप्त हुआ लोक (आत्मलोक) किसी कर्म द्वारा नाश नही होता मातृवध करके पितृवध कर के चोरी कर के, भ्रूणहत्या कर के, भीं नाश को प्राप्त नहीं होता ।

शेष भगवान् ने भी अपनी रचित आर्यपञ्चाशीति में कहा है कि:—

"हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षणानि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः" इति॥

अर्थः—आत्मस्वरूप का जिस को साक्षात्कार हुआ है, ऐसा निर्मल पुरुष कदाचित् लाख अश्वमेध करे, या लाख ब्रह्महत्या करे, तौ भी यह अश्वमेध के पुण्य का या ब्रह्महत्या के पाप का सङ्गी नहीं होता ।

तस्मात् किं बहुना, ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्या-

दीनामस्त्येव मलिनवासनानुवृत्तिः, भगीरथश्च तत्त्वं विदित्वाऽपि राज्यं पालयन्मलिनवासनाभिश्चित्तविश्रान्त्यभावे सति सर्वं परित्यज्य पश्चाद्विश्रान्तवानिति वसिष्ठेनोपाख्यायते । अतः स्वकीयं वर्त्तमानं मलिनवासनाविशेषं परकीयदोषवत् सम्यगुत्प्रेक्ष्य तत्प्रतीकारमभ्यसेत् । अनेनैवाभिप्रायेण स्मर्यते ।

अर्थः—इस लिये अधिक क्या कहना ? याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मवित् पुरुषों में भी मलिन वासना का संचार है ही । राजा भगीरथने भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर राज्य करते समय उत्पन्न हुई वासनाओं कर के चित्त विश्रान्ति न पानेसे सबका त्याग कर विश्रामग्रहण किया, ऐसा वसिष्ठ मुनि ने कथन किया है । इस लिये जैसे कोई पुरुष अन्य के दोष को यथार्थ उत्प्रेक्षा करता है । उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी अपने अन्तः करण में स्फुरित वासनाओं को भली भांति जान कर उन के नाश का अभ्यास करे ।

इसी अभि प्राय से स्मृति भी कहती है—

"यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ॥
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात्" इति ॥

अर्थः—जैसे कोई बडे निपुण पुरुष पराये दोष के देखने में भली भांति निरत होता । वैसे यदि वह अपने दोषों को देखने में निपुण हो तो कौन नही बन्धन से मुक्त होवे ?

नन्वादौ तावद्विषादस्य कः प्रतीकार इति चेत् । किं स्वनिष्ठस्य मदस्य परविषयस्य,

किंवा स्वविषयस्य परनिष्ठस्य । आद्ये भङ्गो ऽवश्यं क्वचिद् भविष्यतीति निरन्तरं भावये-त् । तद्यथा श्वेतकेतुर्विद्यया मत्तः प्रवाहणस्य राज्ञः सभां गत्वा तेन पञ्चाग्निविद्यायां पृष्टायां स्वयमजानानो निरुत्तरो राज्ञा बहुधा भर्त्सितः पितुः समीपमागत्य स्वनिर्वेदमुदाजहार । पिता तु निर्मदस्तमेव राजानमनुसृत्य तां वि-द्यां लेभे । दृप्तबालाकिश्चाजातशत्रुणा राज्ञा भर्त्सितो दर्पं संत्यज्य राजानमुपससाद । उषस्तकहोलादयश्च मदेन कथां कृत्वा प-राजिताः । यदा स्वविषयः परनिष्ठो मदः प्रवर्तेत तदा मत्तः स परो मां निन्दतु, अवम-न्यतां वा । सर्वथाऽपि न मे हानिरिति भावयेत् । अत एवाऽऽहुः ।

अर्थः—शंका,—तब प्रथम विषाद (विद्यामद) का क्या उपाय है! उत्तर,—क्या आपेमें स्थित और अन्य परव्यवहृत विद्या मद के बारे मे तुम्हारा प्रश्न है ? या अन्य मे स्थित और आपे पर व्य-वहृत विद्या मद विषय में पूछते हो ? आपेमें स्थित और अ-न्य को हराने वाला विद्या मद विषयमें पूछा हो, तो उसकी निवृत्ति का उपाय यह है कि "अवश्य किसी से भी हमारा पराजय होगा,, ऐसी भावना करनी । जैसे कि विद्या से मत्त हुआ श्वेत केतु मुनि प्रवाहण राजा की सभामें गया, उस स-मय राजाने उस को पञ्चाग्निविद्या सम्बन्धी प्रश्न किया, इस विद्या से स्वयं अज्ञानी होने से कोई भी उत्तर दे नहीं सका, तब पिता के पास आकर अपने अपमान सम्बधी बातें कहीं।

उस का पिता तो मद रहित था, इस लिये उस ने उसी राजा के पास जाकर वह विद्या सिखी । उसी प्रकार दृप्तबाला-की का अजातशत्रु नामक राजासे तिरस्कार हुआ, इस्से उस ने गर्व का त्याग कर उसी राजा की शरण लियी । उषस्तकहो-लादि ब्राह्मण भी विद्या मदसे याज्ञवल्क्य के साथ विवाद कर अन्तमें उस्से हार गये ।

जब अन्य का विद्यामद आपे को पराजित करने को प्रवृत्त हो, तब "भले ही अन्य लोग मेरी निन्दा करें या अपमान करें, सर्वथा मेरे स्वरूप की इस से लेश भी हानि नहीं ऐसी वृत्ति में भावना करनी । इसी अभि प्राय से बडे लोगोंने कहाहै–

"आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि ।
शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम ॥
निन्दावमानावत्यन्तं भूषणं यस्य योगिनः ।
धीविक्षेपः कथं तस्य वाचाटैः क्रियता मिह" इति ॥

नैष्कर्म्यसिद्धौ—

अर्थः—इस संघात में आत्मा और शरीर है, तिसमें दुर्जन जो मेरी आत्माकी निन्दा करता हो तो वह स्वयं अपनी ही निन्दा करता है । क्यों कि जो आत्मा मेरा है वही उसका भी आत्मा है । और जो वह शरीर की निन्दा करता है । तो वह मेरी सहायता करने वाला है । क्यों कि शरीर तो मुझे भी नि-न्द्यहै । जिस योगी पुरुष को निन्दा और अपमान अत्यन्त भू-षण रूप है उस पुरुष के बुद्धि को वाचाल पुरुष विक्षेप किस रीति से कर सकता ? नहीं कर सकताहै ॥

नैष्कर्म्यसिद्धि (ग्रन्थ) में लिखा हैः ।

" सपरिकरे वर्चस्के दोषत श्चावधारिते ।

यदि दोषं वदेत्तस्मै किं तत्रोत्सारितुर्भवेत् ॥
तद्वत्स्थूले तथा सूक्ष्मे देहे त्यक्ते विवेकतः ।
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं ? तत्र विदुषो भवेत् ॥
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नाऽऽत्मनः॥"
इति । निन्दाया भूषणत्वं च ज्ञानाङ्कुशे दर्शितम् ।

अर्थः—मल मूत्रादि या जिस को मनुष्य ने दोष रूप निश्चय किया है, उस विषयमें जो कोई दोष का कथन करे तो, उस में उस विष्ठा आदि के त्याग करने वालों की क्या हानि हुई? उसी प्रकार विवेक दृष्टि से स्थूल और सूक्ष्म शरीर के छोड़ने पर-"ये दोनों शरीर मैं नहीं, ऐसा पक्का निश्चय करने पर जो कोई इन दोनो शरीरों का दोष कहे, तो विद्वान् पुरुष की उस में क्या हानि है ? शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, आदि, और जन्म मृत्यु अहं कार में प्रतीत होते हैं, ये सब आत्मा के धर्म नही हैं ॥

ज्ञानाङ्कुशनामक ग्रन्थ में निन्दा को भूषण रूप से बतलाया है।

"मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्वप्रयत्नजनितोऽयमनुग्रहो मे ।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परितुष्टिहेतो
र्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ॥
सततसुलभदैन्ये निःसुखे जीवलोके
यदि मम परिवादात्प्रीतिमाप्नोति कश्चित् ।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा
जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः"इति

अवमानस्य भूषणत्वं स्मर्यते ।

अर्थः—जो कोई मनुष्य मेरी निन्दा से ही सन्तोष को प्राप्त होवे, तो मुझे बिना किसी परिश्रम के मानो मुझपर बडा अनुग्रह हुआ ऐसा मैं समझूं । क्यों कि श्रेय (कल्याण) की अभिलाषा वाले मनुष्य अन्य का सन्तोष करने के लिये बडे परिश्रम से सम्पादन किये धन को भी खर्च कर डालते हैं जिस में सदा दीनता सुलभ है, इस प्रकार इस सुख रहित जीव लोक में जो कोई पुरुष मेरी निन्दा करने से प्रीति को प्राप्त हो, तो मेरे समीप या दूर यथेष्ट निन्दा करो, क्यों कि बहुत दुःख वाले जगत् में प्रीति का योग दुर्लभ है ।

अपमान का भूषण होना स्मृति में भी कथन किया है-

" तथाऽऽचरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथा ऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्"
इति ॥

अर्थः—सत्पुरुषों के धर्म को दूषित न करता हुआ योगी पुरुष जगत् में इस प्रकार बर्ताव करे कि जिस में लोग उस का अपमान करें, और उस की संगति न करें ॥

याज्ञवल्क्योषस्तादीनां यौ स्वनिष्ठपरनिष्ठौ विद्यामदौ तयोर्यथा विवेकेन प्रतीकारस्तथा धनाभिलाषक्रोधयोरप्यवगन्तव्यम् ।

अर्थः—याज्ञवल्क्य, उषस्त और कहोलादिक के विषय जो आपे में स्थित, और अन्य में स्थित विद्या मद थे दो प्रकार इन दोनो विद्यामदों का जैसा पूर्वोक्त विवेक से प्रतीकार हो सकता है । वैसे धन की तृष्णा और क्रोध का निवारण भी विवेक द्वारा हो सकता है ।

धन सम्बन्धी विवेक इस तरह कर सकते हैं--
"अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने।
नाशेदुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः"
इति धनविषयो विवेकः॥

अर्थः—धन को हासिल करने में दुःख होताहै, उस की रक्षा करने में दुःख होता, इस भांति सब तरह दुःख देने वाले धन को धिक्कार है।

क्रोधोऽपि द्विविधः। स्वनिष्ठः परविषयः, परनिष्ठः स्वविषयश्चेति। स्वनिष्ठं प्रत्येवमुक्तम्।

अर्थः—क्रोध भी दोप्रकार का है, एक अपना क्रोध अन्य के उपर, तथा अन्य का क्रोध आपे पर, तिनमें से अपने में स्थित क्रोध के बारे में इस प्रकार विवेक करना।

अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परि पन्थिनि॥
फलान्वितो धर्मयशोऽर्थनाशनः स-
चेदपार्थः स्वशरीरतापनः। न चेह नामुत्र
हिताय यः सतां मनांसि कोपः समुपाश्रये-
त्कथम्" इति स्वविषयं प्रत्येव मीरितम्।

अर्थः—जो तेरा क्रोध अपकार करने वाले पर होता है, तो कोप जो धर्म है, धर्म अर्थ, काम, और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का बलात्कारसे घातक होनेसे अत्यन्त अपकारी है उस पर तेरा क्रोध क्यों नहीं होवे ? क्रोध जो अन्य को किसी भी प्रकार की हानि करने रूप फलयुक्त हो तो उस क्रोध करने हारे का धर्म, यश अर्थ का नाश करता, और जो कोई भी फल देने वालां न हो सकेतो आपेको आश्रय देने वाले पुरुष के

ही शरीर को संतप्त करता है ? अत एव जो क्रोध इस लोक और परलोक दोनों लोकों के लिये हितरूप नहीं, उसको सत्पुरुषों का मन कैसे आश्रय देवें ? नहीं देवें।

अपने उपर हुए अन्य के क्रोधके विषय में इस भांति विचार किया है—

" नमेऽपराधः किमकारणोन्नृणां
मदभ्यसूयेत्यपि नैव चिन्तयेत् ।
न यत्कृता प्राग्भवबन्धनिःस्मृति-
स्ततोऽपराधः परमोऽनुचिन्त्यताम् " ॥
नमोऽस्तु कोपदेवाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।
कोप्यस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने" इति ।

अर्थः—मेरा कोई भी अपराध न होने पर भी लोगों ने मेरी निन्दा निष्कारण क्यों कियी होगी ? ऐसा विचार कभी न करे परन्तु पूर्वजन्म मे मैने संसार निवृत्ति के लिये कोई उपाय न किया, यही मेरा बडा अपराध है । जो यह उपाय किया होता, तो आज शरीर ही न होता, तो लोग किसकी निन्दा करते ? ऐसा विचार करना चाहिये ।

जिस ने आपै को आश्रय देरक्खा है, उसको ही बहुत जलानेवाला मैं या जो अन्य के कोपका विषय हूं, उस को वैराग्य देनेवाला और मेरे दोष रूपका बोधन करानेवाले क्रोधरूप देव को नमस्कार है ।

घनाभिलाषक्रोधवद्योषित्पुत्राभिलाषावपि
विवेकेन निवर्तनीयौ । तत्र योषिद्विवेको
वसिष्ठेन दर्शितः ।

अर्थः—धनकी तृष्णा और क्रोधके समान स्त्री एवं पुत्र

की इच्छा भी त्यागने योग्य ही है। इन दोनों के विषय में वि-
वेक का प्रकार वसिष्ठजी ने दिखलाया है। वहां स्त्री के स-
म्बन्ध में इस प्रकार का विचार किया है—

"मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन्स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरान्॥
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम्॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम्।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥
इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः।
ब्रह्मन्कतिपयैरेव याति स्त्रीविशरारुताम्॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्" इति।

पुत्रविवेको ब्रह्मानन्दे दर्शितः—

अर्थः—स्नायु, और हड्डियों की परस्पर सङ्गठन से सुन्दर मांस की पूतलीरूप स्त्री के यन्त्र के समान चञ्चल शरीररूप पञ्जर में क्या है ? कुछ भी नहीं । स्त्री की आंखों में त्वचा, मांस, रुधिर. आंसू, ये सब अलग २ कर इन में यदि कोई सुन्दर पदार्थ हो तो, उसे देखो। और जो न हो तो, उस में वृथा मोहवश क्यों होता ? जिस स्तन पर लटकती हुई मोती की माला की शोभा, मेरु पर शोभती गङ्गा की धारा के समान शोभती ऐसा मानते हो, उसी स्त्री के स्तन को दूर के प्रदेशरूप स्मशान भूमि में एक समय मरने पर बहुत से चावल के पिण्ड के समान कुत्ते सब प्रीति पूर्वक खाते हैं, स्त्रियां पापरूपी अग्नि की ज्वाला के समान है, क्योंकि जैसे अग्नि की ज्वाला के उपरले भागमें काजल होता है, उसी प्रकार यह स्त्री रूप पापाग्नि ज्वाला केश रूपी काजल को मस्तक पर धारण करती है, जैसे अग्नि की ज्वाला देखने में सुन्दर, प्रकाशित हुई परन्तु उस का स्पर्श दुःख देनेवाला है, उसी प्रकार यह स्त्री भी देखने में सुन्दर होती। परन्तु उसका स्पर्श दुःख दाई है । और जैसे प्रसिद्ध अग्नि तृणादिक को जला देता उसी प्रकार यह स्त्री रूपी पापाग्नि की शिखा पुरुषरूप तृण आदिक को जला देती, वासना करके सुन्दर हुई विवेक से नीरस स्त्रियां, नरकाग्नि जो अतिदूर अर्थात् यम पुरीमें बलता है, सो वह देखनेमें सुन्दर परिणाम में दारुण इन्धन रूप है । काम नामक व्याधने मूढ चित्तवाले नर रूप पक्षियों के अङ्गो को बांधने के लिये संसार रूप वन में स्त्री रूप जाल फैलाया है। द्रव्य रूप कादोंमें फिरने वाला, जन्म मरण रूपी पल्वल [अनेक तालाब] का मत्स्य

रूप पुरुषको खीचनेवाली दुर्वासना रूप रज्जु से बन्धी हुई वडिश [मच्छली फसाने का कांटा] के साथ चुभी हुई मांस पिण्ड के समान स्त्री है। सकल दोष रूपी रत्नों को रखने वाले सन्दुक की नाई और दुःख देनेवाला शृंखला रूप स्त्रीका मुझे सर्वदा प्रयोजन नही। यहां मांस है, तो यहां रुधिर है, और यहां हड्डियां हैं, इस भांति शरीर गत पदार्थ हैं, ऐसे होते कितने दिनों तक मोह से हे ब्रह्मन् ! स्त्री—विषय सुन्दरता को पाता है। जिसको स्त्री है, उसको भोग की इच्छा है; जिसको स्त्री ही नहीं उसको भोगका सम्भव कहां से ? जिसने स्त्रीका त्याग किया, उसने संसारका त्याग किया, और जगत का त्याग करने से पुरुष सुखी होता है।

पुत्र सम्बन्धी विवेक ब्रह्मानन्द नामक पञ्चदशी के प्रकरण में बतलाया है—

"अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते।
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते॥
यूनश्च परदारादिर्दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा" इति

अर्थः—नहीं प्राप्त हुआ पुत्र माता पिता को चिरकाल तक दुःख देता और गर्भ मे प्राप्त हुआ गर्भपात द्वारा और प्रसव वेदना से कष्ट देता है। पुत्र उत्पन्न हुए अनन्तर बालग्रह और रोग आदिक से माता पिता को दुःख होता है। और कुमार अवस्था होने पर उसकी मूर्खता दुःख देती है। उपनयन संस्कार करने पर भी यदि वह विद्या हीन हुआ तो उस से भी माता

पिता को दुःख होता है । युवा होने पर वह परदार लम्पट होता तोभी माता पिता को दुःख होता है । जो वह पुत्र बहु-बाला हुआ तो अनेक कुटुम्बी हुआ और उसकी दरिद्र अवस्था हो तोभी माता पिता को खेद होता है। धनवान हुआ और जो वह मर गया तो माता पिता के दुःख की सीमा नहीं रहती—

यथा विद्याधनक्रोधयोषित्पुत्रविषयाणां म-लिनवासनानां विवेकेन प्रतीकारस्तथा-ऽन्यासामपि यथायोगं शास्त्रैः स्वयं युक्त्या दोषं विविच्य प्रतीकारं कुर्यात् । कृते च प्र-तीकारे जीवन्मुक्तिलक्षणं परमं पदं लभ्यते । तदाह वसिष्ठः—

अर्थः—विद्या, धन, क्रोध, स्त्री, और पुत्र सम्बन्धी मलिन वासना ओंकी निवृत्ति जैसे विवेक से होती उसी प्रकार अ-न्य वासनाओं की—जो जो वासनायें अन्तरमें प्रतीत हुई हो उन सब को भी शास्त्र और युक्तिसे निवृत्ति करे । ऐसा करने से जीवन्मुक्ति रूप परम पद की प्राप्ति होती है । ऐसा-भगवान् वसिष्ठ मुनि कहते हैं—

“वासनासंपरित्यागे यदि यत्नं करोष्यलम् ।
तास्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयःक्षणात्।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात् सन्त्यज्य वासनाः ॥
स्थितिं बध्नासि चेत्तर्हि पदमासादयस्यलम् ”
इति ॥

अर्थः—हे राम चन्द्र ? यदि तुम वासना के त्याग के नि-मित्त परि पूर्ण यत्न करोगे तो, क्षणभरमें सारी आधि व्याधि-यों की शिथिलता को प्राप्त होगे । पुरुषार्थ के बल से वास-

नाओं का त्याग कर [वृत्ति] की) स्थिति (जो स्वरूप में) बान्धोगे तो पूर्ण ऐसे परम पद को पाओगे ।

नन्वत्र पौरुषः प्रयत्नोनाम पूर्वोक्तो विषय-दोषविवेकः । स च पुनः पुनः क्रियमाणोऽपि प्रबलेन्द्रियव्यापारेणाभिभूयते । तदुक्तं भगवता—

अर्थः—शङ्का—यहां पुरुषार्थ अर्थात् विषय दोष सम्बन्धी विवेक समझाना हैं। परन्तु इस विवेक को करने परभी और प्रवल इन्द्रियों का वेग इस विवेक का ध्वंस कर डालता यह बात भगवान् ने भगवद् गीता अ०२। श्लो० ६० ६७मे कही है—

"यततो ह्यपि कौन्तेय ? पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" इति ॥

अर्थः—हे कौन्तेय ? यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष को भी व्याकुल करने वाले इन्द्रियां बलात्कार से (उसके) मन को हरतीं हैं। जैसे वायु समुद्र में नाव को इधर उधर घुमाता है वैसे मन विषयों में प्रवृत्त हुए इन्द्रियों में जिस जिस इन्द्रिय को प्राप्त हुआ, वही (इन्द्रिय) इस मनुष्य की बुद्धि को डुबा देती है।

एवं तर्ह्युत्पन्नविवेकरक्षार्थमिन्द्रियाणि निरोद्धव्यानि तदपि तत्रैवोत्तर श्लोकाभ्यां दर्शितम्।

अर्थ—जो इन्द्रिय विवेक का ध्वंस करती होतो उत्पन्न हुए विवेक की रक्षाके लिये इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये। यह बात भगवान् ने उसी स्थान में उपरले श्लोकों के बाद दो श्लोकों में कही है:—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
तस्माद्यस्य महाबाहो ? निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"
इति । स्मृत्यन्तरेऽपिः—

अर्थः—उन सब इन्द्रियों को भलीभान्ति रोक के मेरे मे विश्वास कर एकाग्र चित्त हो । क्यों कि जिसके इन्द्रिय अपने अधीन हैं, उस की बुद्धि स्थिर कही जाती है । इस लिये हे महाबाहो ? (अर्जुन) जिस ने अपने इन्द्रियों को सब विषयों से खींच लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई है ।

अन्य स्मृति में भी कहा है—

"यः पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम्" इति॥
एतदेवान्यत्र सङ्ग्रहविवरणाभ्यां स्पष्टीकृतम् ।

अर्थः—संन्यासी हाथ, पांव, चपल, न रक्खे, नेत्र चपल न रक्खे, अर्थात् प्रयोजन के सिवाय निर्व्यापार रक्खे, वाणी भी चपल न रक्खे अर्थात् खास प्रयोजन विना भाषण भी न करे ये सब शिष्ट पुरुषों के लक्षण हैं ।

इस अर्थ को, ही अन्यत्र सङ्क्षेप में उसी प्रकार विस्तार से स्पष्ट किया है—

"अजिव्हः षण्डकः पङ्गुरन्धोबधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः" ॥

अर्थः—जिह्वारहित, क्लीब, लङ्गडा, अन्धा, बहिरा, और मूढ भिक्षु अजिह्वत्वादि छः गुणों से मुक्तहोताहै । इसमे लेश भी संशय नहीं है ।

"इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते" ॥

अर्थः—भोजन समय जो पुरुषको भोजन करता हुआ भी 'यह पदार्थ तो मुझे प्रिय है, यह मुझको प्रिय नहीं' इस भान्ति भोज्य पदार्थों में आसक्ति को प्राप्त न हो और हित, सत्य, और (जरुरत के लायक) बोलता है उसे "अजिह्व कहते हैं।

"अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः" ॥

अर्थः—जैसे आज की पैदा हुइ तथा १०० वर्ष की स्त्री को देख कर पुरुष निर्विकार रह जाता उसी प्रकार १६ वर्ष की स्त्री को भी देखकर जो पुरुष निर्विकार चित्तवाला रहता वह षण्ढ होता है ।

"भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः" ॥

अर्थ—जिस का भ्रमण करना केवल भिक्षा निमित्त तथा मल मूत्र के त्यागने के लिये ही है, और जो एक योजन से अधिक नहीं चल सकता अर्थात् जिसका निष्प्रयोजन जहां तहां भटकना नहीं होता है । वह सर्वथा पङ्गु ही है ।

"तिष्ठतो व्रजतो वाऽपि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते" ॥

अर्थः—ठहरे हुए या चलते हुए जिस की दृष्टि १६ हाथ भूमि उपरांत दूर न जातीहो वह संन्यासी "अन्ध" कहलाताहै ॥

"हितं मितं मनोरामं वचः शोकापहं च यत् ।
श्रुत्वा यो न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः" ॥

अर्थः—हित, अहित, मनोहर, और शोक को उत्पन्न क

रने वाले वचन को सुनकर भी न सुनने के समान जो रहता है, अर्थात् उस से हर्ष शोक युक्त नही होता, वह " बधिर " कहलाताहै ।

"सान्निध्ये विषयाणां च समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवद् वर्तते नित्यं भिक्षुर्मुग्धः स उच्यते" ॥

अर्थः—विषयों की समीपता हो और स्वयंभी भोगने में सामर्थ्य वाला और अविकल इन्द्रिय वाला होवे, तौभी जो निद्रावश होता उस भांति वर्ताव करता है, वह भिक्षुमुग्ध कहलाताहै ।

"न निन्दां न स्तुतिं कुर्यान्न किंचिन्मर्माणि स्पृशेत् ।
नातिवादी भवेत्तद्वत् सर्वत्रैव समो भवेत् ॥
न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि"
इति ।

अर्थः—किसी की निन्दाया स्तुति न करे किसी को मर्मवेधी वचन न सुनावे, असन्त भाषण करने वाला न होवे, सर्वत्र समभाव वाला होवे, किसी भी स्त्री के साथ वात न करे। पहिले की देखी हुइ स्त्री का स्मरण न करे। स्त्री सम्बन्धी वात भी न करे। उसी प्रकार स्त्री के चित्र को भी न देखे ॥

यथा कश्चिद्व्रती नक्तैकभुक्तोपवासमौनादिव्रतं संकल्प्य सावधानो भ्रंशमकृत्वा सम्यक् पालयति, तथैवा ऽजिह्वत्वादिव्रते स्थितः सावधानो विवेकं पालयेत् । तदेवं विवेकेन्द्रियनिरोधाभ्यां दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेविताभ्यां मैत्र्यादिभावनासु प्रतिष्ठितास्वासुर

संपद्रूपा मलिनवासनाः क्षीयन्ते । ततो निःश्वासोच्छ्वासवन्निमेषोन्मेषवच्च पुरुषप्रयत्नमन्तरेण प्रवर्तमानाभिर्मैत्र्यादिवासनाभिर्लोके व्यवहरन्नपि तदीयसाकल्यवैकल्यानुसन्धानं चित्ते परित्यज्य निद्रातन्द्रामनोराज्यादिरूपाः समस्तचेष्टाः प्रयत्नेन शान्ताः कृत्वा चिन्मात्रवासनामभ्यसेत् । स्वतस्तावदिदं जगच्चिज्जडोभयात्मकं भासते । यद्यपि शब्दस्पर्शादिजडवस्तुभासनायैवेन्द्रियाणि सृष्टानि—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः"

इति श्रुतेः, तथाऽपि चैतन्यस्योपादानतया वर्जयितु मशक्यत्वात् चैतन्यपूर्वकमेव जडं भासते ।

"तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

इति श्रुतेः । तथा सति पश्चाद् भासमानस्य प्रथमतो भासमानमेव चैतन्यं वास्तवं रूपमिति निश्चित्य जडमुपेक्ष्य चिन्मात्रं चित्ते वासयेत् ।

एतच्च बलिशुक्रयोः प्रश्नोत्तराभ्यां विस्पष्टमवगम्यते ।

अर्थः—जैसे कोई व्रत करने हारा पुरुष रात्रि, एक भुक्त, उपवास, या मौन आदि व्रतों का संकल्प कर, सावधानतासे उस के सारे नियम पालन करता, किसी दिन भी उस को

छोडता नहीं, उसी प्रकार पूर्वोक्त अजिह्वत्व आदि व्रतों में स्थित पुरुष भी सावधानी से भली भांति विवेक का पालन करे। इस प्रकार चिर काल पर्यन्त निरन्तर और आदर पूर्वक सेवित विवेक तथा इन्द्रियनिरोध करके पूर्वोक्त मैत्री आदि भावना ओं के स्थिर होने से, आसुरी सम्पत्ति रूप मलिन वासनायें क्षय को प्राप्त होती हैं, । उन का क्षय होने से श्वास, उच्छ्वास के समान या आंख बन्द करने और खोलने के समान पुरुष प्रयत्न विना प्रवृत्त मैत्री और आदि वासना ओं करके जगत् व्यवहार करते हुए भी, कदाचित् वह व्यवहार यथार्थ सिद्ध हो या उस में कोई कमी रह जावे तौ भी उस के बारे में चित्त में चिन्ता का त्याग कर तथा निद्रा, तन्द्रा, तथा मनोराज्य (मनकी झूंठीतरंगों,) कोभी प्रयत्न से शान्त कर इस भांति चैतन्य वासनाओं का अभ्यास करे ।

यह जगत् स्वतः चैतन्य और जड–ये दो रूपों में भासता है। यद्यपि "ब्रह्माने इन्द्रियों को विषयाभिमुख कर इनका हिंसन किया" इसभांति श्रुति कहती है इस लिये, यद्यपि शब्द स्पर्श आदिक जड पदार्थों को ही प्रकाश करने के लिये इन्द्रियों को रचा है । तथापि जड का (विवर्त्त) उपादान कारण चैतन्य होने से जड पदार्थ उस से जुदा न हो सकने से चैतन्यपूर्वक ही जड पदार्थ का भान होता है । "उसके हीं भानपूर्वक सब भासता है, उस परमात्मा के प्रकाश से ये सब भासते हैं" ऐसा श्रुति भी कहती है । अत एव चैतन्य या जिसका प्रथम भान होना है वही पीछे से भासता जड पदार्थों का वास्तव स्वरूप है । एसा निश्चय कर जडपदार्थ की उपेक्षा करके चैतन्य की ही वासना आरूढ करे । यह बात बलि और

शुक्राचार्य के सम्वाद से स्पष्ट जान पडती है—

" किमिहास्तीह किम्मात्रमिदं किम्मयमेव च।
कस्त्वं कोऽहं क एते वा लोका इति वदाऽऽशु मे।
चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः" इति।

अर्थः—यहां क्या है ? यह सब किस रूप में हैं ? यह कौन है। तुम कौन हो ? मैं कौनहूं ? और यह लोक कौन है ? शीघ्र मुझे कहो। इस भान्ति बलि राजाने पूछा तब शुक्राचार्य ने उत्तर दिया जो, यही चैतन्य है ये सब चैतन्य ही है, तूं चैतन्य है, मैं चैतन्य स्वरूप हूं, तथा यह लोक भी चैतन्य स्वरूप है, यह थोडे में उत्तर है।

यथा सुवर्णकारः कटकं विक्रीणन्नपि वलयाकारस्य गुणदोषानुपेक्ष्यगुरुत्ववर्णयोरेव मनः प्रणिधित्सति तथा चिन्मात्रे मनः प्रणिधातव्यम्। यावता कालेन जडं सर्वथैवोपेक्ष्य चिन्मात्रे मनसः प्रवृत्तिर्निश्वासादिवत् स्वाभाविकी सम्पद्यते तावन्तं कालं चिन्मात्रवासनायां प्रयतेत॥

अर्थः—जैसे सोनार सोनेके कडा को बेचता हुआ भी कडा के आकार गत गुण दोष पर दृष्टि न देकर केवल उसके रङ्ग और तौल पर ही मन लगा कर देखता है—(ऐसा कडा लेनेवाला करता है) उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष मिथ्या नामरूपात्मक जड वस्तूपर लक्ष्य न देकर जडके पहिले भासता चैतन्य परही मन स्थिर कर जैसे श्वास उच्छ्वास रूप क्रिया विना प्रयास, अपने आप स्वभावसे ही होती है—

उसी प्रकार जडकी उपेक्षा कर केवल चैतन्य में ही मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जावे तब तक चैतन्य वासनाओं का अभ्यास करे ।

नन्वादावेव चिन्मात्रवासनाऽस्तु, तयैव मलिनवासनानिवृत्तेः, किमनेनान्तर्गडुना मैत्र्याद्यभ्यासेनेति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का, पहिले चिन्मात्र वासना का ही अभ्यास करे, और मलिन वासना की निवृत्ति भी इस चिन्मात्रवासना से ही होगी तो पीछे मैत्री आदि शुभ वासना के अभ्याम के बीच व्यर्थ हाथ डालने का क्या प्रयोजन है ?

चिद्वासनाया अप्रतिष्ठितत्वप्रसङ्गात् । यथा कुट्टिमदार्ढ्यव्यतिरेकेण क्रियमाणमपि स्तम्भकुड्यात्मकं गृहं न प्रतितिष्ठति । यथा वा विरेचनेन प्रबलदोषमनिःसार्य सेवितमप्यौषधं नाऽऽरोग्यकरं तद्वत् ।

अर्थः—समाधान—मैत्री मुदिता आदि शुभ वासनाओं का अभ्यास किये विना चैतन्य वासना स्थिर होती नहीं । जैसे नेव (दीवार का) मजबूत किये विना खम्भे, भीत आदिक समुदायरूप घर चिरकाल तक ठहर नहीं सकता, जैसे जुलाब लेकर सब दोषों को निकाले विना रसायन का सेवन करने से रोग को कुछ लाभ नहीं होता, उसी प्रकार मैत्री आदि शुभ वासनाओं का अभ्यास किये बिना पहिले से ही चैतन्य वासना सिद्ध हो नहीं सकती ।

ननु "तामप्यथ परित्यजेत्" इति चिन्मात्रवासनाया अपि परित्याज्यत्वमवगम्यते ।

चिन्मात्रं परित्यज्यान्यस्य कस्य चिदुपादेयस्याऽभावात् ।

अर्थः—'उस चिन्मात्र वासना का भी पीछे त्याग करो' इस भान्ति चिन्मात्रवासना को भी हेय गिना है, सो योग्य नहीं, क्यों कि चैतन्य का त्यागकर, उस के बिना अन्य कोई पदार्थ उपादेय नहीं ।

नायं दोषः । द्विविधा चिन्मात्रवासना–मनोबुद्धिसमन्विता तद्रहिता चेति । करणं मनः, कर्तृत्वोपाधिर्बुद्धिः । तथा च सत्यप्रमत्तोऽहमेकाग्रेण मनसा चिन्मात्रं भावयिष्यामीति, एतादृशेन कर्तृकरणानुसन्धानेन समन्विता प्राथमिकी या चिन्मात्रवासना ध्यानशब्दाभिधेया तां परित्यजेत् । या त्वभ्यासपाटवेन कर्त्तृत्वाद्यनुसन्धानावधानरहिता समाधिशब्दाभिधेया तामुपाददीत । ध्यानसमाध्योस्तु लक्षणं पतञ्जलिः सूत्रयामास ।

अर्थः—समाधान, यह दोष वास्तविक नहीं, क्यों कि दो प्रकार की चिन्मात्र वासना है, एक मन बुद्धि सहित, और दूसरी मन बुद्धि रहित । मन यह करण सबही ध्यान आदिक आन्तर क्रियाओं का साधन है, और बुद्धि कर्त्तापन की उपाधिरूप है अर्थात् मैं अमुक कार्य करता हूं, इसप्रकार की वृत्ति बुद्धि का स्वरूप है, इस लिये, सावधान हूं, एकाग्र मन से केवल चैतन्य की भावना करूंगा, इस भांति कर्त्ता (बुद्धि) और करण (मन) का अनुसधान पूर्वक जो आरम्भ काल में चि-

न्मात्र वासना है, उस का ध्यान यह नाम है, इस मन बुद्धि पूर्वक चिन्मात्र वासना का त्याग करे, और अधिक अभ्यास से बुद्धि और मन के अनुसन्धान विना जो समाधि नाम की चिद्वासना है, उसको ग्रहण करे । ध्यान और समाधि का लक्षण भगवान् पतञ्जलि ने सूत्रोंद्वारा कथन कियाहैः—

" तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" ।

तादृशे समाधौ दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैः सेविते स्थैर्यं लब्ध्वा पश्चात्कर्तृकरणानुसन्धानपरित्यागार्थो यः प्रयत्नस्तमपि परित्यजेत् ।

अर्थः—नाभि आदि स्थानों में ध्येय के अवलम्बन ज्ञान की जो स्थिरता लगातार प्रवाह और उसमें दूसरे ज्ञान का अभाव हो उसे ध्यान कहते हैं । जिसमे ध्यान का संस्कार मात्र रह जाय और स्वरूप शून्य के समान होजाय उसे समाधि कहते हैं।

चिर काल तक आदर पूर्वक निरन्तर सेवन किया इस प्रकार की समाधि में स्थिरता प्राप्त करने बाद मन बुद्धि के अनुसन्धान को त्यागने के लिये प्रयत्न का भी त्याग करे ।

नन्वेवं सति तत्त्यागयत्नोऽपि परित्याज्य इत्यनवस्था स्यात् ।

अर्थ—शङ्का—इस तरह तो जैसे मन, बुद्धि के त्याग के निमित्त यत्न का त्याग करे, उसी प्रकार इस त्याग के निमित्त प्रयत्न का त्याग करे, पीछे उस त्याग के निमित्त प्रयत्न का त्याग करे, इस भांति अनवस्था दोष प्राप्त होगा ?

मैवम् । कतकरजोन्यायेन स्वपरनिवर्तकत्वात् । यथा कलुषिते जले प्रक्षिप्तं कतक-

रज इतररजसा सह स्वात्मानमपि निवर्तयति तथा त्यागार्थः प्रयत्नः कर्तृकरणानुसन्धानं निवर्त्तयन्स्वात्मानमपि निवर्तयिष्यति। निवृत्ते च तस्मिन्मलिनवासनावच्छुद्धवासनानामपि क्षीणत्वान्निर्वासनं मनोऽवतिष्ठते। एतदेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह।

अर्थः—समाधान, जैसे मलिन जल में डालने से निर्मली के फल की धूलि इतर धूलि के साथ अपना भी नाश कर डालती है, उसी प्रकार कर्त्ता (बुद्धि) और करण (मन) के अनुसन्धान का त्याग के लिये किया हुआ यत्न, कर्त्ता तथा करण को अनुसन्धान की निवृत्ति के साथ अपनी भी निवृत्ति करेगी। यह यत्न निवृत्त हुए पीछे मलिन वासना के समान शुद्ध वासना में भी क्षीण होने से मन, वासना शून्य रह जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—

"तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः।
राम ? निर्वासनीभावमाहराऽऽशु विवेकतः"॥

अर्थः—वासना सहित मन बद्ध है और वासना रहित मन मुक्त है, अत एव हे राम ? विवेक द्वारा शीघ्र निर्वासनापन की प्राप्ति करो—

"सम्यगालोचनात्सत्याद्वासना प्रविलीयते।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत्"
इति।

अर्थः—यथार्थ विचार पूर्वक सम्पूर्ण जगत् का बाधरूप त्याग होने से वासनायें लय को प्राप्त होती हैं, और वासनाओं का लय होने से जैसे दीप शान्त (बुत) होता है, उस प्रकार

र वासनायें शान्त हो जाती हैं ।

"यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते"
इति च ॥

अर्थः—जो अविद्या रूप निद्रा के उड जाने से जागते हुआ भी सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान केवल स्वरूप में स्थित है, जिस को ज्ञान द्वारा देहेन्द्रियका बाध हो जाने से इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण रूप जाग्रत् अवस्था नहीं, तथा जिस को जाग्रत् वासना से हुई स्वप्न अवस्था भी नही, वही जीवन्मुक्त पुरुष कहलाता है ।

"सुषुप्तिवत् प्रशमितभाववृत्तिना
स्थितं सदा जाग्रति येन चेतसा ।
कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधै
र्निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृत" इति च ।

अर्थ—जैसे सुषुप्ति अवस्था में चित्त विषयाकार नहीं होता उस प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी जो विषयाकार वृत्ति से रहित चित्त मे स्थित है । तथा जिस को कलावान् चन्द्रमा के समान यही विवेकी पुरुष निरन्तर सेवता है, वह पुरुष मुक्त कहलाता है ।

" हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः" ॥

अर्थः—जो महामति पुरुष हृदय में के सब विषयों को त्याग कर चित्त की व्यग्रता से मुक्त रहता, वह मुक्त साक्षात् परमेश्वर है ॥

"समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।

हृदयेनास्तसर्वाशो मुक्त एवोत्तमाशयः।
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः॥
विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम्" इति॥

अर्थः—जिस के हृदय की आशा ये निवृत्त होगयीं हैं, वह पुरुष समाधि या सत्कर्म करे या न करे, परन्तु वह उत्तम आशयवाला पुरुष सदामुक्त ही है। जिस का मन वासना रहित हुआहै, उस पुरुष को कर्म के त्याग का कोई प्रयोजन नहीं, उसी तरह उस को कर्म करने से कोई फल नहीं, तथा समाधि या जपका भी कोई प्रयोजन नहीं, पूर्ण रीति से शास्त्रों का विचार किया हो तथा परस्पर चर्चा द्वारा शास्त्रों का तात्पर्य एक दूसरे को ग्रहण कराया भी हो तौभी वासना त्याग रूप मौन विना उत्तम पद की प्राप्ति नहीं होती है।

न च निर्वासनमनस्कस्य जीवनहेतुर्व्यवहारो लुप्येतेति शङ्कनीयम्। किं? चक्षुरादि व्यवहारस्य लोपः, किं? वा मानसव्यवहारस्य। तत्राऽऽद्यमुद्दालकोनिराचष्टे—

अर्थः—वासना रहित मनवाले पुरुष का कोई भी व्यवहार यथार्थसिद्ध नही हो सकता, एसी यहां शङ्का न करनी। क्यों कि चक्षु आदि इन्द्रियों का व्यवहार और मानस व्यवहार ये दो प्रकार के व्यवहार हैं। इनमें से कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता? इन में से प्रथम पक्षका उद्दालक मुनि खण्डन करते हैं-

"वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः।

प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासना नात्र कारणम्" इति॥
द्वितीयं वसिष्ठो निराचष्टे—

अर्थः—ये चक्षु आदि इन्द्रियां वासना बिना भी, अपने विषय प्रति स्वयं ही प्रवृत्त होती हैं । इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त होने में कोई वासना कारण नहीं है ।

वासनाके क्षय होने से मानस व्यवहार भी वन्द नहीं होता यह वसिष्ठ मुनि कहते हैं ।

" अयत्नोपनतेष्वक्षिदिग्द्रव्येषु यथा पुनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः " इति ॥
तादृश्या धिया प्रारब्धभोगं स एवोपपादयति—

अर्थः—रास्ता चलते, बिना यत्न के प्राप्त हुए नाना दिशाओं की वस्तुओं पर जैसे दृष्टि राग विना जाती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष के अन्तः करण की वृत्ति सब कामों में राग विना ही प्रवृत्त होती है ।

राग रहित बुद्धि द्वारा प्रारब्धभोग भी सिद्ध होता है, ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

" परिज्ञायोपभुक्तोहि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चौरो मैत्रीमेति न चौरताम्" ॥
अशङ्कितोपसंप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते" इति ॥
भोगकालेऽपि सवासनेभ्यो निर्वासनस्य विशेषमाह—

अर्थः—जैसे चोर को चोर रूप से जान कर उस का से-

यत्न करने से वह चोर मित्र हो जाता है, किन्तु वह अपनी चोरी नहीं करता वैसे विषय भोगमें जो २ दोष हैं, उस को यथार्थ जनकर उसके भोगने से तृष्णाओं को नहीं बढा कर सन्तोष ही उत्पन्न करते हैं। जैसे मुसाफिर नीडर हुआ ग्राम यात्रा (एक के पीछे एक आने जाने वाले को) को देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी भोगलक्ष्मी (उदासीन दृष्टि से) देखता है।

भोग समय भी सवासन से निर्वासन पुरुष में अधिकता वशिष्ठ जी ने कही है—

" नाऽऽपदि ग्लानिमायाति हेमपद्मं यथा निशि।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥
नित्यमापूर्णतामन्तरक्षुब्धामिन्दुसुन्दरीम् ।
आपद्यपि न मुञ्चन्ति शशिनः शीततामिव ॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विगताशयाः ।
नियतं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव" इति ॥

जनकस्यापि समाधिव्युत्थितस्येदृशमेवाऽऽचरणं पठ्यते ।

अर्थः—जैसे सोने का कमल (बनावटी होनेसे) रात्रि में भी कुम्हलाता नहीं वैसेही जीवन्मुक्त पुरुष आपत्ति में भी दीनता के वश नहीं होता है, प्रवाह प्राप्त कार्य्य के सिवाय अन्य कार्य के करने की इच्छा नहीं होती, और शिष्ट पुरुषों के ही मार्ग का अनुसरण कर आनन्द को प्राप्त होता है। चन्द्रमा के समान और वैसाही शीतल विकार रहित ऐसी पूर्णता को आपत् काल में भी नहीं छोडता वासना रहित महान् पुरुष समुद्रकी नाई मर्यादा को नहीं छोडता, उसी भांति सूर्य्य के समान नियम को नहीं छोडता है।

समाधि में से उठने बाद जनक का भी उसी प्रकार आ-चरण योगवासिष्ठ में कहा गयाहै—

"तूष्णीमथ चिरं स्थित्वा जनकोजनजीवितम्।
व्युत्थितश्चिन्तयामास मनसा शमशालिना ।
किमुपादेयमस्तीह यत्नात्संसाधयामि किम् ।
स्वतःस्थितस्य शुद्धस्य चितः का मेऽस्ति कल्पना।
नाभिवाञ्छाम्यसंप्राप्तं संप्राप्तं न त्यजाम्यहम्।
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममास्ति तदस्तु मे।
इति संचिन्त्य जनको यथाप्राप्तक्रियासमौ ।
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनं दिनपतिर्यथा ॥
भविष्यं नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवानुवर्तते" इति ॥
तदेवं यथोक्तेन वासनाक्षयेण यथोक्ता जी-वन्मुक्तिर्भवतीति सुस्थितम् ॥

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतजीवन्मुक्तिविवेके
वासनाक्षयनिरूपणं नाम
द्वितीयं प्रकरणम् ॥ २ ॥

अर्थः—बहुत देरतक शान्त रहकर जाग्रत होने के बाद शान्ति युक्त चित्त करके जनक लोगों के जीवित का कारण रूप आत्मस्वरूप में विचार करने लगे कि 'इस जगत में मेरे ग्रहण योग्य क्या वस्तु है जिस को मैं यत्न से सिद्धकरुं ? स्वतः स्थित शुद्ध चैतन्य मेरी क्या कल्पना है ? अप्राप्त वस्तु की मैं इच्छा करता नहीं वैसे ही प्राप्त वस्तु को नहीं छोडतां। मैं तो केवल-

स्वस्थ स्वरूप मैं ही स्थिर हूं । प्रारब्ध द्वारा प्राप्त जो व-स्तु मेरीमानी गयी वह भले ही मेरी हो । इस प्रकार विचार क-र जैसे सूर्य नारायण, अधिकार वशात् प्राप्त दिवस रूप क्रिया करते हैं वैसे ही जनक राजा भी आसक्ति रहित, यथा प्राप्त क्रिया करने के लिये उठे । यह राजा भविष्यत् सम्बन्धी वि-चार नही करते उसी प्रकार भूत कालका भी विचार नहीं करते और वर्त्तमान क्षण को तो हसते हुए वर्तते हैं ।

इस भान्ति यथा विधि उक्त वासनाक्षय द्वारा यथार्थ जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है, यह अत्यन्त निश्चित हैं । इस प्रका-र जीवन्मुक्ति विवेक का वासनाक्षय नाम का दूसरा—

प्रकरणसमाप्त हुवा ॥

अथ तृतीयं मनोनाशप्रकरणम् ।

अथ जीवन्मुक्तिसाधनं मनोनाशं निरूपयामः।यद्यप्यशेषवासनाक्षये सति अर्थान्मनो नश्यत्येव, तथाऽपि स्वातन्त्र्येण मनोनाशे सम्यगभ्यस्ते सति वासनाक्षयो रक्षितो भवति । न चाजिह्वत्वषण्डकत्वाद्यभ्यासेनैव तद्रक्षा सिद्धेति वाच्यम् । नष्टे मनस्यजिह्वत्वादीनामर्थसिद्धत्वेनाभ्यासप्रयासाभावात् । मनोनाशाभ्यासस्तत्राप्यस्तीति चेदस्तु नाम ? तस्याऽऽवश्यकत्वादन्तरेण मनोनाशमभ्यस्ता अप्यजिह्वत्वादयोऽस्थिरा भवन्ति । अत एव मनसो नाशनीयत्वं जनक आह ।

अर्थः—अत्र जीवन्मुक्ति के साधन रूप मनोनाश का निरूपण करते हैं । यद्यपि सम्पूर्ण वासनाओंके क्षय होनेसे मनका नाश हो ही जाता है, तथापि स्वतन्त्र मनोनाश का यथाशास्त्र अभ्यास करने से वासनाक्षय की रक्षा होती है, अर्थात् वासना फिर उदय होने योग्य नही रहती । मौन होना षण्ढ होना आदि पूर्वोक्त साधनों के अभ्यास से वासना क्षय की रक्षा सिद्ध ही है, ऐसी शङ्का यहां न करनी चाहिये । क्योंकि मनोनाश होने से, मौन, षण्ढत्व आदि स्वयं सिद्ध होने से उन के अभ्यास करने के लिये प्रयास नही करना पडता ।

शङ्का—अजिह्वत्वादि में भी मनोनाश का अभ्यास तो है ही, तब स्वतन्त्रता से मनोनाश के लिये अभ्यास क्यों करेंगे ?

समाधान—मनोनाश का अभ्यास उस में भी हो, परन्तु मनोनाश के अभ्यास की आवश्यकता होने से, स्वतन्त्रता से मनोनाश का अभ्यास किये विना अजिह्वत्वादि साधन सिद्ध नही रहते। अतएव जनक ने मन को नाश करने योग्य कहा है।

"सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः।
अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिति स्थितम्॥
संकल्पमेव तन्मन्ये मनोमूलमिति स्थितम्।
संकल्पमेव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत्॥
शोषयामि यथाशोषमेति संसारपादपः।
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दृष्टश्चोरो मयाऽऽत्मनः॥
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हतः।
वसिष्ठोऽप्याह—

अर्थः—हजार अंकुर, शाखा, पल्लव, और फल वाले संसाररूपी, वृक्ष की जड मन ही है, इस में सन्देह नही। संकल्प ही उस का स्वरूप है, इस लिये संकल्प का शमन करने के लिये मन का शोषण कर डाले, जिस्से यह संसार रूपी वृक्ष भी सूख ही जाय। अब मैंने समझा, अब ही समझा हूं, मैंने आत्म धन का चुराने वाले मन नामक चोर को देखा है, इस लिये अब आज मै इसे मारता हूं, इस ने बहुत दिनों तक मुझे मारा है। वसिष्ठजी कहते हैं—

" अस्य संसारवृक्षस्य सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः॥
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला॥
तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।

एकत्वं च दृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥
हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥
एतावति धरणीतले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः ।
पुरुषकथासु च गण्यानि जिता ये चेतसा स्वेन ॥
हृदये बिले कृतकुण्डल उल्वणकलनाविषो
मनो भुजगः ।
यस्योपशान्तिमगमचन्द्रवदुदितं तमभ्ययं वन्दे"
इति ।

अर्थः--अनेक प्रकार के कष्टरूप फल को देनेवाले इस संसार वृक्ष का निर्मूल करने का, केवल अपने मन का निग्रह करे यही केवल उपाय है । मन का उदय यह पुरुष के नाश का रूप है, और मन का नाश यह उस का बडा अभ्युदय है । ज्ञानी का मन नाश को प्राप्त होता है, और अज्ञानी का मन इस का बांधने वाला सांकल (जंजीर सिर) रूप है । जब तक एक परम तत्त्व के दृढ अभ्यास से अपने मन को नहीं जीतता तब तक आधीरात में नाच करने वाले पिशाचादि के समान हृदय में नाच किया करता है ।

जिस के चित्त का गर्व शांत हुआ है, तथा जिस ने इन्द्रियरूप शत्रु को वश में कर लिया है, उस की भोगवासनायें शीतकाल में हिम पडने से कमल के नाश के समान क्षय को प्राप्त हो जाती हैं । हाथ से हाथ दाब कर, दांतों से दांत को पीस कर और अङ्गों से अङ्ग मरोड कर भी प्रथम अपने मन को जीते ।

वे ही पुरुष इस विशाल भूमण्डल में भाग्यवान्, बुद्धिमान् हैं और पुरुषों में भी ऐसी ही की गणना हो सकती है। हृदय रूपी बिल में फणवाला बैठा हुआ (सर्प) सङ्कल्प विकल्प रूप जिस का भयङ्कर विष है, ऐसा मनरूपी सर्प जिस का मारा गया है, उस उदय पाये हुए पूर्णचन्द्रमा के समान निर्विकार पुरुष को मैं वन्दना करता हूं।

"चित्तं नाभिः किलास्येदं मायाचक्रस्य सर्वतः।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किं चित्प्रबाधते" इति॥
गौडपादाचार्य्यैरप्युक्तम्।

अर्थः—इस मायाचक्र की नाभि (मध्य) ठीक यह चित्त है। सब ओर से उस का आक्रमण कर जो स्थित हुआ है। वह किसी बाधा को प्राप्त नहीं होता।

श्री गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

"मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेवच" इति॥
अर्जुनेनोक्तम्—

अर्थः—सब योगिपुरुषों को भयशून्यता की प्राप्ति मन के निग्रह के अधीन है, उसी प्रकार दुःख की निवृत्ति, ज्ञान और अक्षय शान्ति भी मन के निग्रह के ही अधीन है। अर्जुन ने भी (भ० गी० अ० ६। श्लो ३४) कहा है—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण ? प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्"
इत्येतद्वचनं हठयोगविषयम्। अतएव वसिष्ठ आह—

अर्थः—हे कृष्ण ! इन्द्रियों को क्षुब्ध करनेहारा विचारसे

जीतने के अयोग्य, दृढ अर्थात् विषय वासनाओं से दुर्भेद्य मन अत्यन्त ही चञ्चल है। वायु के समान इन को रोंकना मैं दुष्कर जानता हूं ॥ ३४ ॥

यह वचन हठयोग सम्बन्धी है, अर्थात् हठयोग से मन का रोंकना अत्यन्त कठिन है, इस अभिप्राय से यह वचन अर्जुन ने कहा है। इस अभिप्राय से वसिष्ठ जी भी कहते हैं कि—

"उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दितम् ॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
विजेतुं शक्यते नैव तथा युक्त्या विना मनः ॥
मनोविलयहेतूनां युक्तीनां सम्यगीरणम् ।
वसिष्ठेन कृतं तावत्तन्निष्ठस्य वशे मनः ॥
हठतो युक्तितश्चापि द्विविधो निग्रहो यतः ।
निग्रहो धीक्रियाघ्राणां हठो गोलकनिग्रहात् ॥
कदा चिज्जायते कश्चिन्मनस्तेन विलीयते ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥
विमूढाः कर्त्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः" इति॥

अर्थः—चित्त के स्वभाव को जानने वाले पुरुष, विना उत्तम युक्ति प्राप्त किये, केवल वारंवार आसन पर बैठने से इस मन को नहीं जीत सकते जैसे महामत्त हाथी विना अङ्कुश के

वश में नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह मन भी उत्तम युक्ति के बिना वश में नहीं आसकता । मन को वश करने की ठीक २ युक्तियां वसिष्ठ जी ने निरूपण कियी हैं अतएव उन युक्तियों के सेवन करने वाले पुरुष के मन स्वयमेव अधीन हो जाता है। मन का निग्रह (रोकना) दो प्रकार का है—एक हठ द्वारा दूसरा युक्ति द्वारा तहां (नेत्र आदिक ५ ज्ञान इन्द्रिय, और वाणी आदि पांच कर्म इन्द्रिय, ये दश इन्द्रिय) इन्द्रियोंके गोलक मात्र के निरोध करने से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का जैसे हठ से निग्रह किया होता है वैसे ही कदाचित् इस मन का भी हठ से निग्रह होगा ऐसी भ्रांति मूढ पुरुष को होती है । अब युक्ति से निग्रह को कहते है । युक्ति ४ प्रकार की है एक तो अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, दूसरी महात्माओं का समागम, तीसरी वासनाओं का परित्याग, और चौथी प्राणों के स्पन्द का निरोध है। ये ही चार युक्तियां उस मन के निरोध के लिये उपाय है । इन चार युक्तियों के विद्यमान हुए भी पुरुष चित्त को बलात्कार से निग्रह करता वह पुरुष अन्धकार को हठानेके लिये दीपक का परित्याग कर अन्धकार को आञ्जन से निवृत्त करता है । जो मूढ पुरुष हठ से चित्त को जीतने का उद्यम करता है, वह मानो पगले हाथी को कमल के सूत से वान्धता है ? ?

निग्रहो द्विविधः हठनिग्रहः क्रमनिग्रहश्चेति। चक्षुःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादिकर्मेन्द्रियाणि च तत्तद्गोलकोपरोधमात्रेण हठान्निगृह्यन्ते । तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि तथा निग्रहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति, न तु तन्निगृह्यते । तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य नि·

रोद्धुमशक्यत्वात् । अतः क्रमनिग्रह एव योग्यः ।

अर्थः—हठ निग्रह और क्रम निग्रह इस भांति दोप्रकार का निग्रह तहां चक्षु आदि ज्ञान इन्द्रियों का और वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का उस २ इन्द्रिय के गोलक को (इन्द्रियों के रहने की जगह) व्यापार रहित करने से जैसे हठ से निरोध किया जा सकता, वैसे ही मन के गोलक का निरोध भी मै करूंगा ऐसी मूढ पुरुष को भ्रांति होती है परन्तु उस तरह मन का निरोध हो नही सकता । क्यों कि जैसे आंख मून्दने से नेत्रे-न्द्रिय का निरोध हो सकता वैसे मन के गोलक हृदय कमलका निरोध नही किया जा सकता । अतएव मन के निग्रहार्थ क्रम निग्रह ही योग्य है ।

क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याप्राप्त्यादय उपायाः सा च विद्या दृश्यमिथ्यात्वं दृग्वस्तुनः स्वप्रकाशत्वं च बोधयति तथाच सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु प्रयोजनाभावं प्रयोजन-वति दृग्वस्तुन्यगोचरत्वं च बुद्ध्वा निरिन्धना-ग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति । तथा च श्रूयते ।

अर्थः—क्रम निग्रह के लिये अध्यात्मविद्या की प्राप्ति आदि उपायों को ऊपर कथन किया है । तिस में अध्यात्म विद्या दृश्य का मिथ्यापन और द्रष्टा का स्वयं प्रकाशपन को जतलाती है; ऐसा करने पर यह मन, अपना विषय दृश्य पदार्थ, जिस का अध्यात्म विद्या से मिथ्यारूप निश्चय किया है, उस के प्रति जाने को मुझे प्रयोजन नही तथा जिस के प्रति जाने को मुझे प्रयोजन नही तथा जिस के प्रति जाने की आवश्य-

कता है, वह द्रष्टा रूप वस्तु मेरा विषय नहीं, इस भान्ति समझ कर यह मन, जैसे काष्ठ आदिक के अभाव से अग्नि स्वयं शान्त हो जाता वैसे ही स्वयं शान्त हो जाता है। श्रुति भी कहती है—

"यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति"
इति।

अर्थः—जैसे इन्धन के न रहने पर अग्नि अपने कारण में शान्त हो जाता है, उसी भान्ति वृत्ति के क्षय से चित्त आत्मा में शान्त हो जाता है।

योनिरात्मा। यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग् बुध्यते यश्च विस्मरति तयोरुभयोः साधुसङ्गम एवोपायः। साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च। यस्तु विद्यामदादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग उपायः। वासनानामतिप्राबल्येन त्यक्तुमशक्यत्वे प्राणस्पन्दनिरोधनमुपायः। प्राणस्पन्दनवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात्तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते।

प्रेरकत्वं च वसिष्ठ आह—

अर्थः—परन्तु जो जडबुद्धिवाला होने से आत्मतत्त्व का बोध कराने पर भी उस का ग्रहण नहीं कर सकता, तथा जो ग्रहण कर तुरन्त उसे भूल जाया करता ऐसे पुरुष के मन के निग्रह के लिये सत्पुरुषों का समागम ही उपायरूप है। क्यों

कि दयालु सत्पुरुष ऐसे जडमतिवाले को वारवार बोध कराते है, तथा आत्मा का स्मरण कराया करते हैं। जो पुरुष विद्या-मद, धन मद, ऐश्वर्यमद आदि दुष्ट वासनाओं से पीडित होने से सत्पुरुष की शरण में जा कर उन को, प्रणाम शुश्रूषा आदि उपायों से प्रसन्न करने में असमर्थ होते ऐसे पुरुषों के लिये पूर्वोक्त विवेक से वासना का त्याग रूप उपाय है । वासनाओं की अति प्रबलता होने से उन को जो नहीं छोड सकता उन के लिये प्राण वायु का निरोध रूप उपाय है। प्राण की गति और वासनायें चित्तको वेग में प्रेरणा करती हैं, अत एव उन दोनों के निरोध करने से चित्त शान्ति को पाता है।

गतिवाला प्राण और वासना मन को वेग में प्रेरणा करती है, ऐसा श्री वसिष्ठ जी कहते हैं—

"द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढवासना ॥
सती सर्वगता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
संवेदनादनन्तानि ततो दुःखानि चेतसः" इति ॥

अर्थः—हे रामचन्द्रजी ? आप में से प्राप्त हुई वृत्तिरूप लताओं को धारण करने वाले चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं। एक प्राण की गति और दूसरा दृढ वासना।

यथा भस्मच्छन्नमग्निं लोहकारा दृतिभ्यां धमन्ति तत्र च दृत्युत्पन्नवायुना सोऽग्निर्ज्वलति तथा चित्तोपादानेन काष्ठस्थानीयेनाज्ञानेना-ऽऽवृता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यमाना चित्त-वृत्तिरूपेण प्रज्वलति । तस्माच्चित्तवृत्तिनाम-कात् संविज्ज्वालारूपात् संवेदनाद्दुःखा-

न्युत्पद्यन्ते सेयं प्राणस्पन्देन प्रेरिता चित्तोत्पत्तिः। अन्यांच स एवाऽऽह—

अर्थः—चित्त का उपादान (बीज) कारण रूप अविद्या से ढका हुआ सर्वगत चैतन्य प्राण के वेग से प्रकट होता है। उस के प्रकट होने से चित्त में से दुःख उत्पन्न होता है। अर्थात् जैसे भस्म से ढके हुए अग्नि को लुहार धौंकनी से धौंकता है, तब धौंकनी से उत्पन्न वायु से अग्नि में ज्वाला उत्पन्न होती है, उसी प्रकार काठ के समान चित्त का उपादान कारण रूप अज्ञान से आवृत चैतन्य प्राण वायु से स्फुट हो चित्तवृत्ति रूप से जला करता। उस चित्त संवित् नाम की (अज्ञानावृत चैतन्य) की ज्वाला रूप आग से अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं।

इस भान्ति प्राण की गति द्वारा प्रेरित चित्त की उत्पत्ति बतलायी गयी। वासनाजन्य चित्त की उत्पत्ति का भी श्री वसिष्ठ मुनि कथन करते हैं—

"भावसंवित्प्रकटितामनुभूतां च राघव?।
चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजनितां शृणु॥
दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम्।
चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम्" इति॥

न केवलं प्राणवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वं किं तु परस्परप्रेरकत्वमप्यस्ति। तदाह वसिष्ठः—

अर्थः—हे रामचन्द्रजी! पदार्थ के ज्ञान से प्रकट हुए, अनुभव में आये हुए, चित्त की दूसरी वासनाजन्य उत्पत्ति का तुम श्रवण करो दृढता से सेवित विषय की वासना से जन्म, बुढापा, और मरण का कारण इस भान्ति अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है।

केवल प्राण और वासना ही चित्त को प्रेरणा करनेवाले नहीं हैं प्रत्युत वे दोनों भी परस्पर एक दूसरे को प्रेरणा करते हैं। इसी प्रकार वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

"वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ।
क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः" इति ॥

अतएवान्यतरनाशेनोभयनाशमप्याह ।

अर्थः—वासना के अधीन प्राण की गति है, और प्राण के गति के कारण वासना फुरती है, इस भान्ति चित्त के बीज रूप वासना और प्राणव्यापार का बीजांकुर के समान क्रम है। इसी कारण दोनों में से एक के नाश होने से दूसरे का नाश हो जाता ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

"द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दवासने ।
एकस्मिँश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यत" इति ॥

तयोर्नाशोपायं नाशफलं चाऽऽह—

अर्थः—गतिवाला प्राण और वासना ये दोनों चित्तरूपी वृक्ष के बीज हैं। इन दोनों में से एक का क्षय होने से तत्काल दोनों का क्षय हो जाता है ॥

इन दोनों के नाश का उपाय और नाश के फल को श्री वसिष्ठ जी कहते हैं—

"प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशवर्तित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥

एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ! ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा" इति ॥
अमनस्तानुदये शान्त्यभावमाह—

अर्थः—प्राणायाम के दृढ अभ्यास से, श्रीसद्गुरु से प्राप्त कियी हुई युक्ति द्वारा आसन जय और नियमित आहार से प्राण की गति रोकी जा सकती है, निःसङ्ग व्यवहार से जगत् से सत्यत्व बुद्धि को त्यागने से और शरीर के विनाशपन को बार २ स्मरण करने से दुष्ट प्राण की गति के निरोध से चित्त अचित्तपन को प्राप्त होता है । अतएव हे राम ! इन दो उपायों के करने की इच्छा हो तो करो । किसी भी पदार्थ को सत्य मानकर उस को सेवन करना यही चित्त का स्वरूप है, इस भांति मैं मानता हूं यह वस्तु तो सुख का हेतु है, इस लिये यह तो ग्रहण करने योग्य हैं, और यह तो सुख का हेतु नहीं है इस लिये अग्राह्य है इस प्रकार जब किसी पदार्थ विषयक ग्राह्य अग्राह्यकी भावना न हो ऐसा ही जब सब अनात्म वस्तुओं के त्याग से रह सकता है तब चित्त का उदय नहीं होता चित्त निर्वासन होने से जब सङ्कल्प विकल्प नहीं करता तब अमनस्कता का उदय होता है जो परमशान्ति को देनेवाला है।

जब तक मन का अमनभाव नहीं होता तब तक शान्ति नहीं होती, ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

"चित्तयक्षदृढाक्रान्तं न मित्राणि न बान्धवाः।

शक्नुवन्ति परित्रातुं गुरवो न च मानवा" इति ॥

अर्थः—जिस पुरुष को चित्तरूपी यक्ष ने अपने अधीन कर रक्खा है, उस पुरुष की रक्षा मित्र, बान्धव, माता, पिता, आदि गुरुजन और अन्य मनुष्य भी नहीं कर सकते अर्थात् इस में से कोई भी उस की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

आसनाशनयोगेनेति यदुक्तं तत्राऽऽसनस्य लक्षणमुपायं फलं च त्रिभिः सूत्रैः पतञ्जलिः सूत्रयामास ।

अर्थः—इस के पहिले आसन जय और नियमित आहार प्राण जय का कारण रूप से गिना गया है। उस में से आसन का लक्षण और उन का उपाय पतञ्जलि मुनि ने तीन सूत्रों द्वारा कहा—

"स्थिरसुखमासनम्" "प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्" "ततो द्वन्द्वानभिघातः" इति ॥

अर्थः—जिस प्रकार बैठने में शरीर के अवयवों को व्यथा न हो और शरीर स्थिर रहे उस का नाम "आसन" है लौकिक कार्य्यों के लिये प्रयत्न की शिथिलता और शेष की धारणा से आसन जय सिद्ध होता है। आसन सिद्धि के बाद सुखदुःख का नाश होता है।

पद्मकस्वस्तिकादिना यादृशेन देहस्थापनरूपेण यस्य पुरुषस्यावयवव्यथानुत्पत्तिलक्षणं सुखं देहचलनराहित्यलक्षणं स्थैर्यं च सम्पद्यते तस्य तदेव मुख्यमासनम् । तस्य च प्रयत्नशैथिल्यं लौकिक उपायः । गमनगृहकृत्यतीर्थयात्रास्नानयागहोमादिविषयो यः

प्रयत्नो मानस उत्साहस्तस्य शैथिल्यं कर्तव्यम्। अन्यथा स उत्साहो बलाद्देहमुत्थाप्य यत्र क्वापि प्रेरयति। अलौकिकोपायश्च फणासहस्रेण धरणीं धारयित्वा स्थैर्येणावतिष्ठते योऽयमनन्तः स एवाहमस्मीति ध्यानं चित्तस्यानन्ते समापत्तिः। तया यथोक्तासनसम्पादकमदृष्टं निष्पद्यते। सिद्धे चाऽऽसने शीतोष्णसुखदुःखमानामानादिद्वन्द्वैर्यथा नाभिहन्यते तथाविधस्य चाऽऽसनस्य योग्यो देशः श्रूयते।

अर्थः—शरीर को स्थापन करनेवाला पद्मक स्वस्तिक आदि जैसे आसन से जिस पुरुष को अवयव में व्यथा न होने-रूप सुख होता, तथा देह के अचलपन रूप स्थिरता प्राप्त होती है, उस पुरुष को वह मुख्य आसन समझना। इस आसन को स्थिर होने का लौकिक उपाय व्यावहारिक कार्यों में प्रयत्नरहित होना है। गमन, गृहकृत्य, तीर्थयात्रा, स्नान, याग, और होमादि विषय सम्बन्धी जो प्रयत्न अर्थात् मानस उत्साह उस की शिथिलता करनी योग्य है। जो व्यावहारिक कार्य में उत्साह रहित न होय तो, यह उत्साह उसे बलात्कार से उठा कर जहां कहीं प्रेरणा करती है। 'शेष नाग जो' अपनी १००० फणाद्वारा पृथिवी को धारण कर स्थिरता से ठहरे हैं, वह शेष भगवान् मैं हूं इस प्रकार का ध्यान यह आसन जय का अलौकिक उपाय है। इस उपाय के करने से आसन स्थिर करने में समर्थ जीव का अदृष्ट उत्पन्न होता है। आसन सिद्ध होने से शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द्वधर्मों से आ-

सन जय करने वाले पुरुष पूर्व के समान पीडित नहीं होता। ऐसे आसन के लिये योग्य स्थल भी श्रुति कहती है—

"विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः" इति ।

"समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शाब्दजलाशयादिभिः ॥

मनोऽनुकूले नतु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्" इति च ॥

सोऽयमासनयोगः। अशनयोगस्तु मिताहारत्वम् ।

अर्थः—सम, पवित्र, कङ्कड, अग्नि, और बालू से रहित, कोलाहल तथा जिस की खलखलाहट की आवाज होती हो ऐसे जलाशय से रहित, मन के अनुकूल और मच्छर से रहित, ऐसा निर्जन गुहा आदिक निर्वात स्थान में आराम से बैठ कर, जिस ने गर्दन सीधा, मस्तक और शरीर सीधा रक्खा है ऐसे पवित्र पुरुष को योगाभ्यास का आरम्भ करना चाहिये। इस प्रकार आसन योग का कथन किया है। अब अशन (भोजन) योग अर्थात् मिताहार का कथन करते हैं।

"अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्"

इति श्रुतिः ।

भगवताऽप्युक्तम् ।

अर्थः—अति आहार और उपवास योगी नित्य, ही, त्याग करे ऐसा श्रुति का वचन है। भगवान् नेभी कहा है—

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतोनैव चार्जुन ?।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा"
इति ॥

जितासनस्य प्राणायामेन मनोविनाशः श्वेताश्वतरैराम्नायते ।

अर्थः—हे अर्जुन ? जो अधिक भोजन करता या भोजन का अत्यन्त परित्याग करता है, जो बहुत सोया करता है या जागता ही रहता है उस को योग नहीं प्राप्त होता है । उचित आहार और बिहार से रहता है, कर्मों में योग्य रीति से वर्तता है और योग्य काल में सोता एवं जागता हैं उस पुरुष का योगाभ्यास उस के दुःख को मिटा देता हैं । जिस ने आसन का जय किया है, उस के मन का नाश प्राणायाम से होता है ऐसा श्वेताश्वतरशाखाध्यायी कहते हैं—

" त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।
प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत ।
दुष्टाश्वमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः" इति ।

अर्थ—हृदय, गर्दन, और मस्तक जिस में ऊंचे रहें इस भांति शरीर को समान रख मन सहित इन्द्रियों को हृदय में संनिविष्ट कर विद्वान् पुरुष, प्रणव रूप नौका पर सवार हो संसार नदी के भय देनेवाले सब प्रवाहों को पार कर जाता है, युक्त चेष्टा वाले उस पुरुष को प्राणायाम कर प्राण क्षीण हो

को प्राप्त हो, तब २ धीरे २ नासिका से प्राण को बाहर करना चाहिये (श्वास बाहर करे) बदमास घोडे वाले सारथी के समान विद्वान्पुरुष सावधानता से मन को वश में करे ॥

योगी द्विविधः विद्यामदाद्यासुरसम्पद्रहितस्तत्सहितश्चेति । तयोराद्यस्य ब्रह्मध्यानेन मनसि निरुद्धे सति तन्नान्तरीयकतया प्राणो निरुध्यते। तं प्रति त्रिरुन्नतमिति मन्त्रः पठितः । द्वितीयस्याभ्यासेन प्राणे निरुद्धे तन्नान्तरीयकतया मनो निरुध्यते तं प्रति प्राणान्प्रपीड्येति मन्त्रः प्रवृत्तः । प्राणपीडनप्रकारो वक्ष्यते। तेन च पीडनेन युक्तचेष्टो भवति। मनश्चेष्टाविद्यामदादयो निरुध्यन्ते प्राणनिरोधेन चित्तदोषे निरोधे दृष्टान्तो ऽन्यत्र श्रूयते ।

अर्थः—विद्यामदादि आसुरी सम्पत्ति रहित और आसुरी सम्पत्ति युक्त यों दो प्रकार के योगी होते हैं उनमें से प्रथम आसुरी सम्पत्ति रहित योगी जब ब्रह्म के ध्यान से मन का निरोध कर चुकता, 'तब उस के प्राण का भी स्वयं निरोध हो जाता है । क्यों कि मन और प्राण सदा साथ ही रहता है इस प्रकार के योगी को उद्देश कर—"त्रिरुन्नत" मन्त्र पढा है, और दूसरा जो आसुरी सम्पत्तियुक्त योगी है, उस से पहिले मनका निरोध नहीं हो सकता, अत एव जब वह प्राणायाम के अभ्यास से प्राण का निरोध करता, तब उस का मन स्वयं निरोध को प्राप्त होता है इस योगी को उद्देश कर "प्राणान्प्रपीड्य" यह मन्त्र पढा है । प्राणायाम का प्रकार आगे कहेंगे । प्राणायाम से अधिकारी का शरीर इन्द्रिय का व्यापार नियम में आ जाता

है। विद्यामद आदि को मन का व्यापार भी शान्त हो जाता है। प्राण के निरोध से चित्त के दोष का निरोध होनेमें दृष्टान्त श्रुति में इस प्रकार है—

"यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते दहनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्" इति॥

अत्रोपपत्तिर्वसिष्ठेन दर्शिता—

अर्थः—जैसे पर्वत में से निकले हुए सुवर्ण आदि धातुओं के तपाने से उन का मल जर जाता है, उसी भांति प्राण के निग्रह से इन्द्रिय और मन का दोष जर जाता है।

प्राण के निरोध से मन का निरोध होने में युक्ति श्री वसिष्ठ जी ने दिखलायी है—

"यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि।
प्राणस्पन्दक्षये यत्नः कर्त्तव्यो धीमतोच्चकैः" इति॥

अर्थः—जैसे प्राण वायु का स्पन्दरूप व्यापार है वही मन का व्यापार है, इस लिये बुद्धिमान् पुरुष प्राण वायु के निरोध के लिये उत्कृष्ट यत्न करे।

मनोवाक्चक्षुरादीन्द्रियदेवताः स्वस्वव्यापारं करिष्याम इति व्रतं धृत्वा श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्ताः। स च मृत्युः प्राणं नाऽऽप्नोत्। ततो निरन्तरमुच्छ्वासनिःश्वासौ कुर्वन्नपि प्राणो न श्राम्यति। तदा विचार्य देवताः प्राणरूपं प्राविशन्। सोऽयमर्थो वाजसनेयिभिराम्नायते—

अर्थः—मन, वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियों को देवगण "स्वयं अपना २ व्यापार निरन्तर करेगें" ऐसा व्रत धारण कर

अन्त में वे श्रमरूप मृत्यु अधीन होते, अर्थात् श्रम के वशतः उन का व्यापार बन्द हो जाता है। परन्तु वह श्रमरूप मृत्यु, प्राण को नहीं पहुंच सकता है। इससे प्राणवायु निरन्तर श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता हुआ भी नहीं थकता तब चक्षु आदिक के देवगण विचार कर प्राण में प्रवेश कर गये यह अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् में कथन किया है—

"अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरँश्च न व्यथते यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणाः" इति ॥

अर्थः—मन और नेत्र आदि इन्द्रियों ने विचार किया कि यह प्राण हम में श्रेष्ठ है जो सांस लेने रूप व्यापार करने पर पीडा नहीं अनुभव करता, श्रम और नाश को भी नहीं प्राप्त होता, इस लिये सब प्राण रूप हुए। प्राणरूप हुए इस कारण से मन इन्द्रियादि सब प्राण ही कहलाते हैं।

अत इन्द्रियाणां प्राणरूपत्वं नाम प्राणाधीनचेष्टावत्त्वम् । तच्चान्तर्यामिब्राह्मणे सूत्रात्मप्रस्तावे श्रूयते—

अर्थः—प्राण के अधीन अपने व्यापार के होने से इन्द्रियां प्राण कहलाती हैं, यह बात अन्तर्यामि ब्राह्मण में "सूत्रात्मा" के प्रसङ्ग में कही गयी है—

"वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम ? पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति । वा-

युना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति" इति ॥

अर्थः—हे गौतम ? वायु ही सूत्र है । इस वायुरूप सूत्र द्वारा यह लोक परलोक और प्राणीगण बन्धे हुए हैं। इसी लिये (मरने पर) 'इस के अङ्ग शिथिल हो गये' इस भांति मरे पुरुष को कहते हैं। हे गौतम ! वायुसे ही शरीर के सब अङ्ग परस्पर सङ्गठित हैं।

अतः प्राणस्पन्दनयोः सहभावित्वात्प्राणनिग्रहे मनो निगृह्यते।

अर्थः—प्राण और मन की गति सदा साथ रहती है इस लिये प्राण के निग्रहं करने से मन का निग्रहं होता है।

ननु सह स्पन्दो न युक्तः सुषुप्तौ चेष्टमानेऽपि प्राणे मनसोऽचेष्टमानत्वात् ॥

अर्थः—शङ्का,-मन और प्राण की साथ गति का होना सम्भव नही होता क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में प्राण गति वाला होने पर भी मन व्यापार रहित होता है।

न। विलीनत्वेन तदानीं मनस एवाभावात्।

अर्थः—समाधान—इस समय मन के लय को प्राप्त होनेसे मन का ही अभाव है इस लिये यह शङ्का सम्भाव नहीं।

ननु क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीतेति व्याहतम्। नहि क्षीणप्राणस्य मृतस्य श्वासं क्वचित् पश्यामः। नापि श्वसतो जीवतः प्राणक्षयोऽस्ति।

अर्थः— शङ्का, प्राणक्षीण होने पर नाक से सांस लेवे यह परस्पर विरुद्ध है क्यौंकि मरे हुए मनुष्यका प्राण क्षय को प्राप्त

हो जाता है परन्तु उस के श्वास हम कभी नही देखते हैं । उसी भान्ति जीवित मनुष्य जो श्वास लेता है उस के प्राण का क्षय होता नही इसलिये पूर्वोक्त श्रुति वचन मे परस्पर विरोध आता है ।

नैवम् । अनुल्बणत्वस्य क्षयत्वेनात्र विवक्षितत्वात् । यथा खननच्छेदनादिषु व्याप्रियमाणस्य पर्वतमारोहतः शीघ्रं धावतो वा श्वासवेगोयावान् भवति न तावांस्त्ववस्थितस्याऽऽसीनस्य वा विद्यते । तथा प्राणायामपाटवोपेतस्य तस्याल्पः श्वासो भवति । एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते ।

अर्थः—समाधान– वेग की अति मन्दता होनी यह प्राणका क्षय है इस स्थल में समझना । जैसे खोदने में या काटने में लगे हुए मनुष्य का श्वास जितना वेगवाला होता, उसी प्रकार पर्वत पर चढने वाले, या दौडते हुए मनुष्य का श्वास जितना वेगवाला होता, उतना खडे या बैठे हुए मनुष्य का श्वास वेगवाला नही होता, उसी भांति प्राणायाम में कुशलता पाये हुए पुरुष का श्वास इस्से भी न्यून वेगवाला होता है । इसी अभिप्राय से श्रुति में कहा है—

भुत्वा तत्राऽऽयतप्राणः शनैरेव समुच्छ्वसेत्"
इति ।

अर्थः—प्राण को नियम में लाने के लिये धीरे २ सांस लेवे।

यथा दुष्टैरश्वैरुपेतो रथो मार्गं त्यक्त्वा यत्र क्वापि नीयते स च सारथिना दृढमेव रज्जुभ्याकृष्य मार्गेषु पुनर्धार्यते तथेन्द्रियैर्वासना-

दिभिरितस्ततो नीयमानं मनः प्राणरज्जौ दृढं धारितायां धार्यते। प्राणान्प्रपीड्येति यदुक्तं तत्र प्राणपीडनप्रकारोत्र श्रूयते—

अर्थः—'जैसे बदमाश घोडों से जुता हुआ रथ अपने रास्ता को छोड कर इधर उधर घसीटा जाता है। परन्तु सारथी लगाम द्वारा उन घोडों को बलात्कार से खींच कर फिर रथ को रास्ते पर लाता है इसी भांति इन्द्रियां वासना द्वारा मन को इधर उधर विषयों में घसीटती हैं। परन्तु जो प्राण रूपी लगाम को खींच रक्खा हो तो, वह मन किसी विषय में जा नहीं सकता। प्राणायाम का प्रकार अन्य श्रुतियों में कथन किया है-

"सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भकाः।
उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम्॥
शून्यभावेन युञ्जीयाद्रेचकस्येतिलक्षणम्।
वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः॥
एष वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येतिलक्षणम्।
नोच्छ्वसेन्न च निःश्वासेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं तावन्नियुञ्जीत कुम्भकस्येति लक्षणम्"॥
इति॥

अर्थः—प्रणव व्याहृति और शिरोमन्त्र इन सब के सहित गायत्री को प्राण गति रोक कर तीन वख्त पढे इसी को प्राणायाम कहते हैं॥ पूरक, कुम्भक और रेचक इस भान्ति ३ प्रकार का प्राणायाम होता है। शरीरस्थित वायु को बाहर निकालना वायु को उंचा चढा कर शरीर गत आकाश को बा-

यु रहित कर उस (वायु) को पुनः जरा भी शरीर मे जाने देने विना शरीर को यथाशक्ति वायु रहित रखना इस को रेचक प्राणायाम कहते हैं। जैसे कोई कमल के दण्ड के एक छोर को पानी मे रख कर और दूसरे छोर को अपने मुख मे रख पानी को खींचता है उसी भान्ति नासिका के छिद्र द्वारा वाहर के वायु को भी तब खींचना इस को पूरक प्राणायाम कहते हैं, श्वास उच्छ्वास न लेने और शरीर के अवयवों को न हिलाता हुआ वायु को रोंक रखना इस को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।

अत्र शरीरान्तर्गतं वायुं बहिर्निःसारयितुमुत्क्षिप्य शरीरमाकाशं शून्यं निरात्मकं वायुरहितं कृत्वा स्वल्पमपि वायुमप्रवेश्य शून्यभावेनैव नियमयेत् । तदिदं रेचकं भवति । कुम्भको द्विविधः । आन्तरो बाह्यश्च । तदुभयं वसिष्ठ आह ।

अर्थः—शरीर में के वायु को बाहर निकालने के लिये ऊपर को खींचे, शरीर गत आकाश को वायु से खाली कर रक्खे और वाहर से वायु को भीतर न आने दे । इस को रेचक प्राणायाम कहते हैं । कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का है एक आन्तर कुम्भक, दूसरा बाह्य कुम्भक है । इन दोनों को वसिष्ठ जी ने कहा है—

"अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभि र्याऽनुभूयते ॥
बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नापन उद्गतः।
तावत्पूर्णां समावस्था बहिष्ठं कुम्भकं विदुः"इति॥

अर्थः—अपान वायु के शान्त होने पर जब तक प्राण वायु का हृदय देश में उदय नहीं होता तब तक "आन्तर कुम्भक" अवस्था कहलाती है इसी अवस्थाक अनुभव योगी जन करते हैं। बाहर प्रदेश में प्राण वायु के शान्त होने पर जब तक अपान का उदय नहीं होता है तब तक पूर्ण और 'सम अर्थात् निःश्वास, उच्छ्वास रूप व्यापार रहित प्राण की अवस्था है, इस को बाह्य कुम्भक कहते हैं—

तत्रोच्छ्वास आन्तरकुम्भकविरोधी, निःश्वासो बाह्यकुम्भकविरोधी, गात्रचालनमुभयविरोधी, तस्मिन्सति निःश्वासोच्छ्वासयोरन्यतरस्यावश्यम्भावित्वात्। पतञ्जलिरप्यासनानन्तरभाविनं प्राणायामं सूत्रयामास।

अर्थः—उच्छ्वास आन्तरकुम्भक का विरोधी है, निःश्वास बाह्य कुम्भक का विरोधी है। और शरीर का हिलाना दोनों कुम्भक का विरोधी है। क्यों कि जो शरीर चलायमान हो तो निःश्वास या उच्छ्वास मे से एक एक हुए विना न रहे। श्रीपतञ्जलि भगवान् ने भी आसन जय होने के पीछे अवश्य कर्तव्य प्राणायाम का निरूपण सूत्र द्वारा किया है—

"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" इति॥

अर्थः—आसन जय के अनन्तर निःश्वास और उच्छ्वास की गति को जो अवरोध होता है उसे 'प्राणायाम' कहते हैं।

ननु कुम्भके गत्यभावेऽपि रेचकपूरकयोरुच्छ्वासनिःश्वासगती विद्येते इति चेन्न।

अर्थः— यद्यपि कुम्भक में प्राण की गति नहीं। परन्तु

रेचक पूरक में तो प्राण की गति है, इस लिये रेचक और पूरक को प्राणायाम नाम कैसे होगा ?

अधिकमात्राभ्यासेन स्वभावसिद्धायाः सम-प्राणगतेर्विच्छेदात् । तमेवाभ्यासं सूत्रयति ।

अर्थः—अधिक मात्राओं से अभ्यास करने से स्वाभाविक जो प्राण की गति है, सो न्यून वेगवाली हो जाती है। इस अभ्यास को श्री पतञ्जलि भगवान् सूत्रों द्वारा कहते हैं।

"बाह्याऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः" इति ।

अर्थः—बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति, और स्तम्भवृत्ति ये तीन प्रकार के प्राणायाम है । जो देश, काल, और मात्रा की संख्या से दीर्घ और सूक्ष्म प्रतीत होते हैं ।

रेचको बाह्यवृत्तिः । पूरक आन्तरवृत्तिः । कुम्भकः स्तम्भवृत्तिः । तत्रैकैको देशादिभिः परीक्षणीयः ।

अर्थः—बाह्यवृत्ति प्राणायाम को रेचक कहते आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम को पूरक और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम को कुम्भक कहते हैं । तिनमें से हर एक प्राणायाम की यथार्थ सिद्धि के लिये देश, काल और मात्रा की परीक्षा करनी योग्य है।

तद्यथा स्वभावसिद्धे रेचके हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते श्वासः समाप्यते । अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा वायुर्निर्गच्छति । चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा समाप्तिः । अत्र रेचके

प्रयत्नातिशये सति नाभ्यादिप्रदेशक्षोभेणान्तर्निश्चेतुं शक्यम् । बहिस्तु सूक्ष्मं तूलं धृत्वा तच्चालनेन निश्चेतव्यम्। सेयं देशपरीक्षा।

अर्थः—वह इस प्रकार है कि मनुष्य को अभ्यास बिना स्वाभाविक रेचक होता है, उस समय प्राण वायु हृदय में से उठ कर नाक के छेद से बाहर निकल कर १२ अङ्गुल पर शान्त हो जाता है । और भली भान्ति अभ्यास करने से क्रमशः नाभि से या मूलाधार से प्राण उठ कर नासिका से बाहर के सामने प्रदेश में नाक से २४ अङ्गुल या ३६ अङ्गुल तक जा कर वहां शान्त होता है । रेचक प्राणायाम में जब अधिक प्रयत्न होता है, तब अन्तर में नाभि आदि देश के क्षोभ से उस स्थान से प्राण उठता है, ऐसा निश्चय होता है। और बाह्य देश में नाक से २४ अङ्गुल या ३६ अङ्गुल दूर पर नाक के सामने बारीक कपास (रुई) रक्खे और जब सांस लेने से वह हिले तो जानना कि उस जगह पवन समाप्त होता है। ऐसा निश्चय होता है और इसी को देश परीक्षा कहते है।

रेचककाले प्रणवस्याऽऽवृत्तयो दशविंशतित्रिंशदित्यादिकालपरीक्षा । अस्मिन्मासे प्रतिदिनं दश रेचका, आगामिमासे विंशतिः, उत्तरमासे त्रिंशदित्यादि कालपरीक्षाभिः। संख्यापरीक्षा यथोक्तदेशकालविशिष्टाः प्राणायामा एकस्मिन्दिने दश विंशतित्रिंशदित्यादिभिः संख्यापरीक्षा । पूरकेऽप्येवं योजनीयम् । यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिविशेषो नावगम्यते तथाऽपि कालसं-

सङ्ख्याऽव्याप्तिरवगम्यत एव । यथा घनीभूत-स्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो दीर्घोदुर्लक्ष्यतया सू-क्ष्मश्च भवति तथा प्राणोऽपि देशकालसङ्-ख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घोदुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मश्च सम्पद्यते । रेचकादिभ्यस्त्रिभ्योऽन्यं प्रकारं सूत्रयति ।

अर्थः—रेचक समय प्रणव की दश आवृत्ति हो वीस आवृत्ति हो ३० आवृत्ति हो इत्यादि क्रम से काल की परीक्षा करके इसी प्रकार रेचक इस मास में प्रति दिन दश हो उसके बाद दूसरे मास में प्रतिदिन वीस करे फिर ३रे महीने में प्रति दिन ३० करे इत्यादि क्रम से सङ्ख्या परीक्षा करे। पूरक में भी इसी तरह समझ लेना। यद्यपि कुम्भकमें देशपरीक्षा बन नही सकती तथापि कालपरीक्षा और सङ्ख्यापरीक्षा हो सकती है जैसे ओटी हुई रुई की गोली चरखीमें कात नेसे वह बहुत बारी क जो, देखनेमें न आवे और लम्बी हो जाती है। उसीतरह प्राण भी अधिक देश, अधिक संख्या के अभ्यास करने से लम्बा और बहुत ही सूक्ष्म हो जाता है। रेचक आदिक त्रिविध प्राणायाम से भिन्न अन्य प्राणायाम को भगवान् पतञ्जलिनें सूत्र द्वारा कहा—

"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" इति ।

यथाशक्ति सर्वं वायुं विरच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिष्कुम्भको यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं क्रियमाणोऽन्तःकुम्भक इति रेचककुम्भकावनादृत्य केवलः कुम्भकोऽभ्यस्यमानः पूर्वत्रयापेक्षया चतुर्थो भवति ।

निद्रातन्द्र्यादिप्रबलदोषप्रयुक्तानां रेचकादि-त्रयम् । दोषरहितानां चतुर्थ इति विवेकः। प्राणायामफलं सूत्रयति ॥

अर्थः—"जिस में बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों का परित्याग हो वह चौथा प्राणायाम है"

यथा शक्ति कोष्ठ में के सारे वायु को नाक के छेद के रास्ते बाहर निकाल जो कुम्भक किया जाता है उस का नाम "बहिः कुम्भक" है । यथाशक्ति वायु को शरीर में भर कर जो कुम्भक किया जाता है वह अन्तःकुम्भक है । इन दोनों को छोड़ कर केवल जो कुम्भक का अभ्यास किया जाता है वह पूर्वोक्त तीन प्राणायाम से विलक्षण ४ था प्राणायाम है। जिस पुरुष में निद्रा तन्द्रा आदि दोषों की प्रबलता होती उस को पूर्वोक्त रेचक आदि तीन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये । और जिस में वैसे दोषों का बल न हो उस पुरुष को कुम्भक प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम का फल महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में कहा है—

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" इति ।

प्रकाशस्य सत्त्वस्याऽऽवरणं तमोनिद्रालस्या-दिहेतुस्तस्य क्षयो भवति । फलान्तरं सूत्रयति।

अर्थः—'प्राणायाम के अभ्यास से बुद्धिसत्त्व को ढाकने वाला तमोगुण जो निद्रा आलस्यादि दोषों का कारण है वह क्षय हो जाता है।

"धारणासु च योग्यता मनसः" इति ।

आधारनाभिचक्रहृदय भ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रादि-देशविशेषे चित्तस्य स्थापनं धारणा ।

अर्थः—'जिससे, मन, धारणा के अभ्यास के लिये योग्यता वाला होता है ॥

मूलाधार नाभि हृदय भौं का बीच ब्रह्मरन्ध्र आदि देशों में चित्त को लाकर स्थापन करना इस को धारणा कहते हैं ॥

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा इति सूत्रणात् श्रुतिश्च।

अर्थः—नाभि आदि स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा कहतेहैं । श्रुति भी कहती हैं ।

"मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा सङ्क्षिप्याऽऽत्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वातथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता"

प्राणायामेन रजोगुणकारिताचाञ्चल्यात्तमोगुणकारितादालस्यादेश्च निवारितं मनस्तस्यां धारणायां योग्यं भवति ।

अर्थः—बुद्धिमान् पुरुष सङ्कल्प विकल्प वाले मन को एकाग्र कर अपने आत्मा मे स्थापन करे और आत्मा को हीवृत्ति द्वारा धर रक्खे उस को धारणा कहते हैं ।

प्राणायाम द्वारा रजोगुण कारित चञ्चलता से और तमोगुण से हुए आलस्य आदि दोष से निवारित मन धारणा करने में योग्यता वाला होता हैं ।

"प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया"

इत्यत्रत्येन युक्तिशब्देन योगिजनप्रसिद्धं शिरोरूपमेरुचालनम्, जिह्वाग्रेण घण्टिकाक्रमणं नाभिचक्रे ज्योतिर्ध्यानं विस्मृतिप्रदौषधसेवा चेत्येवमादिकं गृह्यते ।

अर्थः—इस श्लोक मे युक्ति अर्थात् शिरोरूप मेरु दण्ड का

चालन, जिह्वा के नोक से घण्टिका (तालु के ऊपर जो छोटी सी जीभ होती है) को भ्रमण अर्थात् घुमाना, नाभिचक्र में ज्योति का ध्यान देह के अभिमान को भूलाने वाली औषधियों का सेवन इत्यादि युक्तियां समझनी ।

तदेवमध्यात्मविद्यासाधुसङ्गमवासनाक्षयप्राणनिरोधाश्चित्तनाशोपाया दर्शिताः। अथ तदुपायभूतं समाधिं वक्ष्यामः । पञ्चभूम्युपेतस्य चित्तस्य भूमित्रयत्यागेनावशिष्टं भूमिद्वयं समाधिः। भूमयश्च योगभाष्यकृता दर्शिताः,

अर्थः—सो इस भांति अध्यात्मविद्या, साधु सङ्गम वासनाक्षय और प्राणायाम, ये चित्त के नाश के उपाय दिखलाये। अब मनोनाश का उपाय समाधि को कहेंगे । चित्त की जो पांच भूमिका या अवस्था है उन में से पहिली तीन भूमिकाओं को छोडकर बाकी दो भूमिका को समाधि कहते हैं। चित्त की भूमिको ओं का योगभाष्यकार श्रीव्यास जी ने दिखलाया हैं: ।

"क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्त भूमयः " इति ।

अर्थः—चित्त की पांच अवस्था या भूमिका होती हैं। १ क्षिप्त २ मूढ, ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५ वीं निरुद्ध है।

आसुरसम्पल्लोकशास्त्रदेहवासनासु वर्तमानं चित्तं क्षिप्तं, निद्रातन्द्रादिग्रस्तं मूढं, कादाचित्कध्यानयुक्तं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तम्। तत्र विक्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति। विक्षिप्ते तु चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समा-

धियोगपक्षे न वर्तते । विक्षेपान्तर्गततया दहनान्तर्गतबीजवत्सद्य एव विनश्यति । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखीकरोति स सम्प्रज्ञातोयोग इत्याख्यायते । सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातसमाधिः । तत्र सम्प्रज्ञातसमाधिभूमिकामेकाग्रतां सूत्रयति—

अर्थः—जिन मे से आसुरी सम्पत्ति लोकवासना, शास्त्र वासना, और देहवासना मे प्रवृत्ति वाले पुरुषका चित्त "क्षिप्त" कहलाता हैं । निद्रा तन्द्रा आदिक दोषों के वश हुए चित्त को मूढ कहते हैं । किसी समय ध्यान युक्त चित्त क्षिप्त से श्रेष्ठ होने से 'विक्षिप्त" कहलाता है । तिनमें से चित्त की क्षिप्त और मूढ अवस्था में तो समाधि की शङ्का भी नही सम्भव होती है । विक्षिप्त अवस्था में विक्षेप अधिक और समाधि गौण होने से अग्निमें रक्खे बीज के समान तत्काल नष्ट हो जाता है । एकाग्रचित्त होने से जो समाधि सत्य वस्तु (आत्मा) को प्रकाश करती क्लेशों का क्षय करती कर्मरूप बन्धनों को ढीला करती और निरोध को सम्मुख करती उस को सम्प्रज्ञात योग कहते हैं तहां श्रीपतञ्जलि भगवान् सम्प्रज्ञात समाधि की भूमिकारूप एकाग्रता को सूत्रद्वारा कथन करतें है:—

"शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम" इति ।

शान्तोऽतीतः । उदितो वर्त्तमानः । प्रत्ययश्चित्तवृत्तिः अतीतप्रत्ययो यं पदार्थं गृह्णाति

तमेव चेदुदितोगृह्णीयात्तावुभौ तुल्यौ भवतः।
तादृशश्चित्तस्य परिणाम एकाग्रतेत्युच्यते।
एकाग्रताभिवृद्धिलक्षणं समाधिं सूत्रयति॥

अर्थः—चित्त की शान्तवृत्ति और उदित वृत्ति चित्त की समान वृत्ति वा ज्ञान है (किन्तु एकाग्रता रूप परिणामहै) शान्त एवं उदित वृत्ति जब एक विषय को ग्रहण करे उस समय उस चित्त का एकाग्रतारूप परिणाम कहलाता है। अर्थात् प्रथम उठी हुई वृत्ति जिस पदार्थ को ग्रहण करे तो उसी पदार्थ को यदि वर्त्तमान वृत्ति ग्रहण करे तो वह भूत वृत्ति और वर्तमान वृत्ति तुल्य विषयक गिनी जाती है। इस प्रकार के चित्त के परिणाम को एकाग्रता परिणाम कहते हैं।

एकाग्रता की, अभिवृद्धिरूप समाधि को भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम "इति।

अर्थः—चित्त के सर्वार्थता धर्मका तिरोभा और एकाग्रता धर्म का प्रादुर्भाव समाधि परिणाम कहलाता है—

रजोगुणेन चाल्यमानं चित्तं क्रमेण सर्वान् पदार्थान् गृह्णाति। तस्य रजोगुणस्य निरोधाय क्रियमाणेन योगिनः प्रयत्नविशेषेण दिने दिने सर्वार्थता क्षीयते। एकाग्रता चोदेति तादृशश्चित्तस्य परिणामः समाधिरित्युच्यते। तस्य समाधेरष्टाङ्गेषु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराः पञ्च बहिरङ्गानि। तत्र यमान् सूत्रयति॥

अर्थः—रजो गुण से चञ्चल हुआ चित्त क्रमशः सब पदार्थों को ग्रहण करता है । इस रजोगुण के निरोध के लिये योगियों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नसे प्रतिदिन सब विषयों को ग्रहण करनेवालीं वृत्ति क्षीण होती है । और योगी के एकाग्रता काउदय होता है । इस प्रकार के चित्त परिणाम को समाधि कहते हैं । समाधि के अङ्गों में यम नियम आसन प्राणायाम, और प्रत्याहार मे ५ समाधि के बाह्य और धारणा ध्यान और समाधि अन्तरंग में परिगणित हैं । तहां यमों को सूत्र द्वारा कहते हैं—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"

हिंसादिभ्यो निषिद्धधर्मेभ्यो योगिनं यमयन्ति यमाः । तत्र नियमान् सूत्रयति—

अर्थः—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरे की वस्तु की इच्छा न करनी) ब्रह्मचर्य, (उपस्थ इन्द्रिय का संयम) अपरिग्रह, (शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों के सिवाय अधिक पदार्थ की अपेक्षा न रखनी, ये पांच यम हैं ।

हिंसादि निषिद्ध धर्मों से योगी को जो रोकता है इस लिये इस को यम कहते हैं । नियमों को कहने वाला सूत्र यह हैः—

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इति ।

जन्महेतोः काम्यधर्मान्निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामधर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः।

यमनियमयोरनुष्ठानवैलक्षण्यं स्मर्यतेः—

अर्थः—पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, (प्रणवादि जप तथा अध्यात्मशास्त्र का पढना) और ईश्वर भक्ति ये नियम है ।

जन्म देनें वाले काम्य कर्मों से रोक कर योगी को निष्काम कर्म में प्रेरणा करते हैं इस लिये शौच आदिक नियम कहलाते हैं। यम तथा नियमों के अनुष्ठान में तारतम्य स्मृति में दिखलाते हैं।

"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान् भजन्"॥

अर्थः—बुद्धिमान् मनुष्य निरन्तर यमों का सेवन करे सदा नियमों के सेवन की यम जितनी अपेक्षा नहीं। क्योंकि यमों को न सेव कर केवल नियमों का ही जो सेवन करता है उस (योगी) का योगमार्ग से पतन होता है।

"पतति नियमवान्यमेष्वसक्तो न तु यमवान्नियमालसोऽवसीदेत्।
इति यमनियमौ समीक्ष्य बुद्ध्या यमबहुलेष्वनुसन्दधीत बुद्धिम्" इति॥

यमनियमफलानि सूत्रयति—

अर्थः—यम मे की आसक्ति (प्रीति) को त्याग कर केवल नियम को ही सेवन करने वाला योगमार्गसे भ्रष्ट होता है और जो यथाविधि यमों को सेवता पर नियमों का सेवन करने में प्रमाद वाला होता है वह दुःखित नही होता अर्थात् योगमार्ग से पतित नही होता है। इस भान्ति यम और नियमों को बुद्धि से विचार कर विशेषतः यमों के पालन में बुद्धि को लगावे।

यम और नियमों के फल को भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र द्वारा कथन किया है:—

"तत्संनिधौ वैरत्यागः" "क्रियाफलाश्रयत्व-

म्" "सर्वरत्नोपस्थानं" "वीर्यलाभः" "शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः" सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च" संभवति । "सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः । कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः । समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" इति ।

आसनप्राणायामौ व्याख्यातौ । प्रत्याहारं सूत्रयति ।

अर्थः—अहिंसा की भावना दृढ होने से उस अहिंसक योगी के समीप बसनेवाले सर्प, नेउल, मूस, मार्जार आदि परस्पर विरोधी प्राणियों का भी वैरभाव छुट जाता है । सत्य की सिद्धि होने से वाणी द्वारा अन्य को क्रिया तथा उस के फल देने का सामर्थ्य आता है । अस्तेय की सिद्धि से योगी की इच्छा न होने पर भी सर्व रत्नों की प्राप्ति होती है । ब्रह्मचर्य की सिद्धि होने से विरति शम सामर्थ्य की या जनन आदि के भय का अभाव रूप लाभ होता है । अपरि ग्रह वृत्ति के स्थिर होने से योगी, भूत, भविष्यत् और वर्तमान जन्म के वृत्तान्त को कह सकता है।बाह्य शौच के अभ्यास से अपने शरीर में ग्लानि उपजती और अन्य के संसर्ग की इच्छा नहीं होती है । अन्तः शौच से सत्त्वशुद्धि, मन की प्रसन्नता, उस की एकाग्रता, इन्द्रिय का जय आत्मदर्शन की योग्यता होती है । सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है । तप से अशुद्धि का क्षय होने से अणिमा आदि कायसिद्धि तथा दूरका सुनना दूरका देखना आदि इन्द्रियसिद्धियां होतीं हैं । इष्ट मन्त्रादि

का जपरूप स्वाध्याय से इष्ट देवता का दर्शन और उस के साथ भाषण आदि हो सकता है। सब कर्मों को ईश्वर के नाम अर्पण करना रूप भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है।

आसन और प्राणायाम इन दोनों अङ्गों का निरूपण पहिले किया गया, प्रत्याहार का निरूपण अगले सूत्र से किया जाता है।

"स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" इति।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयास्तेभ्योनिवर्तिताः श्रोत्रादयश्चित्तस्वरूपमनुकुर्वन्तीव व्यवतिष्ठन्ते। श्रुतिश्च भवति।

अर्थः—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पांच विषयों से विमुख होकर श्रोत्र आदिक इन्द्रियां चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती हैं ऐसी प्रतीति होती है इस को प्रत्याहार कहते हैं। श्रुति में भी लिखा है।

"शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥

शब्दादयो विषया येषां श्रोत्रादीनां ते श्रोत्रादयः पञ्च मनःषष्ठानामेतेषामनात्मरूपेभ्यः शब्दादिभ्योनिवर्तनमात्मरश्मित्वेन चिन्तनं प्रत्याहारः स इत्यर्थः। प्रत्याहारफलं सूत्रयति।

अर्थ—शब्दादि पांच जिनके विषय हैं, ऐसे श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों को तथा और चपल मन को अपने विषयों से रोक कर उन को आत्मा के किरण रूप से चिन्तन करना इस को प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार का फल सूत्र से कहते हैं—

"ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्" इति ।

धारणाध्यानसमाधींस्त्रिभिः सूत्रयति ।

अर्थः—प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त वशीभूत हो जाती हैं। धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का सूत्रों से कथन करतेहैं ।

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" । "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" इति ॥

आधारादिदेशाः पूर्वमुक्ताः । देशान्तरं श्रूयते ।

अर्थः—चित्त को मूलाधार आदि देशविषय स्थिर कार रखने का नाम धारणा है । वृत्तिका एक ही तत्त्व में प्रवाह का नाम ध्यान है । यह ध्यान जिस समय ध्येयाकार हो कर स्वरूप रहित के समान हो जाता उस को समाधि कहते हैं ।

धारणा आदि का मध्य नालिकाग्र मूलाधार आदि बाह्य और आभ्यन्तर देशों का कथन पहिले ही किया गया है । उस विषय अन्य देशों का कथन श्रुति कहती है ।

"मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता" ॥

यत्सर्ववस्तुसंकल्पकं मनः तदात्मानमेव संकल्पयतु न त्वन्यादित्येवं विधः प्रयत्न आत्मनि संक्षेपः । प्रत्ययस्यैकतानता तत्त्वैकविषयः प्रवाहः । स च द्विविधः विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानः सन्ततश्चेति । तावुभौ क्रमेण ध्यानसमाधी भवतः । तदुभयं सर्वा-

नुभवयोगिना दर्शितम् ।

अर्थः— सर्व वस्तुओं में संकल्प करने द्वारा मन केवल आत्मा का ही चिन्तन करे अन्य विषय का चिन्तनन करे ऐसे दृढ विचार से मन को अन्य विषय से अलग रखनेवाला बुद्धिमान् पुरुष जिस मन को बार २ आत्मा में ही लगाने के लिये यत्न करता उस को धारणा कहते हैं।

चित्त का तत्त्वविषयक प्रवाह दो प्रकार का है। एक तो मध्य में विजातीय वृत्ति से किसी २ समय विच्छेद को प्राप्त होता है। दूसरा अविच्छिन्न है । विच्छिन्न प्रवाह को ध्यान कहते और अविच्छिन्न या सन्तत प्रवाह को समाधि कहते हैं। इन ध्यान और समाधि दोनों का निरूपण सर्वानुभव योगी ने किया है—

"चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते।
तत्साधनमतोध्यानं यथावदुपदिश्यते ॥
विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां सम्भवव्यत्ययक्रमात्।
परिशिष्टं च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत्॥
ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षत"इति।
तं च भगवत्पादा उदाजह्रुः—

अर्थः—पूर्वोक्त ज्ञान, चित्त की एकाग्रता से प्राप्त होता है इस लिये एकाग्रता का साधनभूत ध्यान का यथाविधि उपदेश किया जाता है। देहादि कार्य प्रपञ्च जो क्रम से उत्पन्न हुआ है उस से उलटे क्रम से कार्य का कारण में लय करके शेष रहे सत चित और आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है। और अहङ्कार से रहित ब्रह्माकार

हुई मनोवृत्ति के प्रवाह को सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं। यह समाधि ध्यान के अभ्यास के परिपाक से सिद्ध होती हैं।

इस समाधि का स्वरूप भगवान् शङ्कराचार्य्य ने उपदेशसाहस्री में यों कहा हैं—

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ओम् ॥
दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः ।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः सम्पूर्णभूमा त्वज आत्मनि स्थितः ॥
अजोऽमरश्चैव तथाऽजरो मृतः स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः ।
न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैव तृप्तश्च ततो विमुक्त ओम्" इति ॥

अर्थः—जो चैतन्य स्वरूप, आकाश के समान सर्वव्यापक है, सब से श्रेष्ठ है, सदा प्रकाश स्वरूप है, जन्म मरण रहित है, एक है, अक्षर है, निर्लेप है, सर्वगत, और भेद रहित है, उस सदा मुक्त ॐकार का लक्ष्यार्थ रूप मैं हूं। मैं विकार रहित शुद्ध चैतन्य हूं, वस्तुतः कोई भी मेरा विषय नहीं क्यों कि मुक्त से अतिरिक्त अन्य पदार्थ ही नहीं, आगे, पीछे, उपर नीचे, सर्वत्र मैं पूर्ण व्यापक हूं, और अजन्मा मैं अपने स्वरूप में ही स्थित हूं, मैं जन्म रहित हूं, अक्षर और अमृत हूं, स्वयं प्रकाश, सर्वगत, और द्वैतभाव रहित हूं, कारण और कार्य्य ये

दोनों मुझ में हैं नहीं, मै अत्यन्त निर्मल हूं, मैं नित्यतृप्त, व्यापक और मुक्त हूं।

ननु सम्प्रज्ञातसमाधिरङ्गी स कथं ध्यानानन्तर-भाविनोऽष्टमाङ्गस्य समाधेः स्थान उदाहृियते।

अर्थः—शङ्का—जो सम्प्रज्ञात समाधि को अङ्गी मानते हो तो, उस को योग के ८ अङ्गों में से सात वां अङ्ग ध्यान के पीछे आठवा अङ्ग के स्थान में क्यों गिनते हो ?

नायं दोषः। अत्यन्तभेदाभावात्। यथा वेद-मधीयानो माणवकः पदे पदे स्खलन्पुनः स-मादधाति। अधीतवेदः सावधानो न स्खल-ति। अध्यापको निरवधानस्तन्द्रीं कुर्वन्नपि न स्खलति तथा विषयैक्येऽपि परिपाकता-रतम्येन ध्यानसमाधिसंप्रज्ञातानामवान्तर-भेदोऽवगन्तव्यः। धारणादित्रयं मनोविषय त्वात्संप्रज्ञातेऽन्तरङ्गम्। यमादिपञ्चकं तु बहिरङ्गम्। तदेतत्सूत्रयति—

अर्थः—समाधान—ध्यान और समाधि में अत्यन्त भेद नहीं, इस से उस भांति गणना कियी है। जैसे वेद पढने वाले विद्यार्थी पद २ में भूलता २ पुनः उस को सुधारता जाता है, जैसे वेदज्ञ पुरुष सावधानी से पढते हैं, और भूल नहीं करते और जैसे वेद पढाने वाले कदाचित् प्रमाद कर जावें या अर्धनिद्रा में हों तो भी वेदाध्ययन में भूल नहीं करते हैं। उसी तरह ध्यान सम्प्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि का विषय एक होने पर भी परिपाक में तारतम्य के कारण उन का परस्पर भेद समझना चाहिये। यम नियम,

आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार ये समाधि के बहिरङ्ग (बाहरी) साधन हैं बाकी तीन अन्तरङ्ग (भीतरी) साधन हैं। उस को सूत्र से कहते हैं—

"त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः" इति ।

ततः केनापि पुण्येनान्तरङ्गे प्रथमे लब्धे बहिरङ्गलाभाय नातिप्रयासः कर्त्तव्यः । यद्यपि पतञ्जलिना भौतिकभूततन्मात्रेन्द्रियाहङ्कारादिविषयाः संप्रज्ञातसाविकल्पसमाधयो बहुधा प्रपञ्चितास्तथाऽपि तेषामन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वान्नास्माभिस्तत्राऽऽदरः क्रियते । तथा च सूत्रितम् ।

अर्थः—पूर्वअङ्गों मे से तीन अन्तरङ्ग हैं, इस लिये किसी पुण्यके योग से प्राप्त हुए गुरुप्रसाद से प्रथम अन्तरङ्ग साधन प्राप्त हो तो पीछे बहिरङ्ग साधन के लिये अति प्रयास करने का प्रयोजन नहीं रहता । यद्यपि पांच भूतों का कार्य्य स्थूल पांच भूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, ये ५ तन्मात्रायें, इन्द्रियां और अहङ्कारादि जिस के विषय हैं, ऐसे अनेक प्रकार के सविकल्प सम्प्रज्ञात समाधियों का पतञ्जलि मुनि ने विस्तार पूर्वक निरूपण किया हैं । परन्तु वे समाधियां अन्तर्धान आदि सिद्धियों का कारण रूप होने से, मुक्ति के कारण रूप समाधि में विरोधी हैं । अतएव हम वैसे समाधि के निरूपण का आदर नहीं करते । भगवान् पतञ्जलि भी कहते हैं—

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इति । "स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पु-

नरानिष्टप्रसङ्गात्" इति च ॥

स्थानिनो देवाः । उद्दालको देवैरामन्त्रितोऽप्यवज्ञाय देवान्निर्विकल्पसमाधिमेव चकारेत्युपाख्यायते । प्रश्नोत्तराभ्यामप्येवमेवावगम्यते—

श्रीरामः—

अर्थः—दिव्य शब्द दिव्य गन्ध इत्यादि ज्ञानरूप पूर्वोक्त सिद्धियां समाधि में विघ्नरूप हैं । और व्युत्थान काल में वे सिद्धिरूप हैं । देवताओं कीप्रार्थना में आसक्ति तथा आश्चर्य नहीं करना क्यों कि उस्से फिर अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जाता श्री उद्दालक मुनि को इन्द्र आदि देवताओंने स्वर्ग में आने के लिये आमन्त्रण किया और उद्दालक जी ने देवताओं की अवज्ञा कर निर्विकल्प समाधि को किया ऐसी कथा योग वासिष्ठ में हैं । श्री रामचन्द्र और वसिष्ठ के प्रश्नोत्तर से भी यही समझा जाता है । श्री रामचन्द्र जी प्रश्न करते हैं कि—

"जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदांवर ! ।
शक्तयो नेह दृश्यन्त आकाशगमनादिकाः" ।

वसिष्ठः—

अर्थः—हे आत्मवेत्ताओं मे श्रेष्ठ ? [वसिष्ठ] जीवित ही जिस ने अपने शरीर के अभिमान का त्याग किया है अर्थात् जीवन्मुक्त आत्मज्ञानीपुरुषों की आकाश सें जाने इत्यादि सिद्धियां क्यों नही देखने मे आती हैं ! इस पर वसिष्ठ जी बोले—

"अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीनां सिद्धिजालानि वाञ्छति ॥
"द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याऽऽप्नोत्येव राघव ! ।

नाऽऽत्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञोह्यात्ममात्रदृक् ॥
आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाविद्यामनुधावति ।
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान्विदुः ॥
कथं तेषु किलाऽऽत्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधु सिद्धिदाः ॥
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काञ्चन ।
सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ॥
स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते ।
"न के चन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यपि" इति ॥
नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव" इति ॥
"अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णे चेन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥
चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम्" ॥
"यस्तु वा भावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात्"
इति ॥

अर्थः—आत्मज्ञान रहित पुरुष मुक्त न होने पर भी आकाश में विहार करना आदिक का और अणिमा आदि आठ सिद्धि ओं के सिद्धि जाल की इच्छा करता है। मणि, औषध, आदि प्रत्येक की शक्ति से, मन्त्र के सामर्थ्य से योगाभ्यास आदिक क्रियाशक्ति से, और उस के परिपाक के हेतुरूप काल के बल से पुरुष आकाश में विहार करना इत्यादि सिद्धिओं को हे रामचन्द्र जी ! प्राप्त होता है, परन्तु सिद्धि ओं को प्राप्त करना आत्म ज्ञानी का विषय नहीं। केवल आत्मा

का ही साक्षात्कार करने वाला आत्म ज्ञानी कहलाता है। जो स्वयं अपने आत्मा में ही तृप्त रहता वह अविद्या के कार्यों पीछे नहीं दौडता । तत्त्ववित् पुरुष, जगत् के जितने पदार्थ हैं उन को अविद्या का कार्य समझता है। अतएव आत्मज्ञ पुरुष या जिस ने अविद्या का त्याग किया है, वह जगत् के पदार्थों में आसक्ति क्यों कर रक्खें ? नहीं रखता हैं।

द्रव्य शक्ति, मन्त्रशक्ति, क्रियाशक्ति, और कालशक्ति, ये सब पूरीतरह सिद्धि देनेवाली है, परन्तु ये शक्तियां परम पद की प्राप्ति में किसी प्रकार की सहायता करने वाली नहीं हैं। सब इच्छा शान्त हो जाने से जो आत्मलाभ होता है, वह लाभ, सिद्धिजाल में फंसे पुरुष को क्यों कर मिल सकता! नहीं मिलता हैं। जैसे नगर में बसने वाली स्त्री का वल्लभ नगर वासी पुरुष को कुग्राम में बसने वाली स्त्रिया प्रसन्न नहीं कर सकतीं, उसी भांति जगत् का कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञानी महात्मा को खुश नहीं कर सकता । कदाचित् सूर्य नारायण शीतल किरण वाला हो जावें चन्द्रमा का मण्डल अति उष्ण हो जावे, और अग्नि की ज्वाला की ऊंची गति बन्द हो कर नीची हो जावे तौ भी जीवन्मुक्त पुरुष विस्मय को प्राप्त नहीं होता। परमात्मा की अनेक शक्तियां इस भांति स्फुरित होतीं हैं, ऐसा जान कर उस को आश्चर्य कारक पदार्थों में कौतुक नहीं होता। जिन सिद्धि ओं की वाञ्छा वाला पुरुष सिद्धियों की इच्छा करता वह सिद्धि को देनेवाले द्रव्यों से क्रमशः सिद्धियां सम्पादन करता है ॥

आत्मविषयस्तु सम्प्रज्ञातसमाधिर्वासनाक्षयस्य निरोधसमाधेश्च हेतुस्तस्मात्तत्राऽऽदरः

कृतोऽस्माभिः ॥

अथ पञ्चभूमिरूपो निरोधसमाधिर्निरूप्यते ।

तं च निरोधं सूत्रयति—

अर्थः—आत्म विषयक संप्रज्ञात समाधि, वासनाक्षय और निरोध समाधि का हेतु है, अत एव इस समाधि का यहां हमने आदर किया है । अब पञ्चम भूमिकारूप निरोध समाधिका निरूपण किया जाता है । इस समाधि को पतञ्जलि मुनि सूत्र से कहते हैं ।

"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणाचित्तान्वयोनिरोधपरिणामः" इति ॥

व्युत्थानसंस्काराः समाधिविरोधिनस्ते चो-
द्दालकस्य समाधावुदाहृताः ॥

अर्थः—'चित्त के व्युत्थान संस्कार का तिरोभाव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होता है, तथा चित्त उत्तरोत्तर क्षण में निरोध की ओर ही बढता हैं इस प्रकार के चित्त, के परिणाम को निरोध परिणाम कहते हैं । चित्त का व्युत्थान संस्कार समाधि में विरोधी होता है, उस को उद्दालक की समाधि में योगवासिष्ठ में दिखलाया हैं ॥

"कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने ।
चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाम्बुदः ॥
इति चिन्तापरवशोबलादुद्दालको द्विजः ।
पुनः पुनस्तूपविश्य ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥
विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।
न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥
कदाचिद्बाह्यसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।

तस्यागच्छच्चित्तकपिरान्तरस्पर्शसश्रयात् ॥
कदाचिदान्तरस्पर्शाद्बाह्यं विषयमाददे ।
तस्योड्डीय मनो याति कदाचित्त्रस्तपक्षिवत् ॥
कदाचिदुदिताकाभं तेजः पश्यति विस्तृतम् ।
कदाचित्केवलं व्योम कदाचिन्निबिडं तमः ॥
आगच्छता यथा कामं प्रतिभासान्पुनः पुनः ।
अच्छिन्नमनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥
विकल्पौघे समालूने सोऽपश्यदुधृदयाम्बरे ।
तमश्छन्नविवेकार्कं लोलं कज्जलमेचकम् ॥
तमप्युत्सादयामास सम्यक्ज्ञानविवस्वता ।
तमस्युपरते स्वान्ते तेजःपुञ्जं ददर्श सः ॥
तल्लुलाव स्थलाब्जानां वनं बाल इव द्विपः ।
तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ॥
निशाब्जवदगान्निद्रां तामप्याशु लुलाव सः ।
निद्राव्यपगमे तस्य व्योम संवित्समुच्चयौ ॥
व्योमसंविदि नष्टायां मूढं तस्याभवन्मनः ।
मोहमप्येष मनसस्तं ममार्ज महाशयः ॥
तमस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जिताम् ।
कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम्"
इति ॥

अर्थः—सङ्कल्प विकल्प रहित परम पावन श्री परमात्मा के स्वरूप में ही जैसे सुमेरु पर्वत की चोटी पर मेघ स्थिर रहता है, उसी भांति मैं कब तक विश्रान्ति पाऊंगा ? ऐसी चिन्ता के वश हो उद्दालक नामक ब्राह्मण वारवार बलात्कार से ध्यान का अभ्यास करते थे मरकट की नाईं चञ्चल चित्त

को जब विषयों ने आकर्षण किया, तब उन को सुख जनक समाधि में स्थिरता प्राप्त न हुई । किसी समय उन का चित्त रूप बन्दर बाह्य विषयों के सङ्ग को छोड कर आन्तर विषयों में जाता था उसी भांति कभी आन्तर विषयों को छोड उन का मन बाह्य बिषयों में जाता, जैसे भयभीत चिडिया, एक पेड पर से दूसरे पेड पर, उस पर से तीसरे पर, इस भांति भटकती उसी प्रकार उन का मन एक विषय को छोड कर दूसरे विषय में उस में से तीसरे विषय में यों भटका करता था वह ब्राह्मण ध्यान कर अभ्यास करते समय अपने भीतर उदय को प्राप्त हुआ सूर्य की नाईं विस्तारवाले तेज को अनुभव करते, कभी केवल आकाश को देखते, कभी गाढ अन्धकार को देखते, जैसे शूर बीर पुरुष युद्ध में तलवार से शत्रुओं को काटता हुआ चला जाता उसी भांति उद्दालक मुनि अन्तर में क्रमशः जो २ आभास प्रकट होता, उन को मन से लय करते जाते हैं । जब बहुत विकल्पों को शमन किया तब उन ने विवेक रूप सूर्य को ढाकने वाले काजल समान अन्धकार को अपने भीतर देखा । उस को भी यथार्थ ज्ञान रूप सूर्य से शान्त किया तब अन्धकार दूर होने पर वह अपने भीतर में तेज का ढेर देखने लगे । उस को भी स्थल के कमल वन को जैसा बच्चा हाथी काट डालता तैसे वृत्ति द्वारा छेद डाले, तब तेज के उपराम होने पर रात जैसे कमल निद्रा के वश होता वैसे उन का मन निद्रा के वश हुआ अर्थात् उस को भी शीघ्र बहा दिया । उस के बाद उन के अन्तर में आकाश का भान हुआ । वह भी नष्ट हुआ, तब उन का मन मोह युक्त हुआ । उस मोह को भी उन महाशय ने दूर किया अर्थात् इन मुनि का मन, तेज,

तम, निद्रा, और मोह, आदि के वश से न हो कर किसी अनिर्वचनीय अवस्था को पाकर क्षणभर विश्रान्ति पायी।

त एते व्युत्थानसंस्कारा निरोधहेतुना योगि-प्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते तद्वि-रोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति तथा सति निरोध एकैकस्मिन्क्षणे चित्तमनुगच्छति। सोयऽमीदृशश्चित्तस्य निरोधपरिणामो भवति।

अर्थः—ये सब व्युत्थान संस्कार दिन दिन और क्षण क्षण निरोधके कारणरूप योगी के प्रयत्न से तिरोभाव को प्राप्त होता है और निरोध संस्कार प्रकट होते हैं । इस भांति क्षण क्षण में चित्त निरोध के अनुकूल होता जाता है । इस प्रकार के चित्त परिणाम को निरोधपरिणाम कहते हैं ।

ननु—"प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः" इति न्यायेन चित्तस्य सर्वदा परिणामप्रवाहो वक्तव्यः । बाढम् ।

अर्थः—शङ्का—'एक चैतन्य को छोड कर बाकी सब पदार्थ क्षण २ मे परिणाम को प्राप्त होते हैं । इस भांति चित्त का सदा परिणामरूप प्रवाह चला करता ऐसा कहना चाहिये उस का निरोध सम्भव नहीं—

तत्र व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिप्रवाहः स्फुटः। निरुद्धचित्तस्य तु कथमित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

अर्थः—समाधान- जागृत् अवस्था में तो चित्त का वृत्ति-रूप परिणाम स्फुट हैं। निरुद्ध चित्त का परिणाम किस भांति? इस शङ्का को दूर करने के लिये पतञ्जलि मुनि सूत्र द्वारा कहते हैं-

"ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" इति ॥

अर्थः—निरोधसंस्कार से चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है।

यथा समिदाज्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तर-वृद्ध्या प्रज्वलति । समिदादिक्षयप्रथमक्षणे किञ्चिच्छाम्यति । उत्तरोत्तरक्षणे शान्तिर्वर्धते, तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकः प्रशमः प्रवहति । तत्र पूर्वपूर्वप्रथमजनितः संस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम् । तामेतां प्रशान्तवाहितां भगवान् विस्पष्टमुदाजहार ॥

अर्थः—जैसे अग्नि में समिध, घी, आदिक डालने से वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता, और समिध आदि जल जाती प्रथम क्षण में ज्वाला कुछ शान्त होती हैं दूसरे क्षण में उससे अधिक शान्त होती, इसी भांति उत्तरोत्तर क्षण में अधिक शान्त होती जाती है, इसी भांति निरोध को प्राप्त हुए चित्त-का उत्तरोत्तर अधिक २ शान्ति का प्रवाह बढता है । तिन में पूर्व २ की शांति से उपजे हुए संस्कार ही उत्तरोत्तर शान्ति में कारण रूप हैं । इस प्रकार की चित्त की प्रशान्त वाहिता भगवान् कृष्ण गीता में स्पष्ट कहते हैं ।

"यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्योयुक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपोनिवातस्थोनेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनोयतचित्तस्य युञ्जतोयोगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्योयोगोऽनिर्विण्णचेतसा" इति
निरोधसमाधेः साधनं सूत्रयति—

अर्थः—जब संयम को प्राप्त हुआ चित्त अपने आत्मा ही में टिकता और सम्पूर्ण कामना ओं से निवृत्त हो जाता तब वह पुरुष (योगी) कहा जाता हैं । जैसे निर्वात स्थान में रक्खा हुआ, दीप निश्चल रहता है । वैसे ही अपने चित्त को सावधान कर आत्मयोग करता हुआ योगी निश्चल होता है, ऐसा दृष्टान्त दिया है । जिस अवस्था में योगाभ्यास के द्वारा रोका हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो, और जहां शुद्ध अन्तःकरण से आत्मा (ज्योतिः स्वरूप) को देख आत्मा सन्तोष को प्राप्त हो । जिस दशा में इन्द्रियों के विषय में आने योग्य नहीं ऐसे केवल बुद्धि ही से जानने के योग्य अनन्त आनन्द को पावे और जहां पर स्थित होकर मनुष्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं हो जिस लाभ को पाकर उससे अधिक दूसरे लाभ को न माने और जिस में स्थिर हो अत्यन्त बडे दुःख से भी न दोलायमान हो ॥

निरोध समाधि के साधन को बतलानेवाला सूत्र—
"विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" इति
विरामोवृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारणं
वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नस्तस्याभ्यासः
पौनःपुन्येन सम्पादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्यो·

नन्तरातीतसूत्रे संप्रज्ञातसमाधेरुक्तत्वात्तदपेक्षयाऽन्योऽसंप्रज्ञातसमाधिः, तत्र वृत्तिरहितस्य चित्तस्वरूपस्य दुर्लक्ष्यत्वात्संस्काररूपेण चित्तं शिष्यते । विरामप्रत्ययजन्यत्वं भगवान् विस्पष्टमाह--

अर्थः—जिस में चित्त की सारी वृत्तियों का अवसान (अन्त) हो जाता है, उस वितर्कादि के अभाव ज्ञान को वारम्बार विचार पूर्वक जिस में केवल संस्कार ही शेष रहता उस निरावलम्ब समाधि को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥

चित्त के उपराम का कारण रूप प्रयत्न विशेष से असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं । यह बात कृष्ण भगवान् ने गीता में स्पष्ट कथन कियी है—

"सङ्कल्पप्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततोनियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्" इति ॥

अर्थः—सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं को छोड और मन ही से सम्पूर्ण इन्द्रियों को चारों ओर से रोक धैर्य के द्वारा बुद्धि को स्वाधीन कर, धीरे २ विषयों से उपराम को प्राप्त हो और भली भांति मन को आत्मा में निश्चल कर किसी पदार्थ की चिन्ता न करे । स्वभाव ही से चपल इस कारण अस्थिर ऐसा जो मन यह जिधर २ दौडता फिरे वहां वहां से उसे रोक अपनें आत्मा में स्थिर करे ॥

काम्यमानाः स्रक्चन्दनवनितापुत्रमित्रगृहक्षेत्रादयो मोक्षशास्त्रकुशलविवेकिजनप्रसिद्धैर्बहुभिर्दोषैरुपेता अप्यनाद्यविद्यावशात् दोषानाच्छाद्य तेषु विषयेषु सम्यक्त्वं कल्पयन्ति। तस्माच्च सङ्कल्पादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति। तथा च स्मर्यते—

अर्थः—इच्छा का विषय पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, मित्र, घर, क्षेत्र आदिक पदार्थ हैं, मोक्ष शास्त्र में प्रवीण विवेकी पुरुषों से स्पष्ट अनुभव किये हुए अनेक दोषों से युक्त हैं। तौभी अज्ञानी लोग अपनी अविद्या के कारण उन दोषों को नहीं देखते, तिससे उन २ में श्रेष्ठता की कल्पना करते हैं। श्रेष्ठता मानने से, यह पदार्थ मुझ को प्राप्त हो तो ठीक है इस भांति उन की प्रत्येक विषय में अभिलाषा हुआ करती है, स्मृति में भी कहा है—

"सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
काम?जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे॥इति॥
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलस्त्वं विनङ्क्ष्यसि"
इति॥

अर्थः—काम का मूल सङ्कल्पहै, यज्ञ भी सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुए हैं, हे काम? तेरा मूल जानता हूं कि तूं सङ्कल्प से उत्पन्न हुआ है अत एव तुझको सङ्कल्प ही न करूंगा तब तूं जड़ से नाशको प्राप्त हो वेगा॥

तत्र विवेकेन विषयदोषेषु साक्षात्कृतेषु शुना वान्ते पायस इव कामास्त्यज्यन्ते। स्रक्चन्दनवनितादिष्विव ब्रह्मलोकादिष्वपि-

माद्यष्टैश्वर्येषु च कामास्त्याज्या इत्यभिप्रेत्य सर्वानित्युक्तम् । मासोपवासव्रतिना तस्मिन्मासेऽन्ने त्यक्तेऽपि कामः पुनः पुनरुदेति तद्वन्मा भूदित्यशेषत इत्युक्तम् । कामत्यागे मनःपूर्वकप्रवृत्त्यभावेऽपि चक्षुरादीनां रूपादिषु स्वभावसिद्धा प्रवृत्तिः साऽपि, प्रयत्नयुक्तेन मनसैव नियन्तव्या। देवतादर्शनादिष्वप्यननुसरणाय समन्तत इत्युक्तम् । भूमिकाजयक्रमेणोपरमस्य विवक्षितत्वाच्छनैः शनैरित्युक्तम् । ताश्च भूमिकाश्चतस्रः कठवल्लीषु श्रूयन्ते—

अर्थः—इन पूर्वोक्त पुष्पमाला आदिक विषयों में विवेक द्वारा दोष दिखलाने पर जैसे कुत्ते को वमन किए पायसान्न (दूध का पका) पर रुचि उत्पन्न नहीं होती है, उस भांति उन विषयों में भी इच्छा नहीं होती । जैसे इस लोक के विषय की इच्छा त्यागनी, उसी भांति ब्रह्म लोक और अणिमा आदिक ८ विध ऐश्वर्यों की भी इच्छा त्यागनी आवश्यक है, अत एव उपर के श्लोक में 'सर्वान्' (सारे) ऐसा पद पढा है । एक मास पर्यन्त जिस ने उपवास रहने का व्रत धारण किया है, उस को मास में अन्न का त्याग करना पडता तथापि अन्न के लिये वार २ अभिलाषा हुआ करती है इस लिये 'अशेषतः' (अर्थात् 'कुछ बाकी न रहे इस भांति') ऐसा पद पढा है । काम का त्याग करने से मन मे प्रवृत्ति नहीं होती है, तथापि जो चक्षु आदि इन्द्रियों की अपना २ रूप आदि विषयों में प्रवृत्ति स्वभावतः होती है, उस को भी प्रयत्न युक्त मन द्वारा

रोके। देव दर्शन के लिये प्रवृत्ति का निषेध करने के निमित्त 'समन्ततः' (हर तरह से) यह पद दिया है। पहिले प्रथम भूमिका को जय करे फिर दूसरी भूमिका को। तब तीसरी को, इसी भांति उत्तरोत्तर क्रम से भूमिका के जय पूर्वक चित्त को उपराम देवे इस अभिप्राय से 'शनैः शनैः' (धीरे २) यह पद पढा है। भूमिका चार हैं। इन का निरूपण कठवल्ली उपनिषद् में किया है॥

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"
इति॥

अर्थः—वाणी का मन में लय करे, और उस मन को ज्ञानात्मा विशेष अहङ्कार में लय करे, उस का भी महान् आत्मा सामान्य अहङ्कार में लय करे, और सामान्य अहङ्कार को शान्त आत्मा निरूपाधि शुद्ध चैतन्य में लय करे।

वाग्व्यापारो द्विविधः, लौकिको वैदिकश्च, जल्पादिरूपो लौकिको जपादिरूपो वैदिकः। तत्र लौकिकस्य बहुविक्षेपकरत्वाद्व्युत्थानकालेऽपि योगी तं परित्यजेत्। अत एव स्मर्यते-

अर्थः—वाणी का व्यवहार दो प्रकार का होता है, एक वैदिक दूसरा लौकिक। तिन में से जो बोलनाहै वह लौकिक वाग्व्यवहार है और प्रणव आदि मन्त्रों का जप करना वैदिक वाग्व्यवहार है। इन दोनों में जो लौकिकवाणी व्यवहार है वह चित्त को बहुत ही विक्षेप में डालने वाला होने से योगाभ्यासी पुरुष को व्युत्थान (समाधि से उठने पर) काल में भी अवश्य त्यागना चाहिये। अतएव स्मृति भी कहती है—

"मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता ।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनः" इति ॥

अर्थः—मौन, योग के अनुकूल आसन, योग, तितिक्षा, एकान्तसेवन, किसी वस्तु की इच्छा न रहना, समदृष्टि ये सात एकदण्ड धारी संन्यासी के लक्षण हैं ॥

जपादिकं निरोधसमाधौ परित्यजेत् । सेयं वाग्भूमिः प्रथमा, तां भूमिं प्रयत्नमात्रेण कतिपयैर्दिनैर्वा दृढं विजित्य पश्चाद् द्वितीयायां मनोभूमौ प्रयतेत । अन्यथा बहुभूमिकः प्रासादवत् प्रथमभूमिकापातेनैवोपरितनयोगभूमयो विनश्येयुः । यद्यपि चक्षुरादयो निरोद्धव्यास्तथाऽपि तेषां वाग्भूमौ मनोभूमौ वाऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः ।

अर्थः—जपादि का निरोधसमाधि में त्याग करे । यह प्रथम वाणीरूप भूमिका कथन करी । इस भूमिका को कई दिन, मास, वर्ष में दृढ जीत कर दूसरी मनोभूमिका के जय के लिये प्रयत्न करे । यदि क्रम से एक २ भूमिका के जय न कर के पहिले ही अन्तिम भूमिका को जीतने की इच्छा हो तो, जैसे बहुत मञ्जिल (महल) वाले मकान के सब से उपर वाले महल में जाने की इच्छावाला पुरुष पहिले के क्रम से (एक के बाद दूसरा इस भांति) उपर को न चढ कर एकदम कूदकर आखीरि महल में जावे तो, वह उपर के महल में नहीं पहुंचता, और जमीन पर ही गिर पडता है, तथा लोगों के उपहास का भाजन बन जाता है । उसी भांति इस पुरुष की भी अवस्था होती है । यद्यपि नेत्र आदिका भी निरोध करना आवश्यक है।

तौ भी उस का वाणी रूप भूमि का या मन रूप भूमिका में अन्तर्भाव समझो। अर्थात् वाणी का या मन का निरोध के साथ इन्द्रियों का निरोध भी समझ लेना।

ननु वाचं मनसि नियच्छेदित्यनुपपन्नम्।
नहीन्द्रियस्येन्द्रियान्तरे प्रवेशोऽस्ति॥

अर्थः—शङ्का—वाणी का मन में निरोध करना, यह कहा, सो असम्भव सा भासता है। क्योंकि एक इन्द्रिय का दूसरे इन्द्रिय में प्रवेश हो नहीं सकता है?

नैवम्। प्रवेशस्याविवक्षितत्वात्। नानाविक्षेपकारिणोर्वाङ्मनसयोर्मध्ये प्रथमतो वाग्व्यापारनियमेन मनोव्यापारमात्रपरिशेष इह विवक्षितः। गोमहिषाश्वादीनामिव वाङ्नियमे स्वाभाविके सम्पन्ने ज्ञानात्मनि मनो नियच्छेत्। आत्मा त्रिविधः। ज्ञानात्मा महानात्मा शान्तात्मा चेति। जानात्यत्र स्थित आत्मेति ज्ञातृत्वोपाधिरहङ्कारोऽत्र ज्ञानशब्देन विवक्षितः। करणस्य मनसो नियम्यत्वेन पृथगुपात्तत्वात्। अहङ्कारो द्विविधः। विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति। अयमहमेतस्य पुत्र इत्येवं व्यक्तमभिमानो विशेषरूपः, अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः। स च सर्वव्यक्तिषु व्याप्तत्वान्महानित्युच्यते। ताभ्यामहङ्काराभ्यां द्वाभ्यामुपहितौ द्वावात्मानौ। निरुपाधिकः शान्तात्मा, तदेतत्सर्वमन्तर्बहिर्भावेन वर्तते। शान्त आत्मा स-

र्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्नाश्रितं जडशक्ति-रूपमव्यक्तं मूलप्रकृतिः । सा च प्रथमं सामान्याहङ्काररूपं महत्तत्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति । ततोबहिर्विशेषाहङ्काररूपेण, ततोबहिर्मनोरूपेण, ततोबहिर्वागादीन्द्रियरूपेण । तदेतदभिप्रेत्योत्तरमान्तरत्वं विविनक्ति श्रुतिः ॥

अर्थः—समाधान—इस स्थल में प्रवेश में तात्पर्य नहीं, परन्तु नाना प्रकार के विक्षेप को उपजाने वाला मन और वाणी में से प्रथम वाणी के व्यापार को रोककर केवल मनका व्यापार अवशेष रखे ऐसा कहने का तात्पर्य है । जैसे बैल, भैंस, घोडा आदिक प्राणियों को स्वाभाविक रीति से वाणी का जय हुआ करता उसी भांति स्वाभाविक रीति से वाणी का जय होनेके लाई मनको ज्ञानात्मा में निरोध करे। ज्ञानात्मा, महान् आत्मा, और शान्त आत्मा यें तीन प्रकार के आत्मा हैं। तिन में ज्ञातापन की उपाधि जो अहङ्कार वह ज्ञानात्मा शब्द में ज्ञान पद का अर्थ हैं । अहङ्कार दो प्रकार का है । एक विशेष अहङ्कार और दूसरा सामान्य अहङ्कार । 'मैं यज्ञदत्त देवदत्त का पुत्र हूं यह विशेष अहङ्कार का स्वरूपहै । और मैं हूं यह सामान्य अहङ्कार है । इस प्रकार का अहङ्कार सब प्राणीयों में व्याप्त होने से उस को सामान्य अहङ्कार ऐसी संज्ञा (नाम) दियी है । इन दो प्रकार के अहङ्कार रूप उपाधि सहित आत्मा का क्रम से एक को ज्ञानात्मा और दूसरे को महान् आत्मा इस नाम से श्रुतियों ने व्यवहार किया है । निरूपाधि आत्मा को शान्त आत्मा कहते हैं । इन तीन आत्माओं में से सब से बाहर ज्ञान

आत्मा है, और भीतर महान् आत्मा है, और उस के भीतर शान्तात्मा है। यह सर्वान्तर चित् एकरस में जड वर्ग को उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति रहती उस को अव्यक्त या मूल प्रकृति कहते हैं। वह मूल प्रकृति पहिले सामान्य अहङ्कार रूप 'महतत्त्व' ऐसा नाम धारण कर प्रकट होती है। उस के बाद उस के बाहर, विशेष अहङ्कार रूप से प्रकट होती है, उस के बाद उस के बाहर मनरूप से प्रकट होती है, और उस के पश्चात् इन्द्रिय आदि रूप से प्रकट होती हैं, इसलिये सब से बाहर इन्द्रिय आदिक हैं, उन के भीतर मन है, उस के अन्दर विशेष अहङ्कार है, उस के अन्दर सामान्य अहङ्कार है, उस के अन्दर मूल प्रकृति है, और उस के अन्दर पुरुष है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः"
इति ॥

अर्थः—[पृथिव्यादितत्त्वों से बने] इन्द्रियों से गन्ध आदिक विषय सूक्ष्म वा श्रेष्ठ है, विषयों से मन अतिसूक्ष्म है, मन से निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) सूक्ष्म है। महतत्त्व से अव्यक्त सूक्ष्म है, अव्यक्त से पुरुष सूक्ष्म हैं, और पुरुष से कोई भी सूक्ष्म नहीं है, वही सब का अन्त [हद] और वहीं तक जाने की अवधि है।

एवं सत्यत्र नानाविधसङ्कल्पविकल्पसाधनं कारणरूपं मनोऽहङ्कर्तरि नियच्छेत् मनोव्या-

पारान् परित्यज्याहङ्कारमात्रं शेषयेत् । न चैतदशक्यमिति वाच्यम् ॥

अर्थः—इस प्रकार है, इस लिये मन का अहङ्कार में निरोध करना अर्थात् मन के व्यापार को त्याग कर केवल अहङ्कार को शेष रक्खे, इस का होना अशक्य है, ऐसा न जानो क्यों कि—

"तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्"

इति वदन्तमर्जुनं प्रति भगवतोत्तराभिधानात्—

अर्थः—इस मन का निग्रह होना, वायु को रोकने के समान बहुत ही कठिन है । इस भांति अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्री कृष्ण जी यों उत्तर देते हैं कि—

"असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत" इति ॥

अर्थः—भगवान् बोले हे अर्जुन ! निःसन्देह मन अति चपल और क्लेश से अपने वश करने के योग्य है । परन्तु हे कौन्तेय ! वह अभ्यास और वैराग्य से वश किया जा सकता है । मन को न जीतने वाले को योग अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा मेरा निश्चय हैं । परन्तु मन को वश करने हारे यत्न करते हुए पुरुष को उपाय द्वारा मिलने के योग्य है ॥

अभ्यासवैराग्ये पतञ्जलिसूत्रोदाहरणेन व्याख्यास्येते । पूर्वपूर्वभूमिदार्ढ्यरहितोऽसंयतात्मा । तत्सहितो वश्यात्मा । उपायतः प्राप्तिं गौडपादाचार्य्याः सदृष्टान्तमाहुः—

अर्थः—अभ्यास और वैराग्य का व्याख्यान पतञ्जलिजीने सूत्रों द्वारा किया है। पूर्व २ भूमिका का, जिस ने सुदृढता से जय कर लिया हो, उसे संयतात्मा अर्थात् देह इन्द्रियादिक को वश में करनेवाला समझो और जिस ने उन का जय न किया हो, उसे असंयतात्मा अर्थात् देहादिक को वशमें न रखनेवाला जानो ॥

उपाय से मन वश में होता है ऐसा दृष्टान्त सहित गौडपादाचार्य ने कहा है—

"उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः॥
बहुभिर्न विरोद्धव्यमेकेनापि बलीयसा।
स पराभवमाप्नोति समुद्र इव टिट्टिभात्" इति॥

अर्थः—जैसे कुश के नोक से एक २ बून्द जल ले २ कर समुद्र को उलछने का काम, जो कायर न हो तो बन सकता है। उसी भांति खेद रहित हो तो, मन का निग्रह भी हो सकता है। एक पुरुष यद्यपि बलवान् हो तथापि उस को बहुओं के साथ विरोध न करना चाहिये। क्यों कि समुद्रने, तित्तीर पक्षी से हार माना उसी तरह वह पराभव को प्राप्त होता है। इस की कथा यों है—

अत्र संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते—
"कस्य चित्किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थान्युदधिरुत्सेकेनापजहार। तत्र समुद्रं शोषयामीति प्रवृत्तः स च पक्षी स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुं प्रतिक्षिपति। तदा बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽप्यनुपरतः प्रत्युत ता-

नपि सहकारिणो वव्रे । तांश्च पतनोत्पतना-भ्यां बहुधा क्लिश्यतः सर्वानवलोक्य कृपा-लुर्नारदो गरुडं समीपे प्रेषयामास । ततो ग-रुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डा-नि पक्षिणे ददौ " ॥

अर्थः—यहां वेदान्त सम्प्रदाय के वेत्ता वृद्ध पुरुष इस प्रकार की आख्यायिका कहते हैं—किसी समुद्र के किनारे ति-त्तिर नामक पक्षी रहता था । एक समय तित्तिरीन को प्रसव का समय निकट आया, तब उस ने अपने पति से अण्डा कहां दूंगी ऐसा पूंछ्छा । इस पर तित्तीर ने समुद्र के तीर में ही अण्डा देने कहा । स्त्री ने कहा कि " समुद्र अण्डों को बहा ले जावेगा । तित्तीर ने उत्तर दिया कि 'समुद्र पर इस से क्या भार होगा ? तू खुशी से समुद्र के तीर जा कर अण्डा दो । अनेक प्रकार तित्तिरीन के समझाने पर भी उस ने समझा नहीं तब उस ने प्रसव किया अर्थात् समुद्र के तीरही में अण्डे दिये । समुद्र ने विचार किया कि ' यह तित्तिर सरीखा छोटा सा पक्षी इतना बल दिखलाया है, तो जा कर देखूं तो वह क्या करता है ? ऐसा मन विचार कर उस के अण्डों को बहा ले गया और उन को सावधानता से एक ठिकाने रक्खा दिया । तित्तिर इस की खबर सुनते ही क्रोध वश हो समुद्र को सुखाने के लिये चोंच में पानी का एक २ बून्द ले बाहर फेंक ने लगा इस को देख अन्य पक्षियों ने भी उसे बहुत समझाया तौ भी उस ने एकभी न सुनी, और बोला जो इस समय मुझ तुम्हारी सलाह की जरूरत नहीं जो मुझे मदद करना हो तो करो नहीं तो तुम्हारी इच्छा। इस्से अन्य पक्षियों ने भी उस के समान करना

आरम्भ किया। इस को देख कर श्री नारदमुनि के जी में दया हुई इससे उनपक्षियों को सहायता के लिये गरुड को पास भेजा। और जब गरुड अपने पंख की हवा से समुद्र को सुखाने लगे तब उस को भय हुआ और तित्तिर को उसने अण्डे वापस दिये।

एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं, योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति अखेदश्च मध्ये-मध्ये तदनुकूलव्यापारमिश्रणेन सम्पाद्यते। यथौदनं भुञ्जानस्तद्ग्रासान्तरे चोष्यलेह्यादी-नास्वादयति तद्वत्। इदमेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह—

अर्थः—इसी भान्ति खेद रहित हो मन के निरोधरूप सर्वोत्तम धर्ममें प्रयत्न करते हुए योगी पर ईश्वर अनुग्रह करता है। इस से उस के मन का निरोध होता है। जैसे कोई मिष्टान्न खानेवाला पुरुप बीच २ में चूस ने और चाटने की चीजों का स्वाद लेता जाता है जिस से उस को मिष्टान्न में अरुचि पैदा नहीं होती है, उसी प्रकार योगाभ्यासी पुरुष योग के अनुकूल अन्य व्यापारों का मेल करता है, तिस से वह योगाभ्यास से कायर नहीं होता है। इसी अभिप्राय को लेकर वसिष्ठ ने भी कहा है—

"चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत्।
गुरुशुश्रूषया भागमव्युत्पन्नस्य संक्रमः॥
किञ्चिद्व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत्।
गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया॥
व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहम्।
द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यैर्द्वौ ध्यानगुरुपूजया" इति॥

अर्थः—भोग से चित्त के दो भाग पूर्ण करे, एक भाग को शास्त्रों के विचार से और दूसरे को सद्गुरु की सेवा से पूरा करे। इस भांति योग में प्रवेश करने वाले चित्त का क्रम है। योग में कुछ भी कुशलता प्राप्त हुए चित्त के एक भाग को भोग से पूरा करे। दूसरे भाग को सद्गुरु की सेवा से पूरा करे और एक भाग को शास्त्रविचार से पूरा करे। योग में सब तरह कुशलता पाए हुए चित्त के दो भाग प्रति दिन शास्त्रविचार और वैराग्य से पूरा करे, तथा दो भाग ध्यान और गुरु पूजा से पूरा करे।

भोगशब्देनात्र जीवनहेतुर्भिक्षाटनादिव्यापारोवर्णाश्रमोचितव्यापारश्चोच्यते। घटिकामात्रं मुहूर्त्तं वा यथाशक्ति योगमभ्यस्य ततोमुहूर्त्तं शास्त्रश्रवणेन परिचयो वा गुरूननुगम्य मुहूर्त्तं स्वदेहमनुस्मृत्य मुहूर्त्तं योगशास्त्रं पर्यालोच्य पुनर्मुहूर्त्तं योगमभ्यसेत्। एवं योगप्राधान्येन व्यापारान्तराणि मेलयंस्तानि द्रागभ्यस्य शयनकाले तद्दिनगतान्योगमुहूर्त्तान् गणयेत्। ततः परेद्युर्वा परपक्षे वा परमासे वा योगमुहूर्त्तान् वर्धयेत्। तथा चैकैकस्मिन् मुहूर्त्ते एकैकक्षणयोगेऽपि संवत्सरमात्रेण भूयान् योगकालो भवति। न चैवं योगैकशरणत्वे व्यापारान्तराणि लुप्येरन्निति शङ्कनीयम्। लुप्तेतरकृत्स्नव्यापारस्यैव योगेऽधिकारात्।

अर्थः—यहां 'भोग' अर्थात भिक्षा मांगना इत्यादि जी-

वन का हेतुरूप क्रिया और वर्णाश्रम के अनुकूल कर्म समझना। एक घडी या मुहूर्त्त मात्र या यथाशक्ति योगाभ्यास कर उस के बाद दो घडी शास्त्र श्रवण या गुरुकी सेवा करे, उस के बाद दो घडी शरीर क्रिया करे बाद उस के दो घडी शास्त्र विचार कर फिर दो घडी योगाभ्यास करे। इस भांति कर्त्तव्य में प्रधान पद योग को देकर उस के साथ अन्य व्यापार मिलाता जाकर सोते समय 'आज योग का काल कितना हुआ, इस की गणना करे। उस के बाद दूसरे दिन, दूसरे पक्ष, या दूसरे मास में योग के समय की वृद्धि करे। इस प्रकार एक २ मुहूर्त्त में एक क्षण के योग से भी वर्ष में बहुत योग काल हो जाता हैं। इस भांति प्रतिदिन योग में अधिक काल बीतनेपर धीरे २ अन्य काम नहीं बन सकते ? ऐसी शङ्का न करो, क्यों कि योग के सिवाय अन्य कार्यों को सागने वाले ही का योग में अधिकार है॥

अतएव विद्वत्संन्यासोऽपेक्ष्यते। तस्मात्तदेकनिष्ठः पुमानध्येतृवणिगादिवत्क्रमेण योगारूढो भवति। यथाऽध्येता माणवकः पादांशं पादमर्धर्चमृचं मृग्द्वयं वर्गं च क्रमेण पठन्दशद्वादशवर्षैरध्यापको भवति। यथा च वाणिज्यं कुर्वन्नेकनिष्कद्विनिष्कादिक्रमेण लक्षपतिः क्रोडपतिर्वा भवति तथा ताभ्यां वणिगध्येतृभ्यां सहैवोपक्रम्य मत्सरग्रस्त इव युञ्जानस्तावता कालेन कुतो न योगमारोहेत्। तस्मात्पुनः पुनः प्राप्यमाणान् सङ्कल्पविकल्पानुद्दालकवत्पौरुषप्रयत्नेन परि-

स्यज्याहङ्कर्तरि ज्ञानात्मनि मनो नियच्छेत् । तामेतां द्वितीयभूमिकां विजित्य बालमूका-दिवन्निर्मनस्त्वे स्वाभाविके सति ततो विशेषाहङ्काररूपं विस्पष्टं ज्ञानात्मानमस्पष्टे सामान्याहङ्कारे महत्तत्त्वे नियच्छेत् । यथा स्वल्पां तन्द्रां प्राप्तवतो विशेषाहङ्कारः स्वत एव सङ्कुचति विनैव तन्द्रां तथा विस्मरणं प्रयतमानस्याहङ्कारसङ्कोचो भवति सेयं लोकप्रसिद्धया तन्द्या तार्किकाभिमतनिर्विकल्पकज्ञानेन च समाना महत्तत्त्वमात्रपरिशेषावस्था तृतीया भूमिः । अस्यां चाभ्यासपाटवेन वशीकृतायां तमेतं सामान्याहङ्काररूपं महान्तमात्मानं निरुपाधितया शान्ते चिदेकरसस्वभावे नियच्छेत् ।

अर्थः—इस से ही विद्वत्संन्यास की योग की सिद्धि के लिये अपेक्षा है । इस लिये योगपरायण पुरुष, विद्यार्थी और व्यापारी के समान धीरे २ योगारूढ होता है । जैसे वेदाध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पहिले, पाद का आधा, फिर पाद, तब आधी ऋचा, पूरी ऋचा, दो ऋचा, और वर्ग इसी भांति क्रम से अधिक २ पढता बारह वर्ष में स्वयं अन्य को वेद पढानेवाला हो जाता है । तथा जैसे व्यापारी एक रूपैआ, दो रूपये, इस भांति प्रति दिन उपार्जन करते २ क्रमशः लखपति, या क्रोडपति होता है, उसी तरह योगी भी क्रमशः योग की अभिवृद्धि करता २ उत ने ही समय में योगारूढ क्यों न हो वे ? तिस कारण से बार २ उठे हुए सङ्कल्प विकल्पों को उद्दालक मुनि के

समान प्रयत्न से छोडकर विशेष अहङ्कार जिस को ज्ञानात्मा कहते हैं उस में मन का निरोध करे। इस भांति दूसरी भूमिका का जय कर, बाल या मूक के समान अमनस्कता के स्वाभाविक सिद्ध होने पर स्फुटस्वरूपवाला विशेष अहङ्कार जिस को ज्ञानात्मा कहते हैं उस का अस्फुट सामान्य अहङ्कार महत्तत्त्व में लय करे। जैसे स्वल्प तन्द्रा (आधी नीन्द) के वश हुए पुरुष का विशेष अहङ्कार स्वयं सङ्कुचित हो जाता उसी तरह विशेष अहङ्कार के विस्मरण होने के लिये यत्न करता योगी का अहङ्कार, निद्रा विना सङ्कोच को प्राप्त हो जाता है? या लोक प्रसिद्ध तन्द्रा के समान या नैयायिक के माने हुए निर्विकल्प ज्ञान के समान अवस्था जिस में महत्तत्त्वरूप सामान्य अहङ्कार शेष रहता हैं। उस को तीसरी भूमिका कहते हैं। इस भूमिका को अभ्यास से जीतने पर यह सामान्य अहङ्कार का निरुपाधि होने से शान्त शुद्ध चैतन्य स्वरूप में निरोध करे॥

"महत्तत्त्वं तिरस्कृत्य चिन्मात्रं परिशेषयेत्"॥ अत्रापि पूर्वोक्तविस्मृतिप्रयत्न एव ततोऽप्यतिशयेनोपायतामापद्यते। यथा शास्त्राभ्यासप्रवृत्तस्य व्युत्पत्तेः प्राक् प्रतिग्रन्थं व्याख्यानापेक्षायामपि व्युत्पन्नस्य स्वत एवोत्तरग्रन्थार्थः प्रतिभाति तथा सम्यग्वशीकृतपूर्वभूमेर्योगिन उत्तरभूम्युपायः स्वत एव प्रतिभाति। तदाह योगभाष्यकारः—

अर्थः—'महत्तत्त्व को भूल जाय और चैतन्य को ही शेष रखे' ऐसा वाक्य है। ऐसा होने पर भी महत्तत्त्व को विस्मरण करने का प्रयत्न ही विशेष उपाय है। जैसे शास्त्र के अभ्यास

में प्रवृत्त हुए पुरुष को व्युत्पत्ति होने के पहिले प्रत्येक ग्रन्थ के व्याख्यान की अपेक्षा रहती है, परन्तु व्युत्पत्ति होने पर उस को उत्तर ग्रन्थों का अर्थ अपने आप फुरता है, उसी तरह जिस ने प्रथमभूमिका का जय कर लिया है, उस को उत्तर भूमिका के जय का उपाय अपने आप मालूम हो जाता है। यही बात व्यास जी योगभाष्य में कहते हैं—

"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्"
इति ॥

योग उत्तरभूमिका योगेन ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते। यो योगाप्रमत्तो योगेन पूर्वभूमिकोत्तरभूमिकायोगेन स योगी रमते चिरमिति।

अर्थः—उत्तर भूमिका रूप योग को योग द्वारा पूर्वभूमिका से जाने। योग द्वारा योग में प्रवृत्ति होती है। जो योगी योग में प्रमाद रहित होता, वह योगी पूर्व भूमिका के जय पूर्वक उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति से चिरकाल अलौकिक सुख का अनुभव करता है।

ननु महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्यक्ताख्यं तत्त्वं श्रुत्योदाहृतम्, तत्र कुतो नियमनं नाभिधीयत इति चेन्न ॥

अर्थः—शङ्का—महत्तत्त्व और निरुपाधि शान्तात्मा के मध्य महत्तत्त्व का उपादान अव्यक्त (प्रकृति) नाम का तत्त्व श्रुति ने कथन किया है, इस लिये महत्तत्त्व का अव्यक्त में निरोध क्यों नहीं कहा ?

लयप्रसङ्गादिति ब्रूमः । यथा घटोऽनुपादाने जले निरुध्यमानो न लीयते, उपादानभूतायां तु मृदि लीयते तथा महत्तत्त्वमात्मनि न लीयते । अव्यक्ते तु लीयते । नच स्वरूपलयः पुरुषार्थः, आत्मदर्शनानुपयोगात् ।

अर्थः—समाधान—महत्तत्त्व (सामान्य अहङ्कार) का उस के उपादान प्रकृति में निरोध करने से उस का लय हो जाता है । जैसे घडे को जल या जो उस का उपादान नहीं, उस में डुबाने से उस का लय नहीं होता है, परन्तु मट्टी में उस का लय होता है । वैसे शुद्ध चैतन्य महतत्त्व का उपादान न होने से, उस में उस का लय नही होता । परन्तु अव्यक्त में लय होता है, क्योंकि वह उस का उपादान है । अन्तः करणकी एकाग्रता आत्मदर्शनका कारण होने से पुरुषार्थ है, उस का लय पुरुषार्थ रूप नहीं ।

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इति पूर्ववाक्ये आत्मदर्शनमभिधाय सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधस्याभिधानात् लयस्य प्रतिदिनं सुषुप्तौ स्वतः सिद्धत्वेन प्रयत्नवैयर्थ्याच्च ।

अर्थः—सूक्ष्मदर्शी पुरुष सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि से आत्मा का दर्शन करता है ।

जो अन्तः करण का लय पुरुषार्थ होता तो प्रति दिन सुषुप्ति समय पर स्वयं सिद्ध हो, इस लिये उस के लिये सारे प्रयत्न निष्फल है ।

ननु धारणाध्यानसमाधिभिः साध्यस्य सं-

प्रज्ञातस्यैकाग्र्यवृत्तिरूपत्वेन दर्शनहेतुत्वेऽपि शान्तात्मन्यवरुद्धस्य संप्रज्ञातसमाधिमापन्नस्य चित्तस्य वृत्तिराहित्यत्वेन सुषुप्तिवन्न दर्शनहेतुत्वमिति चेन्न।

अर्थः—शङ्का,—धारणा, ध्यान, और समाधि द्वारा सिद्ध होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि, एकाग्रवृत्तिरूप होने से वह आत्म दर्शन का हेतु है; यह बात निर्विवाद है, परन्तु शान्तात्मा में निरोध करने से असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए का चित्त वृत्ति रहित है, अतएव सुषुप्ति के समान वह आत्म दर्शन का कारण सम्भव नही।

स्वतः सिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात्। अतएव श्रेयोमार्गेऽभिहितम्।

अर्थः—समाधान—आत्मदर्शन स्वतः सिद्ध होने से उस का वारण उस भांति नहीं हो सकता है, इसी कारण श्रेयोमार्ग नामक ग्रन्थ कार ने कहा है कि—

"आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्। आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टिं विदधीत" इति॥

अर्थः—चित्त स्वभाव से ही आत्माकार या अनात्मकार स्थित रहता है। इस लिये उस को अनात्म दृष्टि का तिरस्कार पूर्वक आत्माकार करे॥

यथा घट उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते, जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति। तत्र जलादौ निःसारितेऽपि न वियन्निः सारयितुं शक्यते, मु-

खपिधानेऽप्यन्तर्वियदवतिष्ठत एव । तथा चित्तमुत्पद्यमानमात्मचैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते उत्पन्ने चित्ते पश्चान्मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवद्घटपटरूपरससुखदुःखादिवृत्तिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मादिवशाद्भवति तत्र रूपरसाद्यनात्माकारे निवारितेऽपि निर्निमित्तश्चिदाकारो न निवारयितुं शक्यते । ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन संस्कारमात्रशेषतया सूक्ष्मत्वेन चिदात्ममात्राभिमुखत्वादेकाग्रेण चित्तेन निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते । अनेनैवाभिप्रायेण वार्त्तिककारसर्वानुभवयोगिनावाहतुः ।

अर्थः—विवेचन—जब घडा उत्पन्न होता तब आकाश द्वारा पूर्ण ही उत्पन्न होता, उस में आकाश भरने के लिये कोई यत्न नही करना पडता है परन्तु उस में पानी या चावल भरना हो तो, घडा के उत्पन्न होने पर पुरुषप्रयत्न से वह हो सकता। उस में से जल आदिक निकाल लेने पर आकाश नहीं निकाला जा सकता कदाचित् घडा का मुंह बन्द करो तौ भी आकाश तो उस मे बना ही रहेगा उसी प्रकार चित्त भी जब उत्पन्न होता हैं, तब आत्मचैतन्य द्वारा पूर्ण ही उत्पन्न होता है जैसे कुठाली (सांची) में गला हुए तामा आदिधातुओं को डालो तो उस का आकार सांचे के आकार की नाईं हो जाता है, उसी भांति चित्त उत्पन्न होने पर भोग के हेतु रूप धर्म अधर्म के कारण घडा, वस्त्र, रूप, रस, सुख, दुःख, आदि वृत्तिरूप हो जाता है। इन चित्त के रूप, रस आदिक अनात्म आ

कार की निवृत्ति होने पर उस का स्वाभाविक चैतन्याकार का निवारण नहीं हो सकता है, अतएव वृत्ति रहित निरोधसमाधि द्वारा, संस्कारमात्र शेष होने से सूक्ष्म केवल, आत्माभिमुख होने से एकाग्र, चित्त निर्विघ्नता से आत्मा का ही अनुभव करता है इसी अभिप्राय से वार्त्तिककार और सर्वानुभवयोगी कहते हैं।

"सुखदुःखादिरूपित्वं धियोधर्मादिहेतुतः ।
निर्हेतुत्वात्मसम्बोधरूपत्वं वस्तुवृत्तितः ॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम् ।
असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः"इति ॥

अर्थः—धर्मादि कारण के वश चित्त, सुख, दुःख आदि आकार वाला हो जाता है, और बोधरूप आत्माकार तो कारण विना ही स्वभावसे ही होता है। वृत्तिरहित हुए चित्त का परमानन्दस्वरूप प्रकाश करता है, उस को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह समाधि योगियों को प्रिय है।

आत्मदर्शनस्य स्वतः सिद्धत्वेऽप्यनात्मदर्शनवारणाय निरोधाभ्यासः । अतएवोक्तम्—

अर्थः—आत्म दर्शन अपने आप सिद्ध होने पर अनात्म वस्तु के दर्शन को रोकने के लिये चित्त के निरोध का अभ्यास करना आवश्यक है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी कहते हैं—

"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तये त्"

अर्थः—आत्मा में मन को स्थिर कर साथ किसी विषय का चिन्तन न करे।

योगशास्त्रस्य चित्तचिकित्सकसमाधिमात्रे

प्रवृत्तत्वान्निरोधसमाधावात्मदर्शनं तत्र न साक्षादुक्तम्। भङ्ग्यन्तरेण त्वभ्युपगम्यते।

अर्थः—योगशास्त्रकी चित्त का राग आदिक रोग हटाने वाले समाधी के ही प्रतिपादन में प्रवृत्ति है, अतएव उस में समाधिकाल में आत्मदर्शन का साक्षात् कथन नहीं किया है, तथापि उस में प्रकारान्तर से आत्मदर्शन स्वीकार किया है।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति सूत्रयित्वा "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इति सूत्रणात्। यद्यपि निर्विकारो द्रष्टा सदा स्वरूप एवावतिष्ठते तथाऽपि वृत्तिषूत्पद्यमानासु तत्र चिच्छायायां प्रतिबिम्बितायां तदविवेकादस्वस्थ इव द्रष्टा भवति। तदप्यनन्तरसूत्रेणोक्तम्—"वृत्तिसारूप्यमितरत्र" इति। अन्यत्रापि सूत्रितम्।

अर्थः—चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है। इस सूत्र को कह कर समाधि में द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती हैं। ऐसा सूत्र दिया है। यद्यपि निर्विकार द्रष्टा सदा स्वरूप में ही स्थित होता है, तथापि वृत्तियां जब तक उठा करती तब तक उन में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडने से, अविवेक के कारण द्रष्टा भी विकारी समान हो जाता है। यह बात भी पतञ्जलि मुनि ने कथन किया है योग के सिवाय अन्य अवस्था में आत्मा वृत्ति के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है—अन्य स्थल में भी पतञ्जलि ने कहा है।

"सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्" इति ॥

अर्थः—बुद्धि और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, बुद्धि का सुख दुःखादि परिणाम जो पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा प्रतीत होता है वह भोग है यह भोग दृश्य होने से पुरुष के लिये है। अन्य सूत्र—है।

"चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्" इति च। निरोधसमाधिना शोधिते त्वम्पदार्थे साक्षात् कृतेऽपि तस्य ब्रह्मत्वं गोचरयितुं महावाक्येन ब्रह्मविद्यानामकं वृत्त्यन्तरमुत्पद्यते। न च शुद्धत्वंपदार्थसाक्षात्कारे निरोधसमाधिरेक एवोपायः। किं तु चिज्जडविवेकेनापि पृथक्कृते तत्साक्षात्कारसम्भवात्—अतएव वसिष्ठ आह।

अर्थः—चितिशक्ति (पुरुष) जिस का अन्यत्र गमन नहीं होता, उस की छाया बुद्धि में पड कर बुद्धि के आकार को प्राप्त होने से अपना भोग्य ऐसी बुद्धि का ज्ञान होता है निरोध समाधि द्वारा शोधन करने पर पदार्थ के साक्षात्कार करने पर भी उस को ब्रह्मपन का साक्षात् अनुभव होने के लिये, श्री सद्गुरु के मुख से महावाक्य के सुनने से ब्रह्मविद्या नामक एक प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। शुद्ध 'त्वं' पदार्थ के साक्षात्कार में केवल निरोधसमाधि ही उपाय रूप नहीं परन्तु श्रीगुरु उपदिष्ट युक्ति द्वारा चैतन्य और जड का विवेक करने से जड से भिन्न स्वरूप द्वारा त्वं पदार्थ रूप प्रत्यक् आत्मा का साक्षात्कार होता है। इस लिये वसिष्ठ भगवान् कहते हैं।

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव?।

योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्" इति।
"असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः" इति॥

अर्थः—हे राम चन्द्र ! चित्त का नाश दो प्रकार का है। एक योग और दूसरा ज्ञान है । मन के वृत्ति के निरोध को योग कहते है ? और यथार्थ विचार को ज्ञान कहते हैं। इनमें से किसी को योग असाध्य है, अर्थात् बनना अशक्य है, और किसी को ज्ञान का निश्चय असाध्य है, इस लिये श्री परमेश्वर—शङ्करजी ने दो प्रकार कहा है।

ननु विवेकोऽपि योगे पर्यवस्यति दर्शनवेलायामात्ममात्रगोचराया एकाग्रवृत्तेः क्षणिकसंप्रज्ञातरूपत्वात् ।

अर्थः—शङ्का, आत्मा का दर्शन करते समय केवल आत्मा को ही ग्रहण करने वाली एकाग्रवृत्ति क्षणिक संप्रज्ञात समाधिरूप होने से विवेकरूप ज्ञान भी वस्तुतः योग ही है अत एव योग से ज्ञान का अलग मानने में कोई कारण नहीं है।

बाढम् । तथाऽपि संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोः स्वरूपतः साधनतश्चास्त्येव महद्वैलक्षण्यम्। वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्फुटः स्वरूपभेदः । साधनं तु संप्रज्ञातस्य सजातीयत्वाद्धारणादि त्रयमन्तरङ्गम् । असंप्रज्ञातवृत्तिकस्य विजातीयत्वाद्बहिरङ्गम् । तथा च सूत्रम् "तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य" इति । विजातीयत्वेऽपि बहुविधानात्मवृत्तिनिवारणेनोपकारितया बहिरङ्गत्वमविरुद्धम् । तदेवोपकारित्वं विशद-

यितुं सूत्रयति—

अर्थः—समाधान,—तुम्हारा कहना वास्तविक है, तथापि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के स्वरूप में और उस के साधन में बहुत फरक हैं। संप्रज्ञात समाधि में वृत्ति का सद्भाव रहता और असंप्रज्ञात समाधि में वृत्ति का अभाव होता है । यही दोनों के स्वरूप में भेद जानो । धारणा, ध्यान, और समाधि ये तीन अङ्ग संप्रज्ञात समाधि में अन्तरङ्ग साधन हैं, क्योंकि वे संप्रज्ञात समाधि के सजातीय है । सजातीय इस लिये हैं कि जैसे धारणादि तीन अङ्ग में वृत्ति होती है, वैसे संप्रज्ञात समाधि में भी वृत्ति होती हैं । पूर्वोक्त तीन अङ्ग असंप्रज्ञात समाधि जो वृत्तिरहित है, उन का बहिरङ्ग साधन है । यह बात भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—"वे धारणा आदिक तीन अङ्ग निर्बीज असंप्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग साधन है" धारणा आदि तीन अङ्ग वृत्ति युक्त होने से असंप्रज्ञात समाधि से विजातीय होता हुआ अनेक प्रकार की अनात्माकार वृत्ति के निवारण द्वारा उस में उपकारक होने से उन को बहिरङ्ग साधन मानने में कोई विरोध नहीं। उन की उपकारकता पतञ्जलि मुनि सूत्रों से कहते हैं--

"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्"

अर्थः—और अन्य को श्रद्धा उत्साह, स्मृति, एकाग्रता, विवेकख्याति (प्रकृति पुरुष के अलग २ होने का ज्ञान) द्वारा संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। और उस के होने के बाद पर वैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है ।

केषा चित् देवादीनां पूर्वसूत्रे जन्मनैव समाधिमुक्त्वा मनुष्यान् प्रत्येतदुच्यते । समार्यं योग एव परमपुरुषार्थसाधनमिति प्रत्ययः

श्रद्धा । सा चोत्कर्षश्रवणेनोपजायते । तदु-
त्कर्षश्च स्मर्यते ।

अर्थः—श्रद्धावीर्य० इस सूत्र से पहिले के सूत्र में कई एक देव आदिक को जन्म से ही समाधि सिद्ध हुई है, इस बात को कहकर मनुष्य को समाधि की सिद्धि होने का उपाय इस सूत्र में बतलाया है । मेरा जो योग ही परम पुरुषार्थ है, इस प्रकार के दृढ निश्चय को श्रद्धा कहते हैं । यह श्रद्धा योग की श्रेष्ठता के श्रवण करने से उत्पन्न होती है । योग की श्रेष्ठता श्रीकृष्ण ने गीता में कथन कियी है—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन" ।
इति ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! तपस्या करने वाले ज्ञाननिष्ठ और अग्नि होत्र आदिक कर्म करने हारे जो पुरुष हैं उन से योगी श्रेष्ठ है, इस लिये तूं योगी हो ।

उत्तमलोकसाधनत्वात्कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसो ज्योतिष्टोमादिकर्मणश्च योगोऽधिकः । ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गत्वाच्चित्तविश्रान्तिहेतुतया ज्ञानादप्यधिकत्वम् । एवं ज्ञानतो योगे श्रद्धा जायते । तस्यां च श्रद्धायां वासितायां वीर्यमुत्साहो भवति सर्वथा योगं सम्पादयिष्यामीति । एतादृशेनोत्साहेन तदानुष्ठेयानि योगाङ्गानि स्मर्यन्ते ।

अर्थः—योग उत्तम लोक का साधन होने से कृच्छ्र चान्द्रायण आदिक तप से और ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञरूप कर्मों

अधिक है, उसी तरह वह चित्त विश्रान्ति का हेतु होने से ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन है । इस प्रकार से योग की श्रेष्ठता दिखलाने से उस में श्रद्धा उत्पन्न होती है । यह श्रद्धा जब दृढ-बन्ध जाती है तब सर्वथा मुझे योग सिद्ध करना है ही ऐसा उत्साह होता है उत्साह उत्पन्न होने पर अवश्य सेवने योग्य योगाङ्ग का स्मरण होता है ।

तथा च स्मृत्या सम्यगनुष्ठितसमाधेरध्यात्म-प्रसादे सत्यृतम्भरा प्रज्ञोदेति । तत्प्रज्ञापूर्व-कस्तत्प्रज्ञाकारणकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरितरे-षां देवादिभ्योऽर्वाचीनानां मनुष्याणां सि-ध्यति । तां च प्रज्ञां सूत्रयति ।

अर्थः—स्मरण होने पर वह अधिकारी पुरुष श्री सद्गुरु के अनुग्रह से समाधि को सिद्ध करता है । उस की सिद्धि होने पर अध्यात्म प्रसाद अर्थात् भूत भावि सब पदार्थ को एक काल में ग्रहण करने वाली बुद्धि का प्रकाश होता है । अध्यात्मप्रसाद होने से ऋतं भरा (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाश करने हारी) बुद्धि उत्पन्न होती है । ऐसी बुद्धि जिस में कारण है ऐसी असम्प्रज्ञात समाधि देवादि से इतर मनुष्य को सिद्ध होती है । भगवान् पतञ्जलि ऋतम्भरा प्रज्ञा का यों कथन करते हैं—

"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" इति ।

ऋतं सत्यं वस्तुयाथात्म्यं बिभर्ति प्रकाशय-तीति ऋतम्भरा । तत्र तस्मिन्समाध्युत्कर्ष-जन्येऽध्यात्मप्रसादे सतीत्यर्थः । ऋतम्भरोप-पत्तिं सूत्रयति ।

अर्थः—उस निर्विचार समाधि से स्थिर चित्त की जो

बुद्धि होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा की योग्यता को पतञ्जलि भगवान् दिखलाते हैं—

"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्" इति।

अर्थः—जो बुद्धि श्रवण (सुनने) और अनुमान से होती है। उन से भिन्न विशेष विषयवाली समाधिविषयिणी होती है।

सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुष्वयोगिप्रत्यक्षं न प्रवर्तते। आगमानुमानाभ्यां तानि वस्तून्ययोगिभिर्ज्ञायन्ते। ते च शास्त्रानुमानजन्ये प्रज्ञे वस्तुसामान्यमेव गोचरयतः। इदं तु योगिप्रत्यक्षं विशेषवस्तुगोचरत्वादृतम्भरम्। तस्य योगिप्रत्यक्षस्यासम्प्रज्ञातसमाधौ बहिरङ्गत्वसिद्ध्यर्थमुपकारित्वं सूत्रयति।

अर्थः—सूक्ष्म, निकट के पदार्थ, और दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान योगी के सिवाय अन्य को नहीं होता है। शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण से साधारण (योगी नहीं) पुरुष को सामान्य ज्ञान हो सकता है। योगिपुरुषों का प्रत्यक्ष ज्ञान तो वस्तु के विशेष आकार को ग्रहण करता है, इस लिये उस के बुद्धि का ऋतम्भरा होना सम्भव है। यह योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि में बहिरङ्ग साधन है, इस बात को सिद्ध करने के लिये उस का असम्प्रज्ञात समाधि में उपकारकता पतञ्जलि मुनि ने सूत्र से कथन किया है—

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी" इति॥

अर्थः—समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार से अन्य संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

अंसप्रज्ञातसमाधेर्बहिरङ्गसाधनमुक्त्वा तन्निरोधप्रयत्नस्यान्तरङ्गसाधनतां सूत्रयति ।

अर्थः—असंप्रज्ञातसमाधि का बहिरङ्ग साधन कह कर अब उस संस्कार के निरोध करने के लिये प्रयत्न की अन्तरङ्ग साधनता को कहते हैं ।

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" इति ।

अर्थः—जब संस्कारों का समाधि द्वारा निरोध हो जाता तब निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि होती है ।

सोऽयं समाधिः सुषुप्तिसमानः साक्षिचैतन्येनानुभावितुं शक्यः । न चासौ सर्वधीवृत्तिराहित्यात्सुषुप्तिरेवेति शङ्कनीयम् । मनःस्वरूपसदसत्त्वाभ्यां विशेषात् । तदुक्तं गौडपादाचार्यैः ।

अर्थः—इस सुषुप्ति के समान असंप्रज्ञात समाधि का अनुभव साक्षिचैतन्य कर सकता है । सब वृत्तियों का निरोध जैसे सुषुप्ति में होता है, उसी भान्ति असंप्रज्ञात समाधि में भी होता है । इस लिये वह सुषुप्ति अवस्था है ऐसी शङ्का यहां न करो । क्योंकि सुषुप्ति में मन के स्वरूप का लय हो जाता है, और इस समाधि में तो मन रहता है, इतना सुषुप्ति और समाधि में फरक है ।

यह बात गौडपादाचार्य ने भी कथन किया है—

"निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्त्यन्यो न तत्समः ॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।

तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः" इति॥
माण्डूक्यशाखायामपि श्रूयते ।

अर्थः—बुद्धिमान् पुरुष का निग्रह किये हुए निर्विकल्प मन की अवस्था सुषुप्ति के समान नहीं होती है किन्तु उस से विलक्षण होती है। क्योंकि सुषुप्ति में मन लय को प्राप्त होता है, और निग्रह किया हुआ मन लय को नहीं प्राप्त होता। वह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाशरूप निर्भय ब्रह्म है।

माण्डूक्यशाखा में भी इसी भांति सुन पडता है—

"द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते" इति॥

अर्थः—प्राज्ञ (सुषुप्ति का अभिमानी) और तुरीय अवस्था में स्थित पुरुष को द्वैत की अप्रतीति समान है, तथापि प्राज्ञ बीजरूप निद्रा से युक्त है, और तुरीय में निद्रा नहीं, इतना ही प्राज्ञ और तुरीय में अन्तर है विश्व और तैजस, स्वप्न और निद्रायुक्त हैं । और प्राज्ञ स्वप्न रहित केवल निद्रायुक्त है । तुरीय अवस्था में निश्चयवाला पुरुष तो निद्रा और स्वप्न इन दोनों को देखता नहीं। अन्यथा ग्रहण करने वाले को स्वप्न है, और तत्त्व को जो नहीं जानता उस को निद्रा है । जब आत्मवस्तु का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण क्षय को प्राप्त होते है, तब पुरुष तुरीय पद को अनुभव करता है ।

आद्यौ विश्वतैजसौ । अद्वैतस्य वस्तुनोऽन्य-

थाग्रहणं नाम द्वैतरूपेण प्रतिभासः । स च विश्वतैजसयोर्वर्तमानः स्वप्न इत्युच्यते । तत्त्वस्याज्ञानं निद्रा । सा च विश्वतैजसप्राज्ञेषु वर्तते । तयोः स्वप्ननिद्रयोः स्वरूपभूतयोर्विपर्यासो मिथ्याज्ञानम् । तस्मिन्विद्यया क्षीणे सति तुरीयं पदमद्वैतं वस्त्वश्नुते ।

अर्थः—अद्वैत आत्मवस्तु का अन्यथा ग्रहण अर्थात् द्वैत से प्रतीति समझनी इस द्वैत की प्रतीति विश्व को जाग्रत् अवस्था में है, तथा तैजस को स्वप्न अवस्था में है। इस लिये दोनों अवस्था को यहां स्वप्न संज्ञा से कहा है। आत्मतत्त्व का अज्ञान निद्रा है । इस जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का अभिमानी विश्व तैजस, और प्राज्ञ इन तीनों में है । जब यह स्वप्न और निद्रा का विपर्यास मिथ्याज्ञान विद्या करके क्षय को प्राप्त होता है, तब अर्थात् आत्मवस्तु का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण क्षय को प्राप्त होते हैं। तब तुरीय अर्थात् अद्वैत पद का पुरुष अनुभव करता है।

नन्वस्त्वेवमसंप्रज्ञातसमाधिसुषुप्त्योर्महान् भेदः । तत्र तत्त्वविद्दृष्चोर्दर्शनसाधनत्वेन समाध्यपेक्षायामपि दृष्टतत्त्वस्य जीवन्मुक्तये नास्ति तदपेक्षा । रागद्वेषादिक्लेशबन्धस्य सुषुप्त्याऽपि निवृत्तेः ।

अर्थः—शङ्का—जिस को तत्त्वदर्शन की इच्छा है, उस को समाधि या जो आत्मसाक्षात्कार का साधन है, उस की अपेक्षा भले हो, परन्तु जिस को विविदिषा सन्यास में ही आत्मज्ञान हो चुका है, उस को जीवन्मुक्ति के लिये समाधि का

कोई प्रयोजन नहीं दीख पड़ता है । क्योंकि राग द्वेष आदि क्लेश रूप बन्धकी निवृत्ति तो सुषुप्ति जो अनायास से जीव को प्राप्त होती है, उस के द्वारा भी होता है ।

मैवम् । किं प्रतिदिनं स्वतःप्राप्ता कादाचित्की सुषुप्तिर्बन्धनिवर्त्तिका, किं वाऽभ्यासेन निरन्तरवर्त्तिनी। आद्येऽपि किं सुषुप्तिकालीनस्य क्लेशबन्धस्य निवृत्तिः किं वा कालान्तरवर्त्तिनः । नाऽऽद्यः । अप्रसक्तेः । नहि मूढानामपि सुषुप्तौ क्लेशबन्धः । अन्यथाऽऽयासः प्रसज्येत । न द्वितीयः । असम्भवात् । न अन्यकालीनया सुषुप्त्या कालान्तरवर्त्तिनः क्लेशस्य क्षयः सम्भवति अन्यथा मूढानामपि जागरणस्वप्नयोः क्लेशस्य चयः प्रसज्येत । नापि सुषुप्तौ नैरन्तर्यमभ्यसितुं शक्यम् । तस्याः कर्मक्षयनिमित्तत्वात् । तस्मात्तत्त्वविदोऽपि क्लेशक्षयायास्त्येवासंप्रज्ञातसमाध्यपेक्षा । तस्य च समाधेर्गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः । बालमूढादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया । तन्द्रामिथ्याहङ्काररहित्यं तृतीया । सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी । तदेतद्भूमिचतुष्टयमभिप्रेत्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । अत्र चोपरमे धृतिगृहीता बुद्धिः साधनं महदहङ्कारमनोवागादीनां स्वत एव तीव्रवेगेन बहिः प्रवहतां कूलङ्कषाया नद्या इव निरोधे धैर्यं महदपेक्षितम् । बुद्धिर्वि-

वेकः भूमिर्जिता न वेति परीक्षा । जितायां उत्तरभूम्युपक्रमः । अजितायां तु सैव पुनरभ्यसनीयेति तदा तदा विविच्यात् । आत्मसंस्थमित्यादिना सार्द्धश्लोकेन चतुर्थभूम्यभ्यासोऽपि स्मृतः । गौडपादाचार्या आहुः ।

अर्थः—समाधान—प्रतिदिन स्वयं अल्पकालपर्यन्त जो सुषुप्ति होती है, वह क्लेशरूप बन्ध का निवर्त्तक है, ऐसा तुम कहते हो ? या अभ्यास से सदा रहनेवाली सुषुप्ति को बन्ध निवर्त्तक कहते हो ? स्वल्प काल हुई सुषुप्ति को क्लेश बन्ध निवर्तक कहते हो तो वह, सुषुप्ति समय के क्लेश को हटाता है ? या अन्य समय के क्लेश को भी हटाता है ? जो कहो कि सुषुप्ति समय के क्लेश को हटाता है, तो वह वात सम्भव नहीं । क्योंकि उस समय क्लेश का प्रसङ्ग ही नहीं, तो किस को हटाता है ? मूढ पुरुष को सुषुप्ति बन्ध नहीं होता है। जो बन्ध होवे तो, उस को हटाने के लिये प्रयत्न करना पडे । जो कहो कि वहां अन्य अवस्था के क्लेश को टालता है, तो सो सम्भव नहीं क्योकि अन्य काल में रही हुई सुषुप्ति से कालान्तर में रहे क्लेश की निवृत्ति सम्भव नहीं । जो वैसा हुआ हो तो मूढ पुरुषों का भी जाग्रत् और स्वप्न के क्लेश का क्षय हो जावे । सदा सुषुप्ति की अनुवृत्ति रखने का अभ्यास नहीं बन सकता । क्योंकि सुषुप्ति का कारण कर्मक्षय है । इस लिये तत्त्वज्ञ पुरुष को भी क्लेश का क्षय करने के लिये असंप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा है । जैसे गाय, भैंस आदिक पशुओं को स्वतः सिद्ध वाणी निरोध है, उस प्रकार का वाणी निरोध होना यह सम्प्रज्ञात समाधि की पहिली भूमिका है । बालक और मूढ के समान मन रहित होना यह

दूसरी भूमिका है । तन्द्रा में स्थित पुरुष के समान अहङ्कार रहित होना यह तीसरी भूमिका जानना । सुषुप्ति के समान महतत्त्व (बुद्धि) रहित पन यह चौथी भूमिका है । इन चार भूमिका ओं को क्रमशः अभ्यास करने के अभिप्राय से 'धीरे २ उपराम को प्राप्त हो ऐसा कहा है । धीरे २ उपराम की प्राप्ति में सात्विक धृति द्वारा वशीकृत बुद्धि कारण है। जैसे दो ओर वहती महा नदी के वेग के निरोध के लिये बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है, उसी प्रकार महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन और वाणी, आदिक इन्द्रियां जो तीव्रवेग से वाह्य विषयों में वहा करती हैं, उन के निरोध में भी बडी धीरता की अपेक्षा है । 'शनैः शनैः' इस पूर्वोक्त भगवद्गीता के श्लोक में बुद्धि शब्द का प्रयोग विवेक अर्थ में किया है ।

प्रथम भूमिका का जय हुआ है या नहीं हुआ इस की परीक्षा कर, जो जय हुआ जानो तो दूसरी भूमिका का आरम्भ करो । और जो प्रथम भूमिका का जय न हुआ हो तो, उसी भूमिका के जय के लिये वार २ अभ्यास करो ।

उपर दिया हुआ 'शनैः शनैः' श्लोकार्द्ध हैं । इस श्लोक का आधा इस भान्ति है "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्"। आत्मा में मन स्थिर कर किसी भी विषय का चिन्तन न करे। यह उत्तरार्द्ध चौथी भूमिका का स्वरूप दिखलाता है।

गौडपादाचार्य इस भांति कहते हैं—

"उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामोलयस्तथा ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्॥
नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरं चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अलिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा" इति॥

अर्थः—काम और भोग में विक्षिप्त मन का उपाय द्वारा निग्रह करे। उसी भांति सुषुप्ति में यद्यपि चित्त आयास रहित है तथापि उस का उस में से निग्रह करो। क्योंकि जैसे काम अनर्थ का हेतु है। उसी प्रकार लय भी अनर्थ का ही हेतु है। सर्व द्वैत प्रपञ्च दुःख रूप है, इस भांति स्मरण कर विषयभोग से मन को रोके। सर्व जन्मरहित ब्रह्मरूप है, ऐसा स्मरण प्राप्त कर सम्पूर्ण द्वैत को योगी नहीं देखता है। सुषुप्ति में लय को प्राप्त हुए चित्त को फिर शान्त करे। कषाय युक्त चित्त को जानना और समता को प्राप्त चित्त को चलायमान न करे। समाधि से जो सुख होता है उस में रागवान् न होवे प्रत्युत विवेक बुद्धि से असङ्ग होवे। निश्चल और बाहर न निकले चित्त को प्रयत्न से आत्मा के साथ एक रूपता को प्राप्त करे। जब चित्त फिर से लय को प्राप्त न हो, तथा विक्षेप को भी न प्राप्त हो और कषाय और रस के आस्वाद से रहित हो तब वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

लयविक्षेपकषायसमप्राप्तयश्चतस्रश्चित्तस्यावस्थाः। तत्र निरुद्ध्यमानं चित्तं विषयेभ्यो-व्यावृत्तं सत्पूर्वाभ्यासवशाद्यदि लयाय सुषुप्तये ऽभिमुखं भवेत्तदानीमुत्थापनप्रयत्नेन ल-

यकारणनिवारणेन वा चित्तं सम्यक् प्रबोधयेत् । लयहेतवोनिद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाः । अतएवाऽऽहुः ।

अर्थः—लय, विक्षेप, कषाय, और सम प्राप्ति ये चार चित्त की अवस्थायें हैं। तहां निरुध्यमान चित्त विषयों से अलग जो पूर्व के अभ्यास वशात् सुषुप्ति के सन्मुख हो तो, उस को उत्थापन के प्रयत्न द्वारा या लय के कारणों को निवारण द्वारा भली भांति जाग्रत् करे। पूरी न हुई निद्रा, अजीर्ण, बहुभोजन, और परिश्रम ये चित्त को लय होने का कारण है। अतएव कहा है।

"समापय्य निद्रां सजीर्णाल्पभोजी श्रमत्याज्यबाधे विविक्ते प्रदेशे ।
सदाऽऽसीत निस्तृष्ण एवा ऽप्रयत्नोऽथवा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात्" ॥ इति ।

अर्थः—सहज में जो पच जावे इतना भोजकरने वाला और श्रम को त्यागने वाला पुरुष परिमित निद्रा कर तृष्णा रहित और प्रयत्नरहित हो एकान्त देश में सदा रहे, या अभ्यास करता हो तो उस भांति प्राणायाम करे।

लयादुत्थापितं चित्तं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशाद्यदि कामभोगयोर्विक्षिप्यते तदा विवेकिजनप्रसिद्धभोग्यवस्तुगतसर्वदुःखानुस्मरणेन शास्त्रप्रसिद्धजन्मादिरहिताद्वितीयब्रह्मतत्त्वाऽनुस्मरणपूर्वकेन भोग्यवस्त्वदर्शनेन च पुनःपुनर्विक्षेपाच्चित्तं शमयेत् । कषायस्तीव्रचित्तदोषस्तीव्ररागद्वेषादिवासनाः तयाग्रस्तं चित्तं कदाचित्समाहितमिव लयविक्षे-

परहितं दुःखैकाग्रमवतिष्ठते तादृशं तच्चित्तं विजानीयात् । समाहितच्चित्ताद्विवेकेनावगच्छेत् । असमाहितमेतदित्यवगम्य लयाविक्षेपवत्कषायस्य प्रतीकारं कुर्यात् । समशब्देन ब्रह्माभिधीयते ।

अर्थः—लय में से उठा हुआ चित्त प्रतिदिन जाग्रत् अवस्था के अभ्यास के कारण जो काम, और भोग मे विक्षेप को प्राप्त हो तो विवेकी पुरुष, साक्षात् अनुभव किये भोग्य पदार्थों में रहे दुःखों का वार २ स्मरण करने द्वारा और शास्त्र प्रसिद्ध, जन्मादिविकार रहित अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का स्मरण पूर्वक भोग्य वस्तु प्रति अलक्ष करने द्वारा, विक्षेप से चित्त को वार २ शमन करे । कषाय, तीव्र राग द्वेष वासना रूप चित्त गत महान् दोष है । इस तीव्र वासना के अधीन हुए चित्त को किसी समय जाने समाधि में स्थित हो तैसे दुःख में ही एकाग्र हो कर रहे । अतएव उस प्रकार के चित्त को समाहित से अलग हुआ जाने या यह चित्त समाहित नहीं है । परन्तु तीव्रवासना के वश दुःख में एकाग्र होता है । ऐसा समझ कर लय और विक्षेप के समान कषाय को भी निरोध का उपाय करे । 'सम' शब्द ब्रह्म का वाचक है ।

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" इति स्मृतेः लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते । तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत् । सूक्ष्मया बुद्ध्या लयकषायप्राप्ती विविच्य तस्यां सम-

प्राप्नावतिप्रयत्नेन चिरं स्थापयेत् । स्थापिते तस्मिन्ब्रह्मस्वरूपभूते परमानन्दः सम्यगाविर्भवति । तथा चोदाहृतम् ।

अर्थः—"सब प्राणियों में स्थित ब्रह्मस्वरूप ईश्वर को ऐसा भगवद्गीता में भी कहा है ।

लय विक्षेप और कषाय दूर कर पीछे चित्त ब्रह्मरूप हो कर रहता है। तैसे चित्त को कषाय और लय की भ्रान्ति से चलायमान न करे। सूक्ष्म बुद्धि से, लय और कषाय के स्वरूप को जान कर ब्रह्म में चित्त को अतिशय प्रयत्न से चिरकाल पर्य्यन्त स्थापन करे । ऐसे स्थापन करने पर ब्रह्मानन्द प्रकट होता है। भगवद्गीता में कहा है—

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्"

श्रुतिश्च भवति ।

अर्थः—जो आत्यन्तिक सुख है वह बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है। श्रुति भी यों कहती है—

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसोनिवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते" इति ॥

अर्थः—समाधि द्वारा रागादि दोष रहित हुए और आत्मा में स्थापित चित्त में जो सुख का उदय होता है, वह सुख तब वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता है । उस सुख को केवल अन्तःकरण ही ग्रहण करता हैं ।

ननु समाध्याविर्भूतब्रह्मानन्दस्य बुद्धिग्राह्यत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यामभिहितम् । आचार्यैस्तु "ना-

ऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र" इति बुद्धिग्राह्यत्वं प्रतिषिध्यते ।

अर्थः—शङ्का—पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति में समाधि द्वारा आविर्भाव को प्राप्त हुए ब्रह्म सुख का बुद्धि से ग्रहण होता है, ऐसा कहा है, और गौडपादाचार्य तो (नास्वादं) समाधि में सुख का स्वाद न लेवो इस वाक्य से समाधिकाल का ब्रह्मसुख का बुद्धि से ग्रहण नहीं होता, ऐसा कहते हैं इस लिये आचार्य के वचन और श्रुति के वचन में परस्पर विरोध आता है ।

नायं दोषः । तत्र निरोधसुखं बुद्धिग्राह्यं न प्रतिषिध्यते, किन्तु समाधिविरोधिनो व्युत्थानरूपस्य परामर्शस्यैव प्रतिषेधात् । यथा निदाघदिवसेषु मध्याह्ने जाह्नवीह्रदनिमग्नेनानुभूयमानमपि शैत्यसुखं तदा वक्तुमशक्यं पश्चादुन्मग्नेनाभिधीयते । यथा वा सुषुप्तावविद्यावृत्तिभिरतिसूक्ष्माभिरनुभूयमानमपि स्वरूपसुखं तदानीं सविकल्पकेनान्तःकरणवृत्तिज्ञानेन ग्रहीतुमशक्यम् । प्रबोधकाले तु स्मृत्या विस्पष्टं परामृश्यते । तथा समाधौ वृत्तिरहितेन संस्कारमात्रशेषतया सूक्ष्मेण वा चित्तेन सुखानुभवः श्रुतिस्मृत्योर्विवक्षितः । महदिदं समाधिसुखमन्वभूवमित्येतादृशो व्युत्थितस्य सविकल्पकः परामर्शोऽत्राऽऽस्वादनम् । तदेवाऽऽचार्यैः प्रतिषिध्यते । तमेव स्वाभिप्रायं प्रकटयितुं निःसङ्गः प्रज्ञया भवेदित्युक्तम् । प्रकृष्टं सविकल्पक

ज्ञानं प्रज्ञा तया सह सङ्गं परित्यजेत् । यद्वा पूर्वोक्ता धृतिगृहीता बुद्धिः प्रज्ञा । तदात्मकेन साधनेन सुखास्वादनतद्वर्णनादिरूपामासक्तिं वर्जयेत् ।

अर्थः—समाधान–आचार्य्य के वचन का तात्पर्य्य समाधि सुख बुद्धि ग्राह्य नहीं, ऐसा नहीं, परन्तु समाधि में से जाग्रत होने पर समाधि सुख का स्मरण जो समाधि का विरोधी है, और जिस को रस का आस्वाद कहते हैं, उस का निषेध करता है । जैसे उष्ण काल के दिनों में मध्याह्न समय गंगा के जल में निमग्न हुआ पुरुष उस समय शीतलता का सुख अनुभव करता है, तथापि मुखं से नहीं कह सकता । परन्तु बाहर आने पर कहता है । और सुषुप्ति अवस्था में स्थित पुरुष अति सूक्ष्म अविद्यारूप वृत्ति से स्वरूप सुखको अनुभव करता है। तथापि वह सविकल्प अन्तःकरण की वृत्ति से ग्रहण नहीं हो सकता है । क्योंकि उस समय वृत्तियां अविद्यामें लय को प्राप्त होती हैं । परन्तु जागने पर उस सुख का स्मरण होता है। उसी प्रकार समाधि में वृत्तिरहित या केवल चित्त का संस्कारमात्र शेष होने से अत्यन्त सूक्ष्म चित्त से सुख का अनुभव होता है, ऐसा श्रुति, स्मृति कहती । और आचार्य्य तो, समाधि में से जाग्रत होने पर 'आह !. बहुत समाधि के सुख का अनुभव किया है' इस प्रकार का स्मरण जिस को योग शास्त्र में रस आस्वाद कहते हैं, उस का निषेध करते हैं । इसी अभिप्राय को जतलाने के लिये 'नास्वादयेत्' इस पाद के बाद 'निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' (धीरता के साथ वशीकृत बुद्धि से समाधि सुख का स्मरण और वाणी से उस का अन्य के आगे कथन इस

रूप आसक्ति का त्याग करे) ऐसा पाठ पढा है । पूर्वोक्त धै-र्यद्वारा वश कियी हुई बुद्धिरूप साधन से समाधि सुख का स्मरण और उस का अन्य के आगे प्रकट करना रूप आसक्ति या सविकल्प ज्ञान के साथ की आसक्ति का त्याग करे ।

समाधौ ब्रह्मानन्दे निमग्नं चित्तं यदि कदाचित्सुखास्वादनाय वा शीतवातमशकाद्युपद्रवेण वा निश्चरेत्तदा निश्चरत्तच्चित्तं पुनर्निश्चलं यथा भवति तथा परब्रह्मणा सहैकीकुर्यात् । तत्र च निरोधप्रयत्न एव साधनम् । एकीभाव एव "यदा न लीयते" इत्यनेन स्पष्टीक्रियते । "अलिङ्गन मनाभास" मित्याभ्यां पदाभ्यां कषायसुखास्वादौ प्रतिषिध्येते ।

अर्थः—समाधि दशा में ब्रह्मानन्द में मग्न होने पर चित्त, जो किसी समय विषय सुख के स्वाद लेने के लिये, या शीत पवन, या मच्छर आदिक कों के उपद्रव के कारण निकले तो उस चित्त को पुनः प्रयत्न से परमात्मा में एक रूप करे । एक रूप करने मे साधन निरोधरूप प्रयत्न है । 'यदा न लीयते' इस वाक्य से एकीभाव स्पष्ट किया है । अलिङ्गनमनाभासं इस वाक्य से कषाय, और सुखास्वाद का निषेध किया है ।

लयविक्षेपकषायसुखास्वादेभ्यो रहितं चित्तमविघ्नेन ब्रह्मण्यवस्थितं भवति । एतदेवाभिप्रेत्य कठवल्लीषु पठ्यते—

अर्थः—इस प्रकार पूर्वोक्त लय, विक्षेप, कषाय, और सुखास्वाद से मुक्त हुआ चित्त, निर्विघ्नता से, ब्रह्म में स्थिरता

को प्राप्त होता है ।

इसी अभिप्राय से कठवल्ली उपनिषद् की श्रुति में कहा है-
"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ" इति ।
उपेक्षितो योग इन्द्रियवृत्तीनां प्रभवं करोति ।
अनुष्ठितस्तु तासां लयहेतुः ।

अर्थः—जब मनुष्य के इन्द्रियरूप छिद्रों से निकलनेवाली बाह्यवृत्ति और भीतर अन्तःकरणों में ठहरनेवाली बुद्धिरूप वृत्ति सब उपद्रवों से रहित शान्त स्थित होती है, किसी प्रकार अपने नियतस्वभाव से विरुद्ध नहीं होती तब जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी के लिये मुक्ति का द्वार खुल गया जानो। जब योगाभ्यास से सब इन्द्रिय दृढरूप से स्थिर हुए जीत लिये जाते हैं, तब योगसिद्धि होने का अनुमान निश्चित हो जाता है । योग की वृत्ति में नवीन शुद्ध संस्कारों की प्रकटता और पहिले दुष्ट संस्कारों का तिरोभाव हो जाता है, तब स्वरूप में स्थित प्रमाद रहित द्रष्टा यथार्थरूप से सब को जानता है। उपेक्षित योग इन्द्रियों की वृत्तियों को उत्पन्न करता है, तथा सम्यक् साधित योग इन्द्रियों की वृत्तियों का लय करता है।

अतएव योगस्य स्वरूपलक्षणं सूत्रयति "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति । वृत्तीनामानन्त्यान्निरोधोऽशक्य इति शङ्कां वारयितुमियत्तां सूत्रयति "वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः" इति । रागद्वेषादिक्लेशरूपा आ-

सुरवृत्तयः क्लिष्टाः । रागादिरहिता दैववृत्तयोऽक्लिष्टाः । यद्यपि पञ्चस्वेव क्लिष्टानामक्लिष्टानां चान्तर्भावस्तथाऽपि क्लिष्टा एव निरोद्धव्या इति मन्दबुद्धिं वारयितुं ताभिः सहाक्लिष्टा अप्युदाहृताः। नामधेयलक्षणाभ्यां वृत्तिं विशेषयितुं सूत्रषट्कमाह ।

अर्थः—इस लिये भगवान् पतञ्जली योग का लक्षण इस भांति कहते हैं । ' चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। चित्त की वृत्तियां तो अनेक है, इस लिये उन सब का निरोध क्यों कर हो सकता ? ऐसी शङ्का को दूर करने के लिये सूत्र—' क्लेश रूप और अक्लेश रूप पांच वृत्तियां है ' राग द्वेष आदिक क्लेश के कारणरूप आसुरी वृत्तियों को क्लेशरूप जानना और रागादिक दोष रहित वृत्तियों को अक्लिष्ट जानना । इन सब वृत्तियों का पांच वृत्तियों में ही अन्तर्भाव होता है । इन में से क्लिष्टवृत्तियां ही निरोध करने योग्य हैं, ऐसी मन्दबुद्धियों की शङ्का को दूर करने के लिये क्लिष्ट वृत्तियों के साथ अक्लिष्ट वृत्तियों का ग्रहण किया है । अर्थात् दोनों तरह की वृत्तियों को निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करने की इच्छावाला पुरुष अवश्य निरोध करे । वृत्तियों के नाम और लक्षण से वृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले भगवान् पतञ्जलि के छः सूत्र है ।

"प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाण्यानि । विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योविकल्पः।अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।

अनुभूतविषयस्यासंप्रमोषः स्मृतिः" इति। वस्त्वभावः प्रतीयते यस्मिंस्तमस्यावरके सति तत्तमोऽभावप्रत्ययः। तमोगुणं विषयं कुर्वती वृत्तिर्निद्रेत्युच्यते। अनुभूतविषयस्यासंप्रमोषस्तदनुभवजन्यमनुसन्धानम्। पञ्चधीवृत्तिनिरोधसाधनं सूत्रयति।

अर्थः—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति ये पांच तरह की वृत्तियां हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण वृत्तियां हैं। अपने मुख्य अर्थ में न ठहरने वाला अर्थात् उत्तर काल में बाध को प्राप्त होनेवाला जो मिथ्याज्ञान उस को 'विपर्यय' कहते हैं। शब्द मात्र से जिस का ज्ञान होता है, परन्तु शब्द के अनुसार अर्थ नहीं, उस को 'विकल्प' कहते हैं। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था की वृत्तियों के अभाव का कारण तमोगुण जिस का विषय है, ऐसी वृत्ति को निद्रा कहते हैं। अनुभव किये हुए विषय के संस्कार के उद्भव द्वारा मानसिक ज्ञान का होना 'स्मृति' है। इन पांच प्रकार की वृत्तियों के निरोध के साधन को निरूपण करने हारा सूत्र इस भांति है-

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" इति। यथा तीव्रवेगोपेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन निवार्य कुल्याप्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक् प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य्य तस्याः समाध्यभ्यासेन प्रशान्तः प्रवाहः सम्पाद्यते।

अर्थः—'अभ्यास और वैराग्य द्वारा उन वृत्तियों का निरोध होता है। जैसे तीव्रवेगवाली नदी के प्रवाह को पुल

बान्धकर के रोक दिया जाता है और उस नदी में नहर खोद-कर उस का एक प्रवाह खेत के ओर किया जाता है, उसी भांति वैराग्य से चित्तरूप नदी के विषय की ओर जाने वाले प्रवाह को रोक कर समाधि के अभ्यास द्वारा उस का एक शान्त प्र-वाह किया जा सकता है ।

मन्त्रजपदेवताध्यानादीनां क्रियारूपत्वेना-ऽऽवृत्तिलक्षणोऽभ्यासः सम्पाद्यते, सर्वव्या-पारोपरमरूपस्य समाधेः को नामाभ्यास इति शङ्कां वारयितुं सूत्रयति—

अर्थः—शङ्का—मन्त्रजप देवताध्यानादि क्रिया रूप होने से, उस का आवृत्तिरूप अभ्यास सम्भव है, परन्तु सब व्या-पारों का उपरम रूप समाधि का अभ्यास क्योंकर सम्भव हो सकता ?

"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" इति । स्थिति-र्नैश्चल्यं निरोधः । यत्नोमानस उत्साहः स्व-तएव बाहिष्प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरो-धयामीत्येवंविध उत्साह आवर्त्यमानोऽभ्या-स इत्युच्यते । अयमभ्यास इदानीं प्रवृत्तः स्वयमदृढः सन्ननादिप्रवृत्ता व्युत्थानवासनाः कथमभिभवेदित्याशङ्कामपवदितुं सूत्रयति ।

अर्थः—समाधान—(शङ्का का उत्तररूप सूत्र) चित्त की एकाग्रता के लिये वार २ उत्साह पूर्वक प्रयत्न करने का नाम अभ्यास है । चित्त में व्युत्थान संस्कार अनादिकाल से प्रवृत्त होने से अत्यन्त सुदृढ है । उस का वर्तमान काल में चित्त के निरोध के लिये एक जन्म का अभ्यास क्या कर सकता है ?

इस शङ्का को दूर करने के लिये अगला सूत्र है—

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ-भूमिः" इति । लोका हि मूढस्य वचनमुदाहरन्ति-विद्यमानाश्चत्वार एव वेदास्तानध्येतुं गतस्य माणवकस्य पञ्चदिवसा अतीता अद्याप्यसौ नागत इति । तादृश एवायं योगी तदा स्याद्यदा दिवसैर्मासैर्वा योगसिद्धिं वाञ्छेत्तस्मात्सम्वत्सरैर्जन्मभिर्वा दीर्घकालं योग आसेवितव्यः । तथा च स्मर्यते।

अर्थः—वह अभ्यास चिरकाल निरन्तर आदर पूर्वक, सेवन करने पर, दृढ होता है । इस प्रसङ्ग में लोग किसी मूढ का उदाहरण देते हैं कि–किसी एक मूढ ने अपने पुत्र को वेद पढने के लिये भेजा । जब उस लडके को गये पांच दिन बीते तब उस पुरुष ने विचार किया कि वेद तो केवल चार ही है, और मेरे पुत्र को तो गये पांच दिन बीत गये तो भी वह आज तक पढ क्यों नहीं आया ? उसी भांति योगी अमुक दिवस से, या अमुक मास से, योगसिद्धि की आशा रखता हो तो वह भी ऊपर के उदाहरण में दिये हुए मूढ पुरुष के समान है । अत एव अनेक बहुत मास पर्यन्त, बहुत वर्षों तक, और बहुत जन्म पर्यन्त भी जब तक फल की प्रतीति न हो तब तक योग सेवन करे । कायर न हो । इस लिये श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने भी कहा है ।

"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयाति परां गतिम्" इति ।

चिरमासेव्यमानोऽपि यदि विच्छिद्यविच्छि-

द्य सेव्येत तर्ह्युत्पद्यमानानां योगसंस्कारा-णां समनन्तरभाविभिर्व्युच्छेदकालीनैर्व्युत्था-नसंस्कारैरभिभवे सति खण्डनकारोक्तन्याय आपतेत्-"अग्रेधावन्पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् किमालम्बेनेति"। सत्कार आदरः। अनादरेण सेव्यमाने वसिष्ठोक्तन्याय आपतेत् ।

अर्थः—अनेक जन्मों के अभ्यास से सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष परा गति को पाता है। योग का सेवन चिरकाल अर्थात् बहुत मास या वर्षों तक परन्तु एक दिन करके पांच दिन न करे इस तरह बहुत समय तक भी योग करने से कोई फल नहीं होगा, क्योंकि बीच २ में जितना समय खाली पड जाता, उतने समय में उद्भव हुआ व्युत्थान संस्कार से निरोध संस्कार का अभिभव होता है । उस से भूलने का स्वभाव वाले विद्यार्थी के समान आगे दौडता है, और पीछे को भूलता जाता है, वह क्या फल पा सकता है ? यह खण्डनकार का कहा हुआ न्याय (प्रमाण बना) । अत एव निरन्तर योग का सेवन करना चाहिये और उस का आदर पूर्वक सेवन करना चाहिये । अनादर पूर्वक सेवन करने से वसिष्ठ मुनि का कहा हुआ न्याय के समान होगा ।

"अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतश्चेत् क्षीणवासनम् ।
दूरंगतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा" इति ॥

अर्थः—जैसे कथा सुनने वाले का चित्त कथा को छोड कर विषयान्तर में भटकता हो तो कथा सुनने पर भी कुछ भी नहीं सुना उसी तरह जो चित्त वासना रहित हुआ है, तो वह आ-

वश्यक व्यवहार करता हुआ भी वह कुछ भी नहीं करता है।

अनादरो लयविक्षेपकषायसुखास्वादनानामपरिहारः। तस्मादादरेण सेवितव्यः। दीर्घकालादिनैरविध्येन सेवितस्य समाधेर्दृढभूमित्वं नाम विषयसुखवासनया दुःखवासनया वा चालयितुमशक्यत्वम्। तच्च भगवता दर्शितम्।

अर्थः—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद जो समाधि में विघ्नरूप है, उन में से कोई भी समाधि समय प्राप्त हो तो उस को रोकने के लिये प्रयत्न न करना, यह योगी के लिये अनादर है। इस लिये उन का निवारणरूप आदर से योग सेवने योग्य है। चिरकाल तक निरन्तर आदर पूर्वक सेवन किया हुआ या दृढता को प्राप्त होता है। ऐसा पहिले कहा गया है। तहां विषय सुख की वासना से या दुःखवासना से समाधि में से दृढता जानो। यह बात भगवद्गीता में श्रीकृष्ण जी ने कथन करी है।

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते"
इति॥

अपरलाभस्यानाधिक्यं कचवृत्तान्तेन वसिष्ठ उदाजहार।

अर्थः—वृत्ति के निरोध अवस्था को पहुंचा योगी उस से अधिक किसी लाभ को नहीं मानता, और जिस अवस्था में स्थिर होके बडे शस्त्राघत आदिक दुःखों से भी डोलता नहीं।

समाधि की अपेक्षा अन्यलाभ बढ कर नहीं, यह बात श्रीवसिष्ठ भगवान् ने कच के इतिहास में स्पष्ट कथन कियी है।

"कचः कदाचिदुत्थाय समाधेः प्रीतमानसः ।
एकान्ते समुवाचेदमेवं गद्गदया गिरा ॥
किं करोमि क गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥
सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
इत आत्मा तथेहाऽऽत्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि ।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं जगत् ॥
स्फारब्रह्मामलाम्भोधिफेनाः सर्वे कुलाचलाः ।
चिदादित्यमहातेजोमृगतृष्णा जगच्छ्रियः" इति ।
गुरुदुःखेनाप्यविचालित्वं शिखिध्वजस्य व-
त्सरत्रयसमाधिवृत्तान्तेनोदाजहार ।

अर्थः—"एक समय कच समाधि में से उठ कर प्रसन्न-चित्त से एकान्त में गद्‌गदवाणी से इस भांति बोला कि—जैसे महाप्रलय समय सारा जगत् जल से पूर्ण हो जाता, उसी तरह यहां आत्मा द्वारा पूर्ण है, इस लियें मैं क्या करूं ? कहां जाउं ? किसे ग्रहण करूं ? किसे छोड़ूं ? अर्थात् एक ही वस्तु में ये सब सम्भव नहीं । देह के बाहर, भीतर, उपर, नीचे, सब ओर, सब जगह, आत्मा ही है । विना आत्मा के कोई जगह नहीं । जहां मैं न होहूं ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं तैसे जो मुझे में है नहीं, ऐसी कोई वस्तु ही नही, इस लिये किस अन्य वस्तु की मैं इच्छा करूं ? सब चैतन्यमय है । निरवधि ब्रह्मरूप समुद्र के फेन की राशि (ढेर) रूप सब पर्वत है, और चैतन्य सूर्य के महान् तेज में यह जगत् रचनारूप मृगतृष्णा है" ।

महा दुःख से भी योगी चलायमान नहीं होता यह शिखि-

ध्वज की तीन वर्ष की समाधि के वृत्तान्त से स्पष्ट है।

"निर्विकल्पसमाधिस्थं तत्रापश्यन्महीपतिम्।
राजानं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात्॥
इति संचिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा।
भूयोभूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम्॥
न चचाल तदा राम ? यदा नादेन तेन सः।
भूयोभूयः कृतेनापि तदा सा तं व्यचालयत्॥
चालितः पातितोऽप्येष तदा न बुबुधे बुधः" इति।

प्रल्हादवृत्तान्तेनाप्येतदेवोदाजहार।

अर्थः—चूडाला नामक स्त्री ने अपने पति शिखिध्वज को निर्विकल्प समाधि में स्थित देखकर विचार किया कि राजा जो परम पद में लीन हुआ है, उस को उस में से जगाऊं तो ठीक है, ऐसा विचार कर उस ने सब वनवासियों को भय देने वाला वार २ सिंह का सा गर्जा। तो भी वह समाधि में से न उठा, तब उस को खूब हिलाया, और नीचे गिराया, तब भी वह नहीं जगा।

प्रह्लाद की कथा से भी यही बात सूचित होती है।

"इति संचिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा।
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाऽऽबभौ।
पञ्चवर्षसहस्राणि पीनाङ्गोऽतिष्ठदेकदृक्॥
महात्मन्संप्रबुध्यस्वेत्येवं विष्णुरुदाहरत्।
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन्ककुभां गणम्।
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना॥
बभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः" इति॥

अर्थः—शत्रु का नाश करनेवाले प्रह्लाद ने ऐसा विचार कर परम आनन्द स्वरूप निर्विकल्प समाधि में स्थिति कियी। इस समाधि में स्थित हुए प्रह्लाद चित्र में स्थित मूर्त्ति की नाईं शोभता था। एक आत्मरूप लक्ष स्थान में दृष्टि डाल ५००० हजार वर्ष तक समाधि में स्थित रहने पर, भी उसका शरीर हृष्ट पुष्ट था । उस के बाद विष्णु भगवान् उस के पास पधार कर बोले कि "हे महात्मन् ! तुम जागो । इस पर भी वह न उठा । तब दिशाओं को नाद से पूर्ण करन वाला पांच जन्य नामक शंख का नाद किया" । यह श्रीविष्णु के प्राणवायु द्वारा उत्पन्न हुए महाशब्द से दानवपति (प्रह्लाद) धीरे धीरे जाग उठा ।

एवं वीतहव्यादीनामपि समाधिरुदाहरणीयः। वैराग्यं द्विविधम् अपरं परं चेति । यतमान-व्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदैरपरं चतुर्विधम्। तत्राऽऽद्यं त्रयमर्थात्सूत्रयन्साक्षात् चतुर्थं सूत्रयति ।

अर्थः—इस भांति वीतहव्य आदिक महात्माओं की समाधि भी दृष्टान्तरूप से जानना । वैराग्य दो प्रकार का है एक पर वैराग्य, दूसरा अपर वैराग्य । तिन में से यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, और वशीकार इस भांति अपर वैराग्य के चार प्रकार हैं । इन ४ प्रकार के वैराग्य में से पहिले तीन प्रकार के वैराग्य को तात्पर्य द्वारा और चतुर्थको साक्षात् कहनेवाला सूत्र।

"दृष्टानुश्राविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" इति। स्रक्चन्दनवनितापुत्रमित्रक्षेत्रधनादयो दृष्टाः । वेदोक्ताः स्वर्गा-

दयः आनुश्रविकाः तत्रोभयत्र सत्यामपि तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादिवैराग्यत्रयं भवति । अस्मिंश्च जगति किं सारं किमसारमिति गुरु शास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगोयतमानत्वम्(१) स्वचित्ते पूर्वं विद्यमानानां, दोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानेन विवेकेनैतावन्तःपक्का एतावन्तोऽवशिष्टा इति विवेचनं व्यतिरेकः(२) दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन तां प्रवृत्तिं परित्यज्य मनस्यौत्सुक्यमात्रेण तृष्णावस्थानमेकेन्द्रियत्वम् (३) वितृष्णत्वं वशीकारः (४) तदिदमपरं वैराग्यमष्टाङ्गयोगप्रवर्तकत्वेन संप्रज्ञातस्यान्तरङ्गम् । असंप्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् । तस्यान्तरङ्गं परं वैराग्यं सूत्रयति ।

अर्थः—देखे और सुने हुए विषयों से तृष्णा रहित पुरुष की उस विषय में जो उपेक्षा बुद्धि, उस को वशीकार नाम का वैराग्य कहते हैं । माला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र आदिक दृष्ट (प्रत्यक्ष) विषय है । केवल वेद आदिक शास्त्र प्रतिपादित स्वर्ग आदिक "आनुश्रविक" (अप्रत्यक्ष)है । सो इन दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की तृष्णा होने पर भी विवेक के तारतम्य से यतमानादि वैराग्य के तीन भेद होते हैं । इस जगत में सार क्या है? और असार क्या है ? इस भांति मुझे गुरु और शास्त्र से जानना चाहिये ऐसे उद्योग का नाम यतमान वैराग्य है । विवेक के अभ्यास करने के पहिले जो २ दोष मुझ में विद्यमान थे उन में से वर्त्तमान विवेक अभ्यास करने से, इतने दोष हट गये

और अब इतने बाकी रहे इस प्रकार के विवेक को व्यतिरेक वैराग्य कहते है। दृष्ट और श्रुत विषयों में प्रवृत्ति को दुःख रूप समझ कर उस प्रवृत्ति का त्याग करने पर मन में कई एक तृष्णा का अंश रहे उस को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं। और केवल निस्तृष्णापन को 'वशीकार' वैराग्य कहते हैं। ये चार प्रकार के अपर वैराग्य अष्टाङ्गयोग में प्रवृत्ति कराते हैं इस लिये वे संप्रज्ञातसमाधि के अन्तरङ्ग साधन है और असंप्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन है। असंप्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधनरूप पर वैराग्य का निरूपण करने वाला सूत्र है।

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" इति। सम्प्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कारादशेषगुणत्रयव्यवहारे यद्वैतृष्ण्यं तत्परं वैराग्यम्। तस्य तारतम्येन समाधेः शीघ्रत्वतारतम्ये सूत्रयति।

अर्थः—आत्मा के साक्षात्कार होने से तीन गुण और उन के कार्यों में जो तृष्णा रहित पन है उस को 'पर वैराग्य' कहते हैं। इस वैराग्य में न्यूनाधिक्य के कारण समाधि की शीघ्रता में जो तारतम्य होता उस को भगवान् पतञ्जलि कहते हैं।

"तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः" इति। संवेगो वैराग्यम्। तद्भेदाद्योगिनस्त्रिविधा मृदुसंवेगा मध्यसंवेगा स्तीव्रसंवेगाश्चेति। आसन्नोऽल्पेनैव कालेन समाधिर्लभ्यत इत्यर्थः। तीव्रसंवेगेष्वेव समाधितारतम्यं सूत्रयति।

अर्थः—वैराग्य के भेद के कारण तीन प्रकार के योगी

होते हैं, एक मृदुवैराग्य वाला दूसरा मध्यमवैराग्यवाला और तीसरा तीव्र वैराग्यवाला। इन में से तीव्र वैराग्यवान् को समाधि शीघ्र ही समय में सिद्ध होती है। तीव्र वैराग्यवान् में भी समाधिसिद्धि के समय न्यूनाधिकता का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र।

"मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः" इति। मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। तेष्वप्युत्तरोत्तरस्य त्वरया सिद्धिर्द्रष्टव्या। उत्तमोत्तमा जनकप्रह्लादादयोऽधिमात्रतीव्राः मुहूर्त्तमात्रविचारेण दृढसमाधिलाभात्। अधमाधमा उद्दालकादयो मृदुसंवेगाः। चिरप्रयासेन तल्लाभात्। एवमन्येऽपि यथायोगमुन्नेयाः। तदेवमधितीव्रस्य दृढभूमावसंप्रज्ञातसमाधौ लब्धे सति पुनर्व्युत्थातुमशक्यं सन्मनो नश्यति। मनोनाशेन वासनाक्षये रचिते सति जीवन्मुक्तिः सुप्रतिष्ठिता भवति। न च मनोनाशेन विदेहमुक्तिरेव नतु जीवन्मुक्तिरिति शङ्कनीयम्। प्रश्नोत्तराभ्यां तन्निर्णयात्। श्रीरामः।

अर्थः—'मृदु तीव्र, वैराग्यवान् योगी को जल्दी से समाधि का लाभ होता है, मध्य तीव्र वैराग्य वाले को उस से भी जल्दी समाधि का लाभ होता है' उत्तमोत्तम जनक प्रह्लाद आदिकों का मुहूर्त्तमात्र विचार करने से समाधि का लाभ हुआ था इस लिये वे अतिशय तीव्र वैराग्यवान् समझे गये। अधमों में उद्दालक आदिकों को मृदुवैराग्यवान् जानो। क्यों कि उन

को बडे परिश्रम से समाधि की प्राप्ति हुई थी । इस भांति और को भी जान लेना । इस प्रकार अतिशय तीव्र वैराग्यवान् पुरुष को अत्यन्त दृढ असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होने से पुनः व्युत्थान को प्राप्त होनेमें अशक्त होने से मन नाश को प्राप्त हो जाता है मन के नाश होने से वासनाक्षय का संरक्षण होता है । और उस से जीवन्मुक्ति की स्थिरता प्राप्त होती है । मन के नाश से विदेहमुक्ति सिद्ध होती है, जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं होती, ऐसी शङ्का न करो । क्यों कि योगवासिष्ठ में श्री राम और वसिष्ठ मुनि के प्रश्नोत्तर में जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा निर्णय हुआ है । श्री राम जी ने पूछा ।

"विवेकाभ्युदयाच्चित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुने ? ।
मैत्र्यादयो गुणाः कुत्र जायन्ते योगिनां वद" ॥
वसिष्ठः ।

अर्थः—हे मुने ? विवेक के उदय होने से चित्त का स्वरूप नाश हो जाता है, इस लिये योगियों में मैत्री, मुदिता, आदि गुण चित्त के विना कहां उत्पन्न हों ? इस पर वसिष्ठ जी—

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपोदेहमुक्तिगः ॥
प्राकृतं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते ।
सुखदुःखाद्यवष्टब्धं विद्यमानं मनो विदुः ॥
चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्वह ? ।
अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदां वर ? ॥
सुखदुःखदशा धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं तस्य चित्तं मृतं विदुः ॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहोमदोमान्द्यं महोत्सवः ।

यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं मनो विदुः ॥
चित्तमाशाभिधानं हि यदा नश्यति राघव! ।
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥
भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तोरघूद्वह ! ।
विदेहमुक्तावेवासौ विद्यते निष्कलात्मनः ॥
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।
विदेहमुक्तावमले पदे परमपावने ॥
संशान्तदुःखमजडात्मकमेकरूप-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमोयत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवोमहान्त-
स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति" इति ॥
"जीवन्मुक्ता न मुह्यन्ति सुखदुःखरसास्थितौ ।
प्राकृतेनार्थकारेण किञ्चित् कुर्वन्ति वा न वा"॥
तस्मात् सरूपोमनोनाशो जीवन्मुक्तिसाधनमिति स्थितम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतजीवन्मुक्ति
विवेके मनोनाशनिरूपणं नाम
तृतीयं प्रकरणम् ॥

अर्थः—'सरूपनाश' (सूक्ष्म स्वरूप रहे ऐसा नाश) और 'अरूपनाश' (निःशेष नाश) इस तरह चित्त का नाश दो प्रकार का है। जीवन्मुक्तदशा में चित्तका सरूप का नाश होता

है, और विदेह मुक्ति में अरूप नाश होता है । प्रकृति के गुण कार्यों को ममता बुद्धि पूर्वक जब आसक्ति से मन सेवता है, और इस से ही जब सुख दुःख आदि से युक्त होता है, तब वह मन विद्यमान है, ऐसा जानना, हे रघुकुल में श्रेष्ठ रामचन्द्र जी ! यह तो मैंने आप को चित्त की विद्यमानता का वर्णन किया है । अब हे प्रश्न जानने वालों में श्रेष्ठ ? उस के नाश को सुनो जैसे सांस (निःश्वास) पहाड को हिला नहीं सकता वैसे सुख के समय या दुःख के समय जिस के चित्त की साम्य अवस्था भङ्ग नहीं हो सकती उस विवेकी पुरुष का चित्त नाश को प्राप्त हुआ है ऐसा जानो । आपत्ति, कृपणता, उत्साह, मद, मन्दता, और महोत्सव, जिस के रूप को वदल नहीं सकता (चलायमान नहीं कर सकता) अर्थात् हर्ष शोक आदि के वश नहीं कर सकता, उस का चित्त नाश हुआ, ऐसा समझो, तृष्णा ही जिस का स्वरूप है, ऐसा चित्त जब नाश को प्राप्त होता है तब मैत्री आदिक गुण युक्त सत्त्व उदय को प्राप्त होता है । इस मैत्री आदि गुण युक्त वाले पुरुष का चित्त पुनर्जन्मरहित होता है । इस प्रकार की चित्त की अवस्था जीवन्मुक्त पुरुष की होती है, उस को सरूपचित्तनाश कहते हैं । हे राघव ! मैं ने जो तुम को अरूप चित्त नाश कहा, वह विदेह मुक्ति दशा में ही होता है । इस समय चित्त का कोई भी अंश बाकी नहीं रहता । विदेह मुक्ति में समग्र मैत्री आदि उत्तम गुण वाला चित्त भी परम पावन और निर्मल ऐसे परमात्मा के स्वरूप में ही लय को प्राप्त होता है । जिस पद में सारे दुःखों का अभाव है, जो चैतन्य रूप है, जो सदा एक रूप है, जिस में रज, और तम हैं ही नहीं, और जो आनन्द पूर्ण है उस पद

में, जिस के चित्त का नाश हुआ है ऐसा शरीर रहित हुआ और आकाश के समान सूक्ष्म महात्मा पुरुष सदा वास करता है, जीवन्मुक्त पुरुष सुख दुःख की स्थिति में मोह को प्राप्त नहीं होता। प्रारब्ध से कुछ करता है और नहीं करता है। अत एव सरूप मनोनाश जीवन्मुक्ति का साधन है, यह, बात सिद्ध हुई।

इस रीति से श्री जीवन्मुक्ति विवेक में मनोनाश नामक तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं स्वरूपसिद्धिप्रयोजनप्रकरणम् ॥

केयं जीवन्मुक्तिः, ? किं वा तत्र प्रमाणं, ? कथं वा तत्सिद्धिः, ? इत्येतस्य प्रश्नत्रयस्योत्तरं निरूपितम् । सिद्धया वा किं प्रयोजनमित्यस्य चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमिदानीमभिधीयते । ज्ञानरक्षातपोविसंवादाभावदुःखनाशसुखाविर्भावाः पञ्च प्रयोजनानि । ननु प्रमाणोत्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य को नाम बाधप्रसङ्गः ? येन रक्षाऽपेक्ष्यत इति चेदुच्यते । चित्तविश्रान्त्यभावे संशयविपर्ययौ प्रसज्येयाताम् । तथाहि तत्त्वविदो राघवस्य विश्रान्तेः पूर्वं संशयं विश्वामित्र उदाजहार ।

अर्थः—जीवन्मुक्ति किस को कहते हैं ? उस में क्या प्रमाण है ? और उस की सिद्धि किस रीति से होती है ? इन तीन प्रश्नों के उत्तर का निरूपण हो चुका है । अब जीवन्मुक्ति के सिद्धि का क्या प्रयोजन है ? इस चौथे प्रश्नका उत्तर कहा जाता है ।

ज्ञान की रक्षा, तप, विसंवादाभाव, (विचार की निवृत्ति) दुःख की निवृत्ति और सुखका आविर्भाव ये पांच जीवन्मुक्ति के प्रयोजन हैं ।

शङ्का—महावाक्यरूप प्रमाण से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान को कोई बाध करने हारा नहीं । जो श्रुति से कोई प्रबल प्रमाण होवे तो उस से तत्त्वज्ञान बाध पावे परन्तु श्रुति से कोई बढ़कर

प्रमाण नहीं, इस लिये महावाक्य श्रुति से उत्पन्न ज्ञान की रक्षा की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—तत्त्वज्ञान हो भी जाय तौ भी जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती तब तक संशय विपर्यय होना संभव है। श्रीरामचन्द्र को तत्त्वज्ञान हुआ भी था, तौ भी चित्त वि-श्रान्ति होने के पहिले संशय उत्पन्न हुआ यह बात योगवासि-ष्ठ में प्रसिद्ध है।

विश्वामित्र बोले—

"न राघव ? तवास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर !।
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवानसि ॥
भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्येव मतिस्तव।
विश्रान्तिमात्रमेवात्र ज्ञातज्ञेयाऽप्यपेक्षते" इति॥

शुकस्तु स्वयमेवाऽऽदौ तत्त्वं विदित्वा तत्र संशयानः पितरं पृष्ट्वा पित्रा तथैवानुशिष्टस्त-थाऽपि संशयानो जनकमुपासाद्यतेनाऽपि तथैवानुशिष्टस्तत्प्रत्येवचा सुवा श्रीशुकः—

अर्थः—हे रामचन्द्र ! अब तुम्हारे को कुछ जानने को शेष नहीं रहा अपने सूक्ष्म बुद्धि द्वारा तुम सब जान चुके। परन्तु भगवान् व्यास देव के पुत्र शुकदेव के समान तुम्हारी चित्तवृत्ति को विश्रान्ति मात्र प्राप्त होने की आवश्यकता है।

श्रीशुकदेव तो अपने आपही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुझको जो ज्ञान है, सो सत्य होगा या मिथ्या होगा ? इस भांति सं-शय होने से अपने पिता व्यास जी से पूछा तब उन ने भी जो स्वयं जानते—थे—सो कहा, तथापि संशय निवृत्त न होने से जनक राजा के पास कई प्रश्न किये, उनने भी वही उप-

देश दिये। तब स्वयं जनक को इस भांति कहा—

"स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः।
एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम्॥
भवताऽप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदांवर ?।
एष एवात्र वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते॥
यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात्
क्षीयते दग्धसंसार असार इति निश्चितः॥
तत्किमेतन्महाबाहो ? सत्यं ब्रूहि ममाचलम्।
त्वत्तो विश्राममाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत्।
जनकः—

अर्थः—पूर्व में अपने ही विवेक द्वारा मैं ने यह जाना था, अपने पिता से भी यही प्रश्न मैंने किया था तब उनने भी यही उत्तर दिया था, हे वक्ता में श्रेष्ठ ? आप भी यही बात कहते हो। यह निन्द्य और निःसार संसार अपने ही अन्तःकरण से स्फुरित होता है। और उस अन्तःकरण के क्षय होने से नाश को प्राप्त होता है। ऐसा ही निश्चय शास्त्रों में भी देखा है। इस लिये 'यह जगत क्या है ? सो मुझ को कहो जिस्से हमारे सन्देह की निवृत्ति हो जावे। इस भ्रांत-चित्त से भ्रमने वाला मैं आपके वचनों से विश्रांति को पाऊंगा।

इस पर जनक जी बोले—

"नातः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ?।
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम्॥
अव्युच्छिन्नश्चिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत्।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पस्तु मुच्यते॥
तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं स्वस्य महात्मनः।

भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
न दृश्ये पतासि ब्रह्मन् ? मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥
अनुशिष्टः स इत्येवं जनकेन महात्मना ।
विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि ॥
वीतशोकभयायासोनिरीहश्छिन्नसंशयः ।
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम् ॥
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
दश स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत्"
इति ॥

अर्थः—हे मुने ! यहां सर्वत्र पूर्ण, अद्वितीय चैतन्यस्वरूप आत्माही है, उसके सिवाय इतर कोई भी वस्तु नहीं । और जीव केवल अपने संकल्प से ही बद्ध है, और संकल्प रहित होता, तब मुक्त होता है । इस से भिन्न दूसरा कोई निश्चय नहीं । तुमने आपसे यह जाना और फिर गुरु से भी सुना तूजो महात्मा है, तिसने अपनी ज्ञेय वस्तु यथार्थ जाना है। क्योंकि सकल भोगों से या सकल दृश्य पदार्थ से उसके विषय विराम प्राप्त हुआ है, पूर्णचित्त वाला तूं सर्व प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है। तू अब दृश्य में नहीं पडता अर्थात उस में तुच्छ बुद्धि होने से, उस पर तेरा लक्ष्य नहीं जाता है, इस लिये भ्रांति को छोड दो । इस भांति महात्मा जनक से उपदेश पाकर शुकदेवजी, निर्विकार परमात्मवस्तु में तूष्णीं भाव ग्रहण कर विश्राम पाया जिस के शोक, भय और आयास निवृत्त होगये हैं, जिस को किसी प्रकार की इच्छा नहीं और जिस के संशय छिन्न हो गये, ऐसा शुकदेव समाधि के निमित्त समाधि के प्रतिकूल दोष रहित मेरु के शिखर

(चोटी) पर गये । वहां निर्विकल्प समाधि में दश हजार वर्ष स्थिति कर जैसे विना तेल का दीप सामान्य अग्नि में शान्त होता है, वैसे वह स्वरूप में शान्त हुआ ।

तस्माद्विदितेऽपि तत्त्वे विश्रान्तिरहितस्य शुकराघयोरिव संशय उत्पद्यते। स चाज्ञानमिव मोक्षस्य प्रतिबन्धकः। अतएव भगवतोक्तम्।

अर्थः—इस कारण आत्म स्वरूप का ज्ञान होने पर भी जिस का चित्त विश्राम को नहीं प्राप्त हुआ, उस पुरुष को श्रीशुकदेवजी के समान और श्रीरामचन्द्रजी के समान संशय उत्पन्न होता है, और वह संशय अज्ञान के समान ही मोक्ष में प्रतिबन्धरूप है । इसी लिये श्रीभगवान् ने कहा है ।

"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः"॥

अर्थः—जो अज्ञानी, श्रद्धा से हीन और सदा संशय करने वाला है वह नाश को प्राप्त होता है । जिस का मन सदा संशय में रहता है, उस को यह लोक परलोक और सुख नहीं ।

अश्रद्धा विपर्ययः। स चोत्तरत्रोदाहरिष्यते । अज्ञानविपर्ययौ मोक्षमात्रविरोधिनौ । संशयस्तु भोगमोक्षयोरुभयोरपि विरोधी । तस्य परस्परविरुद्धकोटिद्वयावलम्बित्वात् । यदा संसारसुखाय प्रवृत्तिस्तदा मोक्षमार्गे बुद्धिस्तां निरुणद्धि । यदा च मोक्षमार्गे प्रवृत्तिस्तदा संसारबुद्धिस्तां प्रतिबध्नाति । तस्मात् संशयात्मनो न किञ्चित् सुखमस्तीति मुमुक्षुणा सर्वथा संशयाश्छेत्तव्याः। अतएव

श्रूयते–"छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" इति ।

अर्थः—अश्रद्धा अर्थात् विपर्यय इस का उदाहरण आगे आवेगा । अज्ञान और विपर्यय मोक्षमात्र का विरोधी है, और संशय तो भोग और मोक्ष दोनों का विरोधी है, क्योंकि संशय, परस्पर विरुद्ध कोटि को अवलम्बन कर उदय को प्राप्त होने वाला होने से जब संशय वाला पुरुष संसार के सुख में प्रवृत्ति करता है, तब मोक्षमार्ग सम्बन्धी बुद्धि उसकी सुख में हुई प्रवृत्ति को रोकती है। और जब मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है, तब उस को संसार बुद्धि रोकती है । इस लिये संशय वाले मनुष्य को किसी प्रकार का सुख न होने से उस को सर्वथा संशय का उच्छेद करना चाहिये । छिद्यन्ते सर्वसंशयाः—इस श्रुति वाक्य से भी आत्मसाक्षात्कार होने से संशय छिन्न हो जाते हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

विपर्ययस्यापि निदाघ उदाहरणम् । ऋभुः परमकरुणया निदाघस्य गृहमेत्य बहुधा तं बोधयित्वा निर्जगाम । बुद्धेऽपि तदुपदिष्टवस्तुन्यश्रद्दधानो निदाघः कर्मणि परमपुरुषार्थहेतुरिति विपर्ययं प्राप्य कर्मानुष्ठाने यथापूर्वं प्रवृत्तः । सोऽपि शिष्यस्य परमपुरुषार्थभ्रंशो माभूदिति कृपया गुरुः पुनरागत्य बोधयामास । तदाऽपि विपर्ययं न जहौ । तृतीयेन तु बोधनेन विपर्ययं परित्यज्य विश्रान्तिमलभत । संशयविपर्ययाभ्यामसम्भावनाविपरीतभावनारूपाभ्यां तत्त्वज्ञानस्य फलं प्रतिबध्यते । तदुक्तं पराशरेण—

अर्थः—विपर्यय का दृष्टान्त निदाघ का है—वह इस भांति है कि ऋभुनामक मुनि ने केवल कृपा दृष्टि से निदाघ के घर आकर उसका अनेक प्रकार बोध कराया उस के बाद वहां से वह चले। परन्तु ऋभु के अन्तःकरण में 'मेरे दिये हुए इस प्रकार के ज्ञान में अविश्वास होने से 'कर्म ही परम पुरुषार्थ का हेतु है, ऐसी उलटी बुद्धि के वशवर्त्ती हो के यह ज्ञान के उपदेश होते पहिले जैसा कर्म करता था वैसा ही कर्म करने लगा मेरा शिष्य परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट न हो तो ठीक है' ऐसे हेतु से ऋभु ने फिर उस के घर आकर उपदेश दिया तौ भी उसकी विपरीबुद्धि नहीं मिटी। जब तीसरी बार आकर बोध कराया, तब उस ने विपरीत बुद्धि का त्याग किया, और अन्त में विश्रान्ति को प्राप्त हुआ । संशय या जिस को असम्भावना कहते हैं, और विपर्यय जिस को विपरीत भावना कहते हैं, ये दोनों, तत्त्वज्ञान का फल जो चित्त विश्रान्ति, उन को उत्पन्न नहीं करते हैं। सो पराशर जीने कहा है—

"मणिमन्त्रौषधैर्वन्हिः सुदीप्तोऽपि यथेन्धनम् ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तथैव च ॥
ज्ञानाग्निरपि सञ्जातः प्रदीप्तः सुदृढोऽपि च ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तु कल्मषम् ॥
भावना विपरीता या या चासम्भावना शुक ! ।
कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नापरम्" इति ।

अर्थः—जैसे प्रज्वलित अग्नि भी मणि, मन्त्र, और औषधि के जरिये नहीं जलता (बन्द हो जाता) है तब वह इन्धन काष्ठ को नहीं जरा सकता, उसी भांति ज्ञान रूप अग्नि भी अति प्रदीप्त हो तो वह प्रतिबन्ध युक्त होता है, तो अज्ञान आदिक

दोषों को नहीं जला सकता। हे शुक! असम्भावना और विपरीत भावना ही तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध करती है, अन्य कोई भी पदार्थ ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं।

तस्मादविश्रान्तस्य संशयविपर्ययप्रसङ्गेन तत्त्वज्ञानस्य फलप्रतिबन्धलक्षणात् बाधाद्रक्षाऽपेक्ष्यते। विश्रान्तचित्तस्य तु मनोनाशेन यदा जगदेव प्रविलीयते तदा संशयविपर्ययोः कः प्रसङ्गः। जगत्प्रतिभासरहितस्य ब्रह्मविदो देहव्यवहारोऽपि विनैव प्रयत्नं परमेश्वरप्रेरितेन प्राणवायुना निष्पद्यते। अतएव छन्दोगा आमनन्ति।

अर्थः—इस लिये जिस का चित्त विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होता है, उस का संशय विपर्यय रूप प्रतिबन्ध से ज्ञान के फल की रक्षा करनी आवश्यक है। और जिस का चित्त विश्राम पाया है उसको तो मनोनाशसे जगत्काही लय हो जाता है, तो संशय विपर्यय का प्रसङ्ग ही नहीं। जगत् की प्रतीति रहित ब्रह्मवित् पुरुष का शरीरव्यवहार भी प्रयत्न किये विना ही परमेश्वर प्रेरित वायुसे होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—

"नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः" इति। उपजनं जनानां समीपे वर्तमानमिदं शरीरं न स्मरन्ब्रह्मविद्वर्तते। पार्श्वस्था जना एव तत्त्वविदः शरीरं पश्यन्ति। स्वयं तु निर्मनस्कत्वान्मदीयं शरीरमिति न

स्मरति । प्रयोग्यो रथशकटादिवहने प्रयोक्तुमर्हः शिक्षितोऽश्वबलीवर्दादिः स यथा सारथिना मार्गस्याऽऽचरणे प्रेरितः पुनः सारथिप्रयत्नमनपेक्ष्य स्वयमेव रथशकटादिकं पुरोवर्त्तिग्रामं नयति एवमेवायं प्राणवायुः परमेश्वरेणास्मिन् शरीरे नियुक्तः सत्यसति वा जीवप्रयत्ने व्यवहारं निर्वहति । भागवतेऽपि स्मर्यते ।

अर्थः—ब्रह्मविद् पुरुष को मनुष्यों के समीप रहने पर उस के शरीर का भान नहीं होता है । समीप रहे मनुष्य ही उसके शरीर को देखते हैं । स्वयं तो अमन भाव को प्राप्त होने से 'यह मेरा शरीर है' ऐसा उसको भान नहीं होता । जैसे गाडी या रथ में जुते हुए बैल या घोडे अपने काम में शिक्षित होने से सारथी के एक बार गन्तव्य मार्ग पर चला देने पर अपने आप ही बिना सारथी के प्रयत्न के आगे चले जाते हैं और जिस गांव में जाना आना होता वहां पहुंचा देते उसी प्रकार यह प्राणवायु भी परमेश्वररूपी सारथी द्वारा इस शरीर में प्रेरित जीव का प्रयत्न हो या न हो तो भी व्यवहार का निर्वाह करता है।

भागवत में भी कहा हैं—

"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः" इति ।

अर्थः—जैसे मदिरा के नशे से मदान्ध पुरुष अपने पीछे या पास रक्खे वस्त्रादिक को यहां ही है या कहीं छूट गया

उस को खबर नहीं हो सकती, उसी भांति योगी पुरुष भी अपने नाशवान शरीर प्रारब्ध कर्म के योग से आसन से उठा है, उठ कर वहां स्थित है, या वहां से दूसरी जगह गया है या फिर अपने स्थान पर आया है उस को वह जानता नहीं, क्यों कि वह देह से भिन्न ऐसा अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ है।

वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

"पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्।
आचारमाचरन्त्येव सुप्रबुद्धवदक्षताः" इति।

अर्थः—जैसे निद्रामें से जगा हुआ पुरुष अपने पूर्ववत् व्यवहार करता है, तैसे पार्श्वस्थ (पास के रहने वाले) मनुष्य के जगाने पर योगी पुरुष प्रथम के अपने आचारों के क्रम का अनुसरण कर सब आचारों को करता है।

सिद्धो न पश्यत्याचारमाचरतीत्युभयोः परस्परविरोध इति चेन्न। विश्रान्तितारतम्येन व्यवस्थोपपत्तेः। तदेव तारतम्यमभिप्रेत्य श्रूयते—

"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इति।

अत्र चत्वारः प्रतीयन्ते। ब्रह्मवित्प्रथमः, ब्रह्मविद्वरो द्वितीयः, वरीयांस्तृतीयः, वरिष्ठश्चतुर्थः। त एते सप्तसु योगभूमिषु चतुर्थीं योगभूमिमारभ्य क्रमेण भूमिचतुष्टयं प्राप्ता इत्युपगन्तव्यम्। भूमयश्च वसिष्ठेन दर्शिताः—

अर्थः—शङ्का—पूर्व के श्लोक में कहा है कि योगी अपने शरीर को नहीं देखते और इस श्लोक में यह कहा है कि सोने

के बाद उठे हुए पुरुष के समान सब व्यवहारों को करते हैं इस लिये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ को कथन करते हैं।

समाधान—दोनों की विश्रान्ति में तारतम्य होने से कोई विरोध नहीं दीखता। जीवन्मुक्त पुरुष की चित्तविश्रान्ति में तारतम्य है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है। 'यह जीवन्मुक्त पुरुष आत्मा में ही क्रीडा करने वाला, आत्मा में ही रमण करने हारा, क्रियावान् और ब्रह्मविद् वरिष्ठ है'।

इस श्रुति के तात्पर्य्य से चार प्रकार के योगी प्रतीत होते हैं। ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, और ब्रह्मविद् वरिष्ठ। योग की भूमिकाओंमें से चौथी भूमिका से लेकर क्रमशः सातवी भूमिका-में स्थित पुरुषों की यथा क्रम संज्ञा है। यानी ४ थी भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मवित, ५ वीं भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद् वर, ६ ठीभूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वरीयान्, और सातवीं भूमिका में स्थित योगी का नाम ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहलाते हैं।

७ भूमिकाओं का नाम सहित निरूपण वसिष्ठ जी ने किया है—

"ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात् प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता"॥
स्थितः किंमूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्यभ्यासपूर्वकम्।
सद्विचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसा ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात्।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया भृशम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभासनात् ॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्।
पदार्थाभावनी नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भनात्।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः" इति।

अर्थः—'शुभेच्छा' पहिली भूमिका, विचारणा, दूसरी भूमिका, तनुमानसा तीसरी भूमिका, सत्त्वापत्ति चौथी भूमिका, असंसक्ति पांचवी भूमिका, पदार्थाभावनी छटी भूमिका, और तुरीया सातवी भूमिका है—

इनका क्रम से लक्षण कहते हैं।

मैं मूढ के समान क्या बैठा हूं श्रीमद् गुरु और सत्य शास्त्र की सहायता से मैं अपने स्वरूप को देखूं तो ठीक है। ऐसा वैराग्यादिक साधनों सहित जो इच्छा है, वह शुभेच्छा नाम की प्रथम भूमिका है। गुरु शुश्रूषा और स्वधर्म में निरत रहती हुई श्रवण मनन में जो प्रवृत्ति वह२री विचारणानाम की भूमि का जानो। विचारणा और शुभेच्छा के परिणाम से इन्द्रियां विषयों को ग्रहण न करे उतने मन की सूक्ष्मता होती है, अर्थात् सविकल्प समाधि प्राप्त होती है तब

'तनुमानसा' नाम की तीसरी भूमिका प्राप्त हुई जानो । इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में अत्यन्त उपराम होने से चित्त की शुद्ध अर्थात् माया और उस के कार्य रहित सत्य-स्वरूप आत्मा मैं त्रिपुटी के लय पूर्वक निर्विकल्प समाधि रूप जो स्थिति उस को सत्त्वापत्ति नाम की चौथी अवस्था समझ-नी । इन चार भूमिकाओं के अभ्यास से बाहरी और भीतरी विषयों के सङ्ग रहित हो समाधि के परिपाक से बढा हुआ परमानन्द स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार युक्त ऐसी चित्त की अवस्था को 'असंसक्ति' कहते हैं । इन पांच भूमिकाओं के अ-भ्यास से आत्मा में ही असन्तरति प्राप्त होने से बाहर और भी-तर के पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है । और दूसरा पुरुष जब उस को अनेक वार जगाने का प्रयत्न करता तब उसे प-दार्थों का भान होता है, इस प्रकार की जो अन्तःकरण की अवस्था उस को छठी 'पदार्थाभावनी' नाम की भूमिका कहते हैं । छः हो भूमिकाओं का बहुत समय तक अभ्यास से जब प्रयत्न द्वारा भी भेद प्रतीत न हो, और केवल स्वरूप में ही चित्त स्थिति कर रहता, तब तुरीया नाम की सातवी भूमिका सिद्ध हुई ऐसा समझो ।

अत्र भूमिकात्रितयं ब्रह्मविद्यायाः साधनमेव नतु विद्याकोटावन्तर्भवति । भूमित्रये भेदस-त्यत्वबुद्धेरनिवारितत्वात् । अतएवैतज्जागर-णमिति व्यपदिश्यते । तदुक्तम्—

अर्थः—इन सात भूमिकाओं में पहिली तीन भूमिका यें ब्रह्मविद्या का साधन रूप हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या की कोटि में नहीं गिनी जाती क्योंकि तीन भूमिका तक भेद के विषय में स-

त्यत्व बुद्धि नहीं मिटती । इसी से पहिली तीन भूमिकाओं को जाग्रत अवस्था कहते हैं ।

वसिष्ठ मुनि कहते हैं—

"भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम ? जाग्रदिति स्थितम् ।
यथावद् भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते" इति ।

अर्थः—हे राम ? ये तीन भूमिका जाग्रत अवस्थारूप हैं, यह बात यथार्थ है । क्योंकि यह विश्व, यथा योग्य भेदबुद्धि द्वारा जाग्रत अवस्था में दीखता है ।

ततो वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः । चतुर्थभूमौ सर्वजगदुपादानस्य ब्रह्मणो वास्तवमद्वितीयसत्तास्वभावं निश्चित्य ब्रह्मण्यारोपितयोर्जगच्छब्दाभिधेययोर्नामरूपयोर्मिथ्यात्वमवगच्छति । मुमुक्षोः पूर्वोक्तजागरणापेक्षयेयं भूमिः स्वप्नः । तदाह—

अर्थः—इन तीन भूमिकाओं का जय करने पर वेदान्तवाक्य से प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म का निर्विकल्प साक्षात्कार होता–वह 'सत्त्वापत्ति' नाम की फलरूप चौथी भूमिका है। इस चौथी भूमिका में साधक, सब जगत् का विवर्त्त उपादान रूप ब्रह्म का वास्तविक अद्वितीय सत्तारूप स्वभाव का निश्चय कर, ब्रह्म में आरोपित 'जगत्' ऐसे नाम से कथन करने से नामरूप का मिथ्यापन ज्ञान होता है । मुमुक्षु को पूर्व कथन कियो जाग्रत अवस्था की अपेक्षा से यह भूमिका स्वप्नरूप है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—

"अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते चोपरतिं गते ।

पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ।
स्वस्वेतरं च सन्मात्रं यत्प्रबोधादुपासते ॥
योगिनः सर्वभूतेषु सद्रूपं नौमि तं हरिम् ।
सत्तावशेष एवाऽऽस्ते चतुर्थीं भूमिकामितः" ॥

अर्थः— अद्वैत की स्थिरता प्राप्त होने से और द्वैत की शान्ति से चौथी भूमिका को पहुंचे हुए जो योगिजन जगत् को स्वप्न समान देखते हैं। और जिस को अलग होने पर शारद ऋतु के बादल की गर्जना के समान, आपे और आपे से अन्य इस प्रकार का भेद बिला जाता है, और जिस से प्राप्त हुए ज्ञान से केवल सद् वस्तु की ही मुमुक्षु उपासना करता है। वे सब प्राणियों में सतरूप से स्थित योगिगण हरि ही हैं। उसी की मैं स्तुति करता हूं। चतुर्थी भूमिको पहुंचा हुआ योगी, केवल सत्तारूप ही शेष रहता है।

सोऽयं चतुर्थीं भूमिकां प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चम्यादयस्तिस्रोभूमयो जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदाः । ते च निर्विकल्पसमाध्यभ्यासबलेन विश्रान्तितारतम्येन संपद्यन्ते।

अर्थः—इस चतुर्थी भूमिका को प्राप्त हुआ योगी 'ब्रह्मविद्' कहलाता है । पांचवी, छटी, और सातवीं, भूमिका जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद है । यह भेद, निर्विकल्प समाधि के बल से हुई विश्रान्ति की न्यूनाधिक्यता के कारण होता हैं।

पञ्चमभूमौ निर्विकल्पकात्तदा स्वयमेव व्युत्तिष्ठति। सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः । षष्ठभूमौ पार्श्वस्थैर्बोधितोव्युत्तिष्ठति । सोऽयं ब्रह्म-

विद्वरीयान् । तदेतद्भूमिद्वयं सुषुप्तिर्गाढ-सुषुप्तिरिति चाभिधीयते । तदाह—

अर्थः—पांचवी भूमिका में स्थित योगी, निर्विकल्प, समाधि में से स्वयं जागता है यह योगी ब्रह्मविद् वर कहलाता है। छठी भूमिका में स्थित योगी, निकट वासियों के जगाने पर जागता है । इस योगी का नाम ब्रह्मविद् वरीयान् है । इन दोनों भूमिकाओं को क्रम से पांचवी को सुषुप्ति और छठी को गाढ सुषुप्ति कहते हैं । सो कहते हैं—

"पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥
अन्तर्मुखतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि तत् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥
अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति केचन ।
समं ब्रह्म न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
अन्तःशून्योबहिः शून्यः शून्य कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णोबहिः पूर्णःपूर्णकुम्भ इवार्णवे" इति ।

अर्थः—सुषुप्ति पद नाम की पांचवी भूमिका को पाकर जिस को सब भेद रूप अंश निवृत्त हुए हैं, ऐसा पुरुष, केवल अद्वैत स्वरूप में स्थिति कर रहता है । वह बाह्यवृत्तियों से व्यवहार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख होने से थक गया हो ऐसा नित्यनिद्रालु के समान जान पडता है । इस भूमिका के

अभ्यास करने से वासना रहित हो वह योगी, क्रम से गाढ सुषुप्ति नाम की भूमिका को पाता है। जिस में वह सत् रूप नहीं, असत् रूप नहीं अहंकार युक्त नहीं उसी तरह अहंकार रहित नहीं। केवल मनन रहित ऐसा वह पुरुष द्वैत और एकता (अद्वैत) से अलग हो रहता है। कई एक द्वैत की इच्छा करते, बहुत से अद्वैत की इच्छा करते हैं। परन्तु सर्वत्र सम ब्रह्म जो द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित है, उस को नहीं जानते। आकाश में खाली घडा के समान वह अन्तः और बाह्य शून्य है, जैसे समुद्र में भरे हुए घड़े के समान बाहर, भीतर पूर्ण है।

गाढं निर्विकल्पसमाधिं प्राप्तस्य संस्कारमात्रशेषस्य चित्तस्य मनोराज्यं कर्त्तुं बाह्यपदार्थान् ग्रहीतुं वा सामर्थ्याभावादाकाशावस्थितकुम्भवदन्तर्बहिःशून्यत्वम्। स्वयंप्रकाशसच्चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि निमग्नत्वेन समुद्रमध्यस्थापितजलपूर्णकुम्भवदन्तर्बहिःपूर्णत्वम्। तुरीयाभिधां सप्तमीं भूमिं प्राप्तस्य योगिनः स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव नास्ति। ईदृशमेवोद्दिश्य—"देहं विनश्वरमवस्थितमुत्थितं वा"—इत्यादि भागवतवाक्यं प्रवृत्तम्। असंप्रज्ञातसमाधिप्रतिपादकानि योगशास्त्राण्यत्रैव पर्यवसितानि। सोऽयमीदृशो योगी पूर्वोदाहृतश्रुतौ ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते। तदेवं पार्श्वस्थबोधितः सिद्धो न पश्यतीत्यन-

योर्भूमिद्वयेन व्यवस्थितत्वान्न कोऽपि विरोधः।

अर्थः—गाढ निर्विकल्प समाधि को प्राप्त हुआ, केवल संस्काररूप से शेष रहे चित्त का मनो राज्य करने या बाहर के पदार्थों को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्य न होने से वह आकाश में रक्खे घडे के समान बाहर और भीतर खाली है। उसी तरह स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में मन निमग्न होने से और बाहर भी सर्वत्र तुल्य दृष्टि द्वारा, समुद्र के बीच में स्थापित पानी से भरे घडे के समान उसके मन की बाहर और भीतर पूर्णता है । तुरीया नाम की सातवी भूमिका को पहुंचे योगी को स्वयं या अन्य के प्रयत्न द्वारा उत्थान ही नहीं। ऐसे योगी को सङ्केत कर 'देहं च' इत्यादि भागवत का वाक्य प्रवृत्त हुआ । असंप्रज्ञात समाधि का प्रतिपादक योग शास्त्र का, इस भूमिका में ही पर्यवसान है । ऐसे योगी को पूर्वोक्त श्रुति ने ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहा है । इस भांति 'पार्श्वस्थ' यह वचन और सिद्धो न यह वचन क्रम से छठी और सातवी भूमिका में स्थित योगी के स्वरूप का बोधक है । इस लिये दोनों वचनों में परस्पर विरोध नहीं है ।

तत्रायं संग्रहः । पञ्चम्यादिभूमित्रयरूपाया जीवन्मुक्तौ सम्पाद्यमानायां द्वैतप्रतिभासाभावेन संशयविपर्ययप्रसङ्गाभावादुत्पन्नं तत्त्वज्ञानमबाधेन रक्षितं भवति । सेयं ज्ञानरक्षा जीवन्मुक्तेः प्रथमं प्रयोजनम् ।

अर्थः—उपसंहार-५ वी, ६ वी, ७ वी, भूमिकारूप जीवन्मुक्ति को सम्पादन करने से संशय और विपर्यय का प्रसङ्ग नहीं आता इससे तत्त्वज्ञान की निर्बाधता की रक्षा होती है।

ज्ञान रक्षा यह जीवन्मुक्ति का प्रथम प्रयोजन है ।

तपोद्वितीयं प्रयोजनम् । योगभूमीनां देवत्वादिप्राप्तिहेतुतया तपस्त्वं द्रष्टव्यम् । तद्धेतुत्वं चार्जुनभगवतोः श्रीरामवसिष्ठयोश्च प्रश्नोत्तराभ्यामवगम्यते ।

अर्जुन उवाच—

अर्थः—जीवन्मुक्ति का दूसरा प्रयोजन तप है । योगभूमिकायें देव आदि योनि की प्राप्ति का कारण हैं, इस लिये वह तप रूप है ।

इन का तप होना अर्जुन और भगवान् कृष्ण के उसी तरह श्रीराम और वसिष्ठ के सम्वाद से जान पड़ता है ।

अर्जुन बोले—

"अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ? गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण ? च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता नह्युपपद्यते ॥

भगवानुवाच—

अर्थः—हे कृष्ण ? मनोवृत्ति को स्वाधीन न करने हारा, श्रद्धा युक्त, योग से चल चित्त पुरुष योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को जाता है । क्या वह योगी कर्म मार्ग और योगमार्ग से भ्रष्ट हुआ, निराधार ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में अज्ञ, वायु से घेरे हुए मेघ की नाईं नष्ट हो जाता है, या, हे महाबाहो ! नहीं नष्ट होता है ? । हे कृष्ण ! इस सारे संशय को तुम

दूर करने के योग्य हो। तुम से दूसरा कोई इस संशय को दूर करने वाला नहीं दीखता। इस पर श्रीकृष्णजी बोले—

पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात? गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो ऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन?" इति॥

अर्थः—हे पार्थ? इस लोक या परलोक में योगभ्रष्ट पुरुष का नाश नहीं है। क्योंकि हे तात! शुभ कर्म करने वाला कोई बुरीगति को नहीं पाता। योग भ्रष्ट पुरुष, पुण्य करने वालों के लोक को पाकर वहां अनेक वर्ष निवास कर, अति पवित्र ऐसे जो लक्ष्मी वान् उन के घर में उत्पन्न होता है। या वह बडे बुद्धिमान् ऐसे योगियों के ही घर में जन्मता है। ऐसा जन्म पाना लोक में बहुत ही कठिन। हे कुरुनन्दन! यह यो-गियों के कुल में उत्पन्न हो, पहिले देह से अभ्यास किये हुए बुद्धि संयोग अर्थात् आत्मज्ञान को पाता है और अधिकता से सिद्धि के लिये यत्न करता है।

श्रीराम उवाच—

"एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्! गतिः"॥

अर्थः—श्रीरामजी बोले हे भगवन्? पहिली, दूसरी, या तीसरी भूमिका में आरूढ हुए पुरुष को मरने पर कैसी गति होती है।

"योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥
ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयपरिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
तत्र प्रागभावनाभ्यस्तं योगभूमित्रयं बुधः ॥
स्पृष्ट्वोपरिपतत्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्" इति ॥

अर्थः–योग भूमिका का अभ्यास जिस क्रम से किया होता, उसी के अनुसार पूर्व का पाप क्षय हो जाता है। उसके बाद वह अप्सरा सहित, देवता के विमान पर बैठ कर, लोकपाल के नगर में और मेरु पर्वत पर, उपवनों की घटाओं में क्रीडा करता है । उस के बाद भोग के क्षय द्वारा पूर्व के पुण्य का सञ्चय और पापके क्षय होने से पवित्र, गुणवान्, और लक्ष्मीवान् सत्पुरुषों के सुरक्षित घरमें वह योगी जन्म ग्रहण करता है । तहां पूर्व जन्म कृत अभ्यास से तीन भूमिकाओं का स्पर्श कर उपर की उत्तम भूमिका का यत्न से अभ्यास करता है ।

अस्त्येवं योगभूमीनां देवलोकप्राप्तिहेतुत्वम्
तावता तपस्त्वं कुत इति चेच्छ्रुतेरिति ब्रूमः ॥

अर्थः—शङ्का—इस प्रमाण से भूमिकायें देव लोक की प्राप्ति का कारण हैं, यह बात ठीक है, परन्तु वह तप रूप है, इस में क्या प्रमाण है ?

तथाच तैत्तिरीया आमनन्ति—"तपसा देवा देवताभग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्" इति ।

अर्थः—उत्तर, वह तप रूप है, इस में श्रुति का प्रमाण है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि—"पूर्व देव गण तप द्वारा देवभाव को पाये और ऋषियों ने तप द्वारा स्वर्ग को पाया।

तत्त्वज्ञानात्प्राचीनस्य भूमिकात्रयस्य तपस्त्वे सति तत्त्वज्ञानस्योत्तरकालीनस्य निर्विकल्प-समाधिरूपस्य पञ्चम्यादिभूमिकात्रयस्य तपं-स्त्वं कैमुतिकन्यायसिद्धम्। अतएव स्मर्यते।

अर्थः—तत्त्वज्ञान होने के पहिले की भूमिका जब तपरूप है, तब तत्त्वज्ञान हुए पीछे निर्विकल्प समाधि रूप पञ्चमी, छठी और सप्तमी भूमिका तपरूप हो, इस में क्या ही कहना है? इसी लिये स्मृति वाक्य है।

"मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमन्तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः सधर्मः पर उच्यते" इति॥

अर्थः—मन और इन्द्रियों की एकाग्रता यह परम तप है। यह तप सब धर्मों से श्रेष्ठ है और वह परम धर्म रूप है।

यद्यप्यनेन न्यायेन तपसा प्राप्यं जन्मान्तरं नास्ति तथाऽपि लोकसंग्रहार्थेदं तप उच्यते। अत एव भगवानाह—

"लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि" इति।

संग्राह्यश्च लोकस्त्रिविधः। शिष्यो भक्तस्तट-स्थश्चेति। तत्र शिष्यस्यान्तर्मुखे योगिनि गुरौ प्रामाणिकबुद्ध्यतिशयेन तदुपदिष्टे तत्त्वे परमं विश्वासं प्राप्य चित्तं सहसा विश्रा-म्यति। अत एव श्रूयते—

अर्थः—यद्यपि इस न्यायसे तप द्वारा पाने योग्य जन्मान्तर

नहीं, तथापि लोक संग्रह के लिये एकाग्रता को तप कहते हैं । इसी अभिप्राय से भगवद्गीतामें कहा है—

"लोक संग्रह को देखता हुआ तूं कर्म करते योग्य है" । संग्राह्य अर्थात् विपरीत मार्ग से रोक कर सन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने योग्य लोक तीन प्रकार का है । शिष्य, भक्त, और तटस्थ । तहां शिष्यकी अपनी अन्तर्मुख वृत्ति वाले सद्गुरु में अतिशय प्रामाणिकता की बुद्धि होने से गुरूपदिष्ट तत्त्व में परम विश्वास पाकर उनके शिष्य का चित्त सहसा विश्रान्ति को प्राप्त होता है ।

श्रुति भी कहती है—

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथागुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति ।

अर्थः—जिस को देव अर्थात् ईश्वर में परम भक्ति होती है, वैसी ही गुरु के विषय में होती है उस महात्मा को यह कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है ।

स्मृति भी कहती है—

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमाचिरेणाधिगच्छति"
इति ।

अर्थः—श्रद्धावाला, इन्द्रियों को वश करने हारा, और श्रीसद्गुरु की सेवा में परायण पुरुष ज्ञान को पाता है । ज्ञान प्राप्त कर थोडे काल में परम शान्ति पाता है ।

अन्नप्रदाननिवासस्थानकल्पनादिना योगिनं सेवमानो भक्तस्तदीयं तपः स्वयमेवाऽऽदत्ते ।

तथा च श्रूयते—

अर्थः—अन्न देने के लिये, रहने का स्थान देने के लिये, इत्यादि द्वारा योगी को सेवन करता हुआ उसका भक्त योगी के तप को स्वयं ग्रहण करता है। श्रुति भी कहती है—

"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति। तटस्थोऽपि द्विविधः-आस्तिको नास्तिकश्च। तत्राऽऽस्तिको योगिनः सन्मार्गाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि सन्मार्गे प्रवर्तते। तथा च स्मृतिः—

अर्थः—उस का (योगी का) हक पुत्र या शिष्य, उस का सुहृद उस के पुण्य को, और उस का द्वेषी उस के पाप का ग्रहण करते हैं। तटस्थ भी दो प्रकार का है, एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक। तिन में नास्तिक योगी को सन्मार्ग से आचरण करते देख कर स्वयं भी सन्मार्ग में होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" इति।

नास्तिकोऽपि योगिना दृष्टः पापान्मुच्यते।

अर्थः—श्रेष्ठ पुरुष जो २ आचरण करता, इतर लोग भी वही २ आचरण करते है। और जिस २ को वह प्रमाण मानता लोग भी उसी २ को प्रमाण मानता है। नास्तिक पुरुष भी योगी की दृष्टि पडने से पाप से छूट जाता है। कहा है—

"यस्यानुभवपर्यन्ता तत्त्वे बुद्धिःप्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः"

इति। अनेन प्रकारेण सर्वप्राण्युपकारित्वं योगिनो विवक्षित्वा पठ्यते—

अर्थः—जिस की साक्षात्कार होने तक, तत्त्व के विषय में बुद्धि की प्रवृत्ति होती है, उस की दृष्टि जिन प्राणियों पर पड़ती है—वे सब ही, पाप से छूट जाते हैं । इस भांति योगी सब प्राणियों का उपकारी हैं ।

इस अभिप्राय से आगे श्लोक कहते हैं—

"स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ता
ऽवनिर्यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च
संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्यो-
ऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं
मनः प्राप्नुयात् ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
विश्वंभरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मि
न्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः" इति ।

अर्थः—जिस का मन, क्षणमात्र भी विचार में स्थिरता को प्राप्त हो, उसने सर्वतीर्थों में स्नान किया, सारी वसुन्धरा का दान-दिया, हजार यज्ञों का अनुष्ठान किया, सब देवताओं का पूजन किया, संसार से अपने पितरों का उद्धार किया और तीनों लोकों का भी पूज्य वही पुरुष है । अपार ज्ञान और सुख के सागर स्वरूप इस ब्रह्म में जिसका चित्त लीन होता है, उस का कुल पवित्र है, उस की माता कृतार्थ है, और पृथिवी उस पुरुष द्वारा पुण्य वाली है ।

न केवलं योगिनः शास्त्रीयव्यवहारस्यैव तप-

स्त्वं, किन्तु सर्वस्यैव लौकिकव्यवहारस्यापि। तथा च तैत्तिरीयाः स्वशाखायां नारायणस्यान्तिमेनानुवाकेन विदुषोऽपि महिमानमामनन्ति। तस्मिश्चानुवाके पूर्वभागे योगिनोऽवयवा यज्ञाङ्गद्रव्यत्वेनाऽऽम्नाताः—

अर्थः—योगी का केवल शास्त्रीय व्यवहारही तपरूप नहीं, किन्तु सब लौकिक व्यवहार भी तपरूप है। तैत्तिरीयशाखा पढने वाले ने अपनी शाखा मे नारायण उपनिषद् के आखिरी अनुवाक द्वारा विद्वानों की इस महिमा कही है। इस अनुवाक के पूर्व भाग में योगी का अवयव, यज्ञ का अङ्गभूत द्रव्यरूप कहा है—

"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्" इति॥ अत्रच दानं दक्षिणेति दान पदमध्याहर्तव्यम्।

अर्थः—इस प्रकार जानने हारा पुरुष रूप यज्ञका आत्मा यजमान है। श्रद्धा पत्नी है। शरीर समिध है। वक्षस्थल वेदि है। लोम दर्भ है। शिखा वेद है। हृदय यूप (यज्ञस्तंभ) है। काम घृत है। क्रोध पशु है। तप अग्नि है। दम शमयिता नाम का पशू का मारने वाला पुरुष है। वाणी होता है। प्राण उद्गाता है। नेत्र अध्वर्यु है। मन ब्रह्मा है। श्रोत्र आग्नीध्र है। इस में दान यह दक्षिणा है, ऐसा अध्याहार करना चाहिये। क्योंकि—

"अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचन-

मिति ता अस्य दक्षिणाः" इति छन्दोगैरा म्नातत्वात् । उक्तानुवाकमध्यमभागेन योगिव्यवहारास्तज्जीवनकालाश्च ज्योतिष्टोमावयवक्रियारूपत्वेनोत्तरसर्वयज्ञावयवक्रियारूपत्वेन चाऽऽम्नाताः ।

अर्थः—सामवेदीय 'जो उस का तप, दान आर्जव, अहिंसा, और सत्य वचन है, ये सब उसकी दक्षिणा रूप है'—ऐसा कथन करते हैं, उपर के अनुवाक में मध्य भाग से योगी का व्यवहार और उसका जीवन काल ज्योतिष्टोम यज्ञ के अवयव रूप क्रिया रूप से और उस से पीछे के सब यज्ञों के अवयव रूप क्रिया रूप से भी कथन किया है ।

"यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत् संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत् समिधं यत्प्रातर्मध्यंदिनꣳसायं च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ ये ऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च ते ऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथ" इति ।

अर्थः—जब तक योगी जीता तब तक उस की दीक्षा है, जो वह भोजन करता वह उस का हविष है, जो पीता वह उस का सोमपान है, जो व्यवहार करता वह उस का उपसद है,

जो फिरता, बैठता है और उठता है वह प्रवर्ग्य है, जो मुख वह आहवनीय है । जो बोलता है वह आहुति है, जो उसका ज्ञान है वह होम है, जो साम सुबह भोजन करता है, वह होम की लकडी हैं, जो उस के प्रातःकाल मध्यान्ह, और सायं काल हैं, वै सवन रूप है, जो रात दिन है वह दर्श पूर्णमास याग है, जो पक्ष और मास है वह चातुर्मास्य (याग) है, जो ऋतु है, वे पशुबन्ध है जो संवत्सर और परिवत्सर है, वह अहर्गण है, जिस में सर्वस्व दक्षिणा है, ऐसा, यह "आयुष्य सत्त्र" है, जो योगी का मरण है, वह अवभृथ स्नान है।

सर्ववेदसं-सर्वस्वदाक्षिणाकम् । अत्रैतच्छब्देन प्रकृताहोरात्रादि परिवत्सरान्तं सर्वकाल-समष्ट्युपलक्षितं योगिन आयुर्विवक्ष्यते । यदायुस्तत् सर्वस्वदाक्षिणोपेतं सत्रमित्यर्थः। उत्तरानुवाके चरमभागेन सर्वयज्ञात्मकं यो-गिनमुदासीनस्य क्रममुक्तिरूपं सूर्याचन्द्रमसोः कार्यकारणब्रह्मणोस्तादात्म्यलक्षणं फलमा म्नायते ।

अर्थः—उपर ले अनुवाक में 'एतत्' (यह) शब्द द्वारा, अहोरात्र से लेकर वह परिवत्सर तक सत्र काल के समूह से द्वारा उपलक्षित योगी की आयु विवक्षित हैं। जो कि उस की सारी आयु है, वह सर्वदक्षिणायुक्त सत्ररूप है, ऐसा अर्थ सम-झना, उत्तर अनुवाक में अन्तिम भाग द्वारा, सब यज्ञस्वरूप योगी को कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्मरूप सूर्य चन्द्रका अभेद रूप क्रम मुक्ति नाम का जो फल मिलता, उस का निरूपण किया है।

"एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वान्

उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्" इति। जरामरणावधिकं यद्योगिचरितमस्ति तद्वेदोक्ताग्निहोत्रादिसंवत्सरसत्रान्तं कर्मस्वरूपमित्येवं मुपासीनो भावनातिशयेन सूर्याचन्द्रमसोः सायुज्यं तादात्म्यं प्राप्नोति । भावनामान्द्येन समानलोकं प्राप्य तस्मिंलोके सूर्याचन्द्रमसोर्विभूतिमनुभूय तत ऊर्ध्वं सत्यलोके चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो महिमानं कैवल्यमाप्नोति । इत्युपनिषदित्यनेन यथोक्तविद्यायास्तत्प्रतिपादकग्रन्थस्य चोपसंहारः क्रियते ।

तदेवं जीवन्मुक्तेस्तपो रूपं द्वितीयं प्रयोजनं सिद्धम्।

अर्थः—जरा मरण पर्यन्त जो योगी का चरित्र है, वह अग्निहोत्र से लेकर सम्वत्सर सत्र तक कर्म स्वरूप है। इस प्रकार से उपासना करने वाला जो उत्तरायण या दाक्षिणायन में मरता है तो देव या पितृओं की माहिमा को पाकर अपनी भावना की दृढता के कारण सूर्यचन्द्र के साथ एक रूपता को पाता है । उस लोक में वह विद्वान् ब्राह्मण सूर्यचन्द्र की विभूति को अनुभव करता है। वह पीछे चतुर्मुख ब्रह्मा की महिमा को पाता है । तहां

उस को तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है । उस के बाद सच्चिदानन्द स्वरूप पर ब्रह्म की कैवल्य रूप महिमा को प्राप्त होता है । 'इत्युपनिषद'—यह वचन पूर्वोक्त विद्या को प्रति पादन करने द्वारा ग्रन्थ की समाप्ति सूचित करता है । इस भांति जीवन्मुक्ति का तप रूप दूसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ ।

विसंवादाभावस्तस्यास्तृतीयं प्रयोजनम् । न खल्वन्तर्मुखे बाह्यव्यवहारमपश्यति योगीश्वरे लौकिक स्तैर्थिको वा कश्चिद्विसंवदते । विसंवादो द्विविधः । कलहरूपो निन्दारूपश्च । तत्र क्रोधादिरहितेन योगिना सह कथं नाम लौकिकः कलहायते । तद्राहित्यं च स्मर्यते ।

अर्थः—विवाद का अभाव यह जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन है । योगी या जो अन्तर्मुख होने से बाह्य व्यवहार को नहीं देखता, उस के साथ कोई लौकिक मनुष्य या साम्प्रदायिक मनुष्य विवाद नही करता । कलह रूप और निन्दारूप इस भांति दो प्रकार का विवाद है। तिस में क्रोधादि रहित योगी के साथ लौकिक मनुष्य क्यों कर कलह करता है ? नहीं करता हैं। योगी क्रोधादिक दोष रहित होता है ऐसा स्मृति कहती है।

"क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन" ।

अर्थः—कोई क्रोध करे, तो उस पर क्रोध न करे, कोई निन्दा करे तो भी 'तुम्हारा कुशल हो' ऐसा कहे । असन्त बोले तो क्षमा करे, और किसी का अपमान न करे ।

ननु जीवन्मुक्तेः प्राचीनो विद्वत्सन्यासस्ततो·

ऽपि प्राचीनं तत्त्वज्ञानं तस्मादपि प्राचीनो विविदिषासन्यासः । अत्रैते क्रोधादिराहित्यादयोधर्माः कथं स्मृता इति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—विद्वत्सन्यास, जीवन्मुक्ति के पूर्व है, उस के पहिले तत्त्वज्ञान है, और उस के भी पहिले विविदिषा संन्यास है । इस विविदिषा संन्यास में ही क्रोध आदिक त्याग-करना चाहिये तो जीवन्मुक्ति दशा में क्रोधादिक रहित होना इत्यादि धर्म स्मृति में किस लिये कहा ? ।

बाढम् । अत एव जीवन्मुक्तस्य क्रोधादयः शङ्कितुमशक्याः । अत्यर्वाचीने पदे विविदिषासंन्यासेऽपि यदा क्रोधादयो न सन्ति तदोत्तमपदे तत्त्वज्ञाने कुतस्ते स्युः, कुतस्तरां च विद्वत्संन्यासे, कुतस्तमां च जीवन्मुक्तौ, अतो न योगिना सह लौकिकस्य कलहः सम्भवति । नापि निन्दारूपो विसंवादः शङ्कनीयः । निन्द्यस्यानिश्चितत्वात् । तथा च स्मर्यते ।

अर्थः—उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है इसी लिये जीवन्मुक्ति की हालत मे तो क्रोधादि की शङ्का भी करनी योग्य नहीं । जब सब से पहिले विविदिषा संन्यास में ही क्रोधादि नहीं होता तब उत्तम पद तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर वे कहां से हो ? और विद्वत्सन्यास में तो सम्भव ही नहीं । और जीवन्मुक्ति में तो अत्यन्त असम्भव है । इस लिये योगी के साथ लौकिक मनुष्य का कलह सम्भव नहीं । तैसे निन्दारूप विवाद की भी शङ्का न करनी चाहिये ।

स्मृति कहती है कि—

"यन्न सन्तं न चासन्तं नाऽश्रुतं न बहु श्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स वै यतिः" इति।
सदसत्त्वे उत्तमाधमजाती। तैर्थिकोऽपि किं शास्त्रप्रमेये विसंवदते किं वा योगिचरिते। आद्ये न तावद्योगी परशास्त्रप्रमेयं दूषयति।

अर्थः—जिस को कोई उत्तम या अधम जाति ऐसा नहीं जानता, वैसे मूर्ख या विद्वान् नहीं जानता और सदाचारी या दुराचारी नहीं जानता वह यति है।
साम्प्रदायिक पुरुष भी क्या शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय में विवाद करते हैं? या योगी के चरित के सम्बन्ध में झगड बैठते हैं? साम्प्रदायिक पुरुष तो उस के साथ विवाद करते नहीं, क्यों कि योगी किसी शास्त्र का प्रमेय (प्रतिपाद्य) को दूषण नहीं देता नहीं। क्योंकि—

"तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ। नानुध्यायाद् बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" इत्यादि श्रुत्यनुरोधात्। नापि स्वशास्त्रप्रमेयं प्रतिवादिनोऽग्रे समर्थयते।

अर्थः—"उस एक आत्मा को ही जाने अन्य बात को छोड देवे। बहुत शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी को परिश्रम देना मात्र है"। वैसे वह अपने शास्त्र के सिद्धान्त को दूसरे के सामने सिद्ध नहीं करता। क्योंकि—

"पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्"

इत्यादिश्रुत्यर्थपरत्वात् । यदा प्रतिवादिनमपि स्वात्मतया वीक्षते तदा विजिगीषायाः का कथा । नापि लोकायतिकव्यतिरिक्तः सर्वोऽपि तैर्थिको मोक्षमङ्गीकुर्वन्योगिचरितेऽपि विसंवदितुमर्हति । आर्हतकापालिकबौद्धवैशेषिकनैयायिकशैववैष्णवसांख्ययोगादिमोक्षशास्त्रेषु प्रतिपाद्यप्रमेयस्य नानाविधत्वेऽपि मोक्षसाधनस्य यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगस्यैकविधत्वात् । तस्मादविसंवादेन सर्वसंमतो योगीश्वरः । एतदेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

अर्थः—जैसे धान्य का प्रयोजन वाला धान्य को निकाल कर उस के भूसी को छोड देता वैसे सारे ग्रन्थों को छोड देवे । परम ब्रह्म को जानने पर उसी के समान उन का त्याग करे ।

इस श्रुति के अर्थ में वह तत्पर होता है, जब प्रति वादी को भी अपने आत्मा रूप देखता है तब जीतने की इच्छा की तो बात ही क्या कहनी ? केवल लोकायतिक (चार्वाक के सिवाय सब साम्प्रदायिक पुरुष योगी के चरित्र में विवाद करने योग्य नहीं । क्योंकि आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, शैव, वैष्णव शाक्त और सांख्य योगादिकों के मोक्ष शास्त्र में प्रमेय का भेद होने पर भी मोक्ष का साधक जो यम नियमादि अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान, है, वह सब सम्प्रदायों में एक ही प्रकार का होता है । इस भांति योगी के साथ किसी को भी विचार न होने से योगीश्वर सब को संमत है ।

"यस्येदं जन्म पाश्चात्यन्तमाश्वेव महामते !।

विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्॥
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तताज्ञता ।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः ॥
पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनाः ।
वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव ॥
सुषुप्तवद्यश्शमितभाववृत्तिना
स्थितः सदा जाग्रति येन चेतसा ॥
कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधैर्निषेवते
मुक्त इतीह स स्मृतः" इति ।

अर्थः—हे महामते ! जिस का, यह अन्तिम जन्म होता है, उस में जैसे उत्तम बांस में मोती होती है वैसे सब निर्मल विद्या यें प्रवेश कर रहती हैं । जैसे स्त्रियां आकर हवेली में रहती हैं वैसे, आर्यपन, मनोहरता, मित्रता, सौम्यता, मुक्तपन, और ज्ञानीपन उस को सदा आश्रय कर रहती है । जैसे बांसुरी की सुरीली आवाज को वन में बसने हारे मृग सुनने इच्छा करते तैसे उत्तम आचरणों से प्रिय उस योगी को सब लोग चाहते हैं । सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान जिस की विषयाकार वृत्ति शान्त होने पर भी जो सदा चित्त से जाग्रद् अवस्था में स्थित है, और कलावान् चन्द्रमा की जैसे लोक सेवा करता है, तैसे जिस को विद्वान् सेवा करता वह इस संसार में मुक्त कहलाता है ।

"मातरीव शमं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिभिः ॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते" इति ।

तदेवमबाधं जीवन्मुक्तेर्विसंवादाभावरूपं तृतीयं प्रयोजनं सिद्धम् ।

दुःखनाशसुखाविर्भावरूपे चतुर्थपञ्चमप्रयोजने विद्यानन्दात्मकेन ब्रह्मानन्दगतेन चतुर्थाध्यायेन निरूपिते । तदुभयमत्र सङ्क्षिप्योच्यते ।

अर्थः—शान्ति शील पुरुष में सब मृदु और विषमभूत माता मे जैसे शान्ति पाता है वैसे शान्ति पाता है, और विश्वास करता है । तपस्विओं में, बहुत जानने वालों में, याजकों में, राजाओं में, बलवानों में और गुणवानों में शान्तिशील पुरुष ही शोभता है ।

इस भांति निर्बाध पन विवाद का अभाव रूप जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ । चौथा, पांचवा, प्रयोजन का निरूपण, ब्रह्मानन्दान्तर्गत विद्यानन्द नामक चौथे अध्याय में पञ्चदशी में किया है । ये दोनों प्रयोजन यहां संक्षेप में कथन किया जाता है—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्"

इत्यादिश्रुत्या दुःखस्यैहिकस्य विनाश उक्तः—

अर्थः—'यह आत्मा मैं हूं' इस प्रकार जो कोई आत्मा को जाने तो, वह किस की इच्छा करे, किस की कामना के लिये शरीर के साथ सन्ताप अनुभवकरे ? इत्यादि श्रुति से योगी के ऐहिक दुःखका विनाश कहाहै-

"एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति ।

इत्यादिश्रुतय आमुष्मिकहेतुपुण्यपाप-

चिन्तारूपस्य दुःखस्य नाशमाहुः । सुखाविर्भावस्त्रेधा सर्वकामावाप्तिः, कृतकृत्यत्वं, प्राप्तप्राप्तव्यत्वं, चेति । सर्वकामावाप्तिस्त्रेधा—सर्वसाक्षित्वं, सर्वत्राकामहतत्वं, सर्वभोक्तृरूपत्वं चेति । हिरण्यगर्भादिस्थावरान्तेषु देहेष्वनुगतं साक्षिचैतन्यरूपं यद् ब्रह्म तदेवाहमस्मीति जानंतः स्वदेह इव परदेहेष्वपि सर्वकामसाक्षित्वमस्ति । तदेतदभिप्रेत्य श्रूयते—

अर्थः—"मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया ? और पाप क्यों किया ? इस प्रकार योगी को सन्ताप नहीं होता'। इत्यादि श्रुतियां, परलोक के हेतु पुण्य पाप की चिन्ता रूप दुःख नाश का कथन करती हैं । सुख का आविर्भाव तीन प्रकार का है सर्वकामावाप्ति, कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्तव्यपन । सब कामनाओं की प्राप्ति भी ३ प्रकार की है । सबका साक्षीपन सर्वत्र कामनाओं करके हत न होना, और सब का भोक्तापन हिरण्य गर्भ से जो स्थावर तक सब देहों में व्याप्त साक्षी चैतन्य जो ब्रह्म है, वही मैं हूं इस रीति से जानने हारे पुरुष का जैसे अपने शरीर में सब भोगों का साक्षिपन है वैसे ही अन्य की देह में भी है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है:—

"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह । ब्रह्मणा विपश्चितलोकेति । भुक्तेषु भोगेष्वकामहतत्वं यत्तत्कामप्राप्तिरित्युच्यते ।

अर्थः—'सर्वज्ञ ब्रह्म स्वरूप से वह एक समय सब भोगों

को भोगता है'—संसार में भोग भोगने पावे उसमें इच्छा नहीं हो इस को 'कामप्राप्ति' कहते हैं। इसलिये सब भोगों में दोष देखने वाला तत्त्ववित् पुरुष को किसी पदार्थ में इच्छा होती ही नहीं, इसलिये उस को सर्व काम की प्राप्ति है ही।

तथा च सर्वभोगदोषदर्शिनस्तत्त्वविदः सर्वत्राऽकामहतत्वादस्ति सर्वकामावाप्तिः। अतएव सार्वभौमोपक्रमेषु हिरण्यगर्भपर्य्यन्तेषूत्तरोत्तरशतगुणेष्वानन्देषु—"श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इति श्रुतम् । सद्रूपेण चिद्रूपेणाऽऽनन्दरूपेण च सर्वत्रावस्थितं स्वात्मानमनुसंदधतः सर्वभोक्तृरूपत्वमस्तीत्यभिप्रेत्यैवं श्रूयते ।

अर्थः—इसलिये चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भ पर्य्यन्त उत्तरोत्तर सौ२ गुणा आनन्द में 'श्रोत्रियस्य०' ऐसा कहा है । अर्थात् सब आनन्द कामनाओं करके हत न हुए तत्ववित् पुरुष को प्राप्त ही हैं। इस भांति श्रुति कहती है। सत् रूप से, चित् रूप से, आनन्द रूप से सर्वत्र स्थित अपने आत्मा का अनुसन्धान करता योगी को सर्व भोगों का भोक्तापन है। इस अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः" इति । कृतकृत्यत्वं स्मर्यते—

अर्थः—मैं अन्न (भोग्य) हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं। मैं अन्न का खाने वाला हूं, मैं अन्न का खाने वाला हूं, मैं अन्न का खाने वाला हूं।

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किंचित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥
"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते"
इति ॥

अर्थः—ज्ञान रूप अमृत द्वारा तृप्त हुए और कृतकृत्य योगी का कोई भी कर्त्तव्य नहीं, और जो कर्तव्य हो तो, वह तत्वज्ञानी नहीं है। जो आत्मा ही में रमण करने हारा है, उसको कर्त्तव्य नहीं।

प्राप्तप्राप्यताऽपि श्रूयते—" अभयं वै जनक ! प्राप्तोऽसि " इति "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति ॥

अर्थः—प्राप्त प्राप्तव्य पन (पाने योग पाचुकनापन) भी श्रुति कहती है—'हे जनक ! तूं अभय को पाया है' 'इस कारण वह सर्व रूप हुआ' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही है'—इत्यादि।

नन्वेतौ दुःखविनाशसुखाविर्भावौ तत्त्वज्ञानेनैव सिद्धत्वान्न जीवन्मुक्तिप्रयोजनतामर्हतः। नैवम्।

अर्थः—शङ्का—दुःख का नाश और सुख का आविर्भाव ये दोनों तत्त्वज्ञान द्वारा ही सिद्ध है, अत एव ये दोनों जीवन्मुक्ति के प्रयोजन होने में संघटित ही नहीं होते।

सुरक्षितयोस्तयोरत्र विवक्षितत्वात्।
यथा तत्त्वज्ञानं पूर्वमेवोत्पन्नमपि जीवन्मुक्त्या

सुरक्षितं भवति, एवमेतावपि सुरक्षितौ भवतः ।

अर्थः—उत्तर जैसे पूर्वही उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञानभी जीवन्मुक्ति करके सुरक्षित होता, तैसे जीवन्मुक्ति में दुःखनाश और सुखाविर्भाव की सबतरह रक्षा होती है, ऐसा कहने का अभिप्राय है ।

नन्वेवं जीवन्मुक्तेः पञ्चप्रयोजनत्वे सति समाहितो योगीश्वरोलोकव्यवहारं कुर्वतस्तत्त्वविदोऽपि श्रेष्ठ इति वक्तव्यम् । तच्च रामवसिष्ठयोः प्रश्नोत्तराभ्यां निराकृतम् ।

अर्थः—शङ्का—जो जीवन्मुक्तिके पांच प्रयोजन होय तो, समाधिनिष्ठ योगी, लोक व्यवहार करता हुआ तत्त्वज्ञानी से श्रेष्ठ है, ऐसा कहना चाहिये । परन्तु श्रीराम और वसिष्ठजी के सम्वाद से उसका श्रेष्ठपन खण्डित होता हैं ।

श्रीरामः—

भगवन्भूतभव्येश ? कश्चिज्ज्ञातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् ? वद ॥

अर्थः—श्री रामजी बोले—हे भूत भावि के नियन्ता भगवन् ! कोई पुरुष समाधि निष्ठ ज्ञानी के समान, व्यवहार करता हुआ भी विश्राम युक्त है, तथा कोई पुरुष एकान्त देश में, जाकर नियम से समाधि में ही स्थित है, इन दोनों में कौन अच्छा है ? सो हे भगवन् ! आप मुझे कहैं—

वसिष्ठः—

"इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तः शीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥

दृश्यैर्न मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित्संव्यवहारस्थः कश्चिद्ध्यानपरायणः ॥
द्वावेतौ राम ! सुसमावन्तश्चेत्परिशीतलौ ।
अन्तः शीतलता या स्यात्तदनन्ततपःफलम्" ॥

अर्थः—वसिष्ठजी बोले–इस गुण के कार्य संसार को अनात्म रूप देखने वाले के अन्तःकरण की जो शीतलता है, वह समाधि रूप है, ऐसा कहा है। दृश्य के साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसा निश्चय कर शान्त हो कोई पुरुष व्यवहार में स्थिर होता है, और कोई पुरुष ध्यान में तत्पर होता। ये दोनों पुरुष जो अत्यन्त शीतल अन्तःकरण वाले हों तो, हे राम! वे समान ही हैं। अन्तःकरण की शीतलता प्राप्त होतो वह अनन्त तप का फल है।

नैष दोषः। अत्र वासनाक्षयरूपमन्तःशीतलत्वमवश्यं सम्पादनीयमित्येतावदेव प्रतिपाद्यते। न तु तदनन्तरभाविनो मनोनाशस्य श्रेष्ठत्वं निवार्यते। शीतलत्वं तृष्णायाः प्रशमनमित्येतादृशीं विवक्षां स्वयमेव स्पष्टीचकार।

अर्थः—समाधान—तुम कहते हो यह दोष नहीं। वासनाक्षय रूप अन्तर की शीतलता को अवश्य सम्पादन करे यही यहां वसिष्ठ जी के कहने का मतलब है। परन्तु उस से वासनाक्षय होने के बाद होने वाले मनोनाश की श्रेष्ठता का कोई वारण नहीं होता।

तृष्णा की शान्ति ही शीतलता है, ऐसा अभिप्राय वसिष्ठजीने स्वयं ही स्पष्ट किया है—

"अन्तः शीतलतायां तु लब्धायां शीतलञ्जगत् ।
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमिदञ्जगत्" इति॥

ननु समाधिनिन्दाऽव्यवहारप्रशंसा चात्रोप-लभ्यते—

अर्थः—अन्तर में शीतलता मिली हो तो, उस को संसारभर शीतल है। और जिसका अन्तःकरण तृष्णा से सन्तप्त है, उस को जगत रूपी वन में अग्नि जलता के समान है।

शङ्का—समाधिकी निन्दा और व्यवहार की प्रशंसा भी वासिष्ठ के वचन से मालूम होती है—

"समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद्वृत्तिचञ्चलम्।
तत्तस्य तु समाधानं सममुन्मत्ततापडवैः॥
उन्मत्ततापडवस्थस्य चेतश्चेत्क्षीणवासनम्।
तत्तस्योन्मत्तनृत्यं तु समं ब्रह्मसमाधिना" इति॥

अर्थः—समाधि में स्थित पुरुष का चित्त जो वृत्ति से चञ्चल होय तो, उस की समाधि उन्मत्त पुरुष के नृत्यके समान है। और उन्मत्त के नाच में स्थित हो तोभी जो उस का चित्त वासना रहित हो तो, उस का उन्मत्त के समान नृत्य भी ब्रह्म में समाधिके समान है।

मैवम्। अत्र हि समाधिप्राशस्त्यमेवाङ्गी-कृत्य वासना निन्द्यते। इयमत्र वचनव्यक्तिः। यद्यपि व्यवहारात्समाधिः प्रशस्तस्तथाऽप्य-सौ सवासनश्चेत्तदा निर्वासनाद् व्यवहाराद-धम एवेति स न समाधिः। यदा समाहित-व्यवहर्त्तारावुभावप्यतत्त्वज्ञौ सवासनौ चेत्त-दा समाधेरुत्तमलोकप्राप्तिहेतुपुण्यत्वेन प्राश-स्त्यम्। यदावुभौ ज्ञाननिष्ठौ निर्वासनौ च तदापि वासनाक्षयरूपां जीवन्मुक्तिं परिपा-

लयन्नयं मनोनाशरूपः समाधिः प्रशस्त एव । तस्माद्योगीश्वरस्य श्रेष्ठत्वात्पञ्चप्रयोजनोपेतायाजीवन्मुक्तेर्न कोऽपि विघ्न इति सिद्धम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतजीवन्मुक्तिविवेके जीवन्मुक्तिस्वरूपसिद्धिप्रयोजननिरूपणं नाम चतुर्थं प्रकरणम् ॥ ४ ॥

अर्थः—समाधान—यहां समाधि की श्रेष्ठता मानकर वासना की निन्दा कियी जाती है । उपरले वचन का मतलब यह है कि यद्यपि व्यवहार से समाधि उत्तम है, तथापि जो वह वासनायुक्त होय तो, वह व्यवहारसे भी अधम है । इस लिये वह समाधि ही न गिनी जाती। जो समाधिस्थ और व्यवहार करनेहारा तत्त्ववित न होने से वासना युक्त होवे तो, वह समाधि उत्तम लोक की प्राप्ति का हेतु पुण्य रूप होने से अज्ञानी के व्यवहार से श्रेष्ठ हैं। और जो व्यवहार करने हारा और समाहित चित्तवाला पुरुष, दोनों ज्ञान निष्ठ और वासनारहित हों तो भी, वासना का क्षय रूप जीवन्मुक्ति का पालन करनेवाला यह मनोनाश रूप समाधि श्रेष्ठ ही है । इस प्रकार योगीश्वर श्रेष्ठ है, इस लिये पांच प्रयोजन वाली जीवन्मुक्ति में कोई भी बखेडा नहीं ।

इस प्रकार जीवन्मुक्ति प्रकरण में स्वरूप प्रमाण साधन प्रयोजनों द्वारा जीवन्मुक्तिनिरूपण नाम का चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं प्रकरणम् ।

स्वरूपप्रमाणसाधन प्रयोजनैर्जीवन्मुक्तिर्निरूपिता । अथ तदुपकारिणं विद्वत्संन्यासं निरूपयामः । विद्वत्संन्यासश्च परमहंसोपनिषदि प्रतिपादितः । तां चोपनिषदमनूद्य व्याख्यास्यामः । तत्रादौ विद्वत्संन्यासयोग्यं प्रश्नमवतारयति ।

अर्थः—अब जीवन्मुक्ति का उपकारक विद्वत्संन्यास का निरूपण किया जाता है । विद्वत्संन्यास का प्रतिपादन परम हंसोपनिषद में किया है । इस उपनिषद का पाठ सहित हम व्याख्यान करेंगे । तहां आदि में विद्वत्संन्यास के योग्य प्रश्न का अवतरण करते हैं ।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगम्योवाच" इति ।

अर्थः—परम हंस योगीयों का कौन सा मार्ग है ? और उन की स्थिति कैसी है ? इस भान्ति नारदजी ने ब्रह्मा के पास जाकर प्रश्न किया ।

यद्यप्यथशब्दापेक्षित आनन्तर्यप्रतियोगी न कोऽप्यत्र प्रतिभाति तथाऽपि प्रष्टव्यार्थोऽत्र विद्वत्संन्यासः । तस्मिंश्च विदिततत्त्वो लोकव्यवहारैर्विक्षिप्यमाणोमनोविश्रान्तिं कामयमानोऽधिकारी। ततस्तादृगधि-

कारिसंपत्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । केवलयोगिनं केवलपरमहंसं च वारयितुं पदद्वयमुक्तम् । केवलयोगी तत्त्वज्ञानाभावेन त्रिकालज्ञानाकाशगमनादिषु योगैश्वर्यचमत्कारेष्वासक्तः संयमविशेषैस्तत्रोपयुंक्ते । ततः परमपुरुषार्थाद्भ्रष्टो भवति । अस्मिन्नर्थे सूत्रं पूर्वमेवोदाहृतम्—"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इति । केवलपरमहंसस्तु तत्त्वविवेकेनैश्वर्येष्वसारतां बुद्ध्वा विरज्यति । तदप्युदाहृतम्—

अर्थः—यद्यपि 'अथ' शब्द इस स्थल में अनन्तर अर्थ में हैं, तथापि किसके अनन्तर यह कोई मालूम नहीं पडता तौ भी यहां प्रश्न का विषय विद्वत्संन्यास है । इस विद्वत्संन्यास में, तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी लौकिक व्यवहारों द्वारा विक्षेप पाने से चित्त विश्रान्ति की इच्छावाला पुरुष अधिकारी है ।

इस लिये वैसे अधिकार को प्राप्त होने पर ऐसा उपनिषद् के आरम्भ में दिये 'अथ' का अर्थ है । केवल परमहंस के वारण करने के लिये योगी का ग्रहण किया है और केवल योगी के वारण करने के लिये परमहंस का ग्रहण किया है । केवलयोगी को तत्त्वज्ञान न होने से, त्रिकाल ज्ञान आकाश में गमन आदिक योग ऐश्वर्य का आश्चर्य कारक व्यवहारो में वह आसक्ति पाता है, और उस से विविध संयमों करके अपने योग बल का उस में उपयोग करता है, जिस से वह परम पुरुषार्थ मोक्ष से भ्रष्ट हो जाता है, 'ते समाधा०' यह सूत्र पहिले ही कहा है । केवल परमहंस तो तत्त्व के विवेक

द्वारा ऐश्वर्य को असार जान कर उस से विराग को प्राप्त होता है । उस का भी उदाहरण इस भान्ति आगे दिया है—

"चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम्" इति ॥
विरक्तोऽप्यसौ ब्रह्मविद्याभारेण विधिनिषेधावुल्लङ्घयति । तदुक्तम्—

अर्थः—इस जगत् में चैतन्यरूप आत्मा की ये सारी शक्तियां इस प्रकार फुरती है, ऐसा समझ कर आश्चर्य के समूह में इस जीवन्मुक्त पुरुष को कौतुक उत्पन्न नहीं होता ।

विरक्त होने पर भी केवल परमहंस पुरुष, ब्रह्म विद्या के बल द्वारा विधि निषेध का उल्लङ्घन करता है । कहा है, कि—

"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेध" इति ॥

तथाच श्रद्धालवः शिष्टास्तमेवं निन्दन्ति—

अर्थः—त्रिगुणातीत मार्ग में चलने वाले तत्त्ववित् पुरुष को क्या विधि है या क्या निषेध है ? अर्थात् वह विधि निषेध के वश नहीं ऐसे परमहंस को श्रद्धावान् शिष्ट पुरुष इस भांति निन्दा करते हैं ।

"सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते तु कलौ युगे ।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः" इति ।
योगिनि तु परमहंसे यथोक्तं दोषद्वयं नास्ति ।
अन्योऽप्यस्यातिशयः प्रश्नोत्तराभ्यां दर्शितः ॥

अर्थः—हे मैत्रेय ! कलियुग जब होगा तब सब मनुष्य ब्रह्म की वार्त्ता मात्र करेंगे, परन्तु शिश्नोदरपरायण वें शुभ क्रियाओं को नहीं करते ॥

योगी परमहंस में तो, सिद्धि में आसक्ति और यथेष्ट आचरण ये दोनों दोष होते नहीं। अन्य भी योग युक्त परमहंस की श्रेष्ठता श्रीरामचन्द्र और वसिष्ठ मुनि के प्रश्नोत्तर से मालूम पडती है।

श्रीरामः—

"एवं स्थितेऽपि भगवन्! जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः।
अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदां वर?"॥

अर्थः—श्रीरामजी बोले, ऐसा है तौ भी हे भगवन्! हे आत्मज्ञानी में श्रेष्ठ! शुभ मति वाले जीवन्मुक्त की कोई अपूर्व श्रेष्ठता है सो कहो।

वसिष्ठः—

"ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेवाङ्ग! भवत्यतिशयेन धीः।
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति॥
मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः।
कृतमाकाशयानादि तत्र का स्यादपूर्वता॥
एक एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः।
सर्वत्राऽऽस्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः॥
एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्त्तेः
संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य॥
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह—
लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम्" इति।

अर्थः—वसिष्ठ जी बोले हे राम! ज्ञानवान पुरुष की बुद्धि किसी भी श्रेष्ठ वस्तु में मोह को प्राप्त नहीं होती। नित्य तृप्त और प्रशान्त चित्तवाले उस स्वरूप में ही स्थिति वाला होता है। मन्त्र सिद्धि वाला, तप की सिद्धवाला, उसी तरह

तत्त्व की सिद्धि वाला कदाचित् आकाश में गमन करे तो, उसमें अपूर्वता क्या है ? कोई नहीं । आकाश में वहुत से पक्षी उड़ते हैं, उसी तरह यह भी एक पक्षी है, ज्ञानी में एक विशेषता है कि जो मूढ पुरुषों में नहीं, वह यह है कि सब दृश्य पदार्थों में से सत्य बुद्धि जाती रहने से उसका निर्मल मन राग रहित होता है ॥

आगे को सूचित करने वाले इतर चिन्ह रहित स्वरूप वाले संसार रूपी अनादि काल का भ्रम जिस का जाता रहा है, ऐसे ज्ञानवान् पुरुष का मुख्य चिन्ह काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ, और आपत्ति की प्रति दिन अत्यन्त क्षीणता होती यही है" ।

एतेनातिशयेनोपेतानां दोषद्वयरहितानां मार्गस्थिती पृच्छयेते । वेषभाषादिरूपो हि व्यवहारो मार्गः । चित्तोपरमरूप आन्तरो- धर्मः स्थितिः ।

अर्थः—इस प्रकार की श्रेष्ठता वाला और सिद्धि में आसक्ति और यथेष्ट आचरण ये दो दोषों से रहित ऐसा योगी का मार्ग और स्थिति को पूछते हैं । वेष भाषादि रूप जो उसका व्यवहार है वह उस का मार्ग जानो । तथा चित्त का उपरामरूप जो अन्तःकरण का धर्म है, उसे स्थिति समझो ।

भगवांश्चतुर्मुखोब्रह्मा यथोक्तप्रश्नोत्तरमवतारयति—" तं भगवानाह" इति । वक्ष्यमाणमार्गे श्रद्धातिशयमुत्पादयितुं मार्गं प्रशंसति—

अर्थः—भगवान् चतुरानन ब्रह्मा, पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—'उन नारद से भगवान् कहते हैं'।

आगे कहे जाने वाले मार्ग में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये मार्ग की प्रशंसा करते हैं:—

"सोऽयं परमहंसानां मार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यम्" इति ॥

यः पृष्टः सोऽयमिति योजना। अयमित्युत्तरग्रन्थे वक्ष्यमाण आच्छादनादिः स्वशरीरोपभोगेन लोकोपकारेण च निरपेक्षोमुख्यो-मार्गः परामृश्यते। तादृशस्य परमकाष्ठां प्राप्तस्य वैराग्यस्यादृष्टचरत्वात्तस्य मार्गस्य दुर्लभत्वम्। न चैतावताऽत्यन्ताभावः शङ्कनीय इत्यभिप्रेत्य बाहुल्यमेव प्रतिषेधति। नत्विति। बाहुल्येनेति वक्तव्ये लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः।

अर्थः—"सो यह परमहंस मार्ग अत्यन्त दुर्लभ है। उसकी बहुलता नहीं"—'सः' (वह) अर्थात् जो पूछा उस को समझो। और 'अयं' (यह) अर्थात् अब जो कहने में आवेगा, और जो आच्छादन आदि अपने शरीर के उपभोग का साधन रहित और लोकोपकार की अपेक्षा रहित है, उसे मुख्य मार्ग समझो, 'इस प्रकार के परम अवधिको प्राप्त' हुए वैराग्य पहिले देखे हुए न होने से उस का दुर्लभ पन कथन किया है। यह उपर से वैसे वैराग्य की अभावकी शङ्का हो तो, उस के निवारण कें लिये 'न तु बाहुल्यं' (प्रायः नहीं होते) इस वाक्य से उस की अधिकता का निषेध किया है। 'बाहुल्येन—नहीं कहकर "बाहु-

त्वं" कहा है सो च्छान्दस प्रयोग है ।

नन्वयं मार्गो दुर्लभतरश्चेत्तर्हि तदर्थं प्रयासो न कर्त्तव्यः तेन प्रयोजनाभावादित्याशङ्क्याऽऽह ।

अर्थः—शङ्का—जब यह मार्ग अति दुर्लभ है, तो उस के लिये प्रयास करने की क्या आश्यकता है । क्योंकि उस में कोई प्रयोजनभी नहीं । ऐसी शङ्का का उत्तर—

"यद्येकोऽपि भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेद पुरुष इति विदुषो मन्यन्ते" इति ॥

अर्थः—'जो वैसा पुरुष एक भी होता है तो, वही सदा पवित्र परमात्मा में स्थित और वेद पुरुष है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः"

इति न्यायेन यत्र क्वापि यदा कदाचित् योगी परमहंसो यदि कश्चिल्लभ्यते तर्हि स एव नित्यपूतस्थो भवति । नित्यपूतः परमात्मा । "य आत्मा ऽपहत पाप्मा" इति श्रुतेः । एवकारेण केवलयोगी केवलपरमहंसश्च व्यावर्त्तते । केवलयोगी नित्यपूतं न जानाति केवलपरमहंसो जानन्नपि चित्तविश्रान्त्यभावाद् बहिर्मुखो ब्रह्मणि न तिष्ठति । वेदप्रतिपाद्यः पुरुषो वेदपुरुषः विदुषो विद्वांसो ब्रह्मानुभवचित्तविश्रान्तिप्रतिपादकशास्त्रपारङ्गता योगिनः । परमहंसस्य ब्रह्मनिष्ठत्वं सर्वे जना मन्यन्ते । यथोक्तविद्वांसस्तु

तदप्यसहमाना ब्रह्मत्वमेव मन्यन्ते । तथाच स्मर्यते ।

अर्थः—हजारों मनुष्यों में कोई एक पुरुष अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि के लिये यत्न करता और यत्न करने वाले चित्त शुद्धि वालों में से कोई ही एक मुझ (परमात्मा को) ठीक २ जानता है। इस न्याय से, जहां कहीं, और जब कभी जो योगी परमहंस मिले तो वही नित्य पूतस्थ है। नित्य पूत (सदा पवित्र) परमात्मा ही है। क्योंकि, 'जो आत्मा निष्पाप है'। ऐसा श्रुति कहती है। 'यद्येको' इस उपनिषद् वाक्य में 'एव' (ही) ऐसा पद है। वह केवल योगी और केवल परमहंस के निमित्त है। क्योंकि केवल योगी तो, नित्य पूत आत्मा को जानता ही नहीं। और केवल परमहंस जानताभी है तौभी उस का चित्त विश्राम को न पाने से वहिर्मुख होता है, इस से ब्रह्म में स्थिति नहीं कर सकता । वेद प्रतिपादन करने योग्य पुरुष वेद पुरुष है। ब्रह्मानुभव और चित्त विश्रान्ति के निमित्त प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का पार पाय हुए पुरुष को यहां विद्वान् जानो । परमहंस योगी का ब्रह्म निष्ठपन सर्वमनुष्य मानते हैं। और पूर्वोक्त विद्वान् तो, उस को सहन न करता हुआ उसका ब्रह्म पन ही मानता है। स्मृति में ऐसा कहा है—

"दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्म ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम्" इति॥

अतो न प्रयोजनाभावः शङ्कितुमपि शक्यते ।

अर्थः—दर्शन और अदर्शन का त्याग कर अद्वैत स्वरूप-से रहता है, वह पुरुष स्वयं, हे ब्रह्मन् ? ब्रह्म वित् नहीं बल्कि ब्रह्म ही है।

इस लिये योगी परमहंस दशा का कोई प्रयोजन ही नहीं, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती ।

नित्यपूतस्थत्वं वेदपुरुषत्वं च मुखतो विशद-यन्नर्थात्का स्थितिरिति प्रश्नोत्तरं सूचयति ।

अर्थः—नित्यपूतस्थपन और वेदपुरुषपन वाणी से स्पष्ट करते हुए 'उन की स्थिति कैसी होती है ? इस प्रश्न का उत्तर तात्पर्य्य से कहते हैं ।

"महापुरुषोयच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते । तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते" इति ।

अर्थः—वह पुरुष योगी है जो अपना चित्त है उसे मुझ में ही ठहराता है । तिस कारण मैं भी उसी में रहता हूं ।

वैदिकज्ञानकर्माधिकारिषु पुरुषेषु मध्ये योगिनः परमहंसस्यात्यन्तमुत्तमत्वान्महापुरुषत्वम् । स तु महापुरुषो यच्चित्तं स्वकीयं तत्सदा मय्येवावस्थापयति । संसारगोचराणां तदीयचित्तवृत्तीनामभ्यासवैराग्याभ्यां निरुद्धत्वात् । अतएव भगवान् प्रजापतिः शास्त्रसिद्धं परमात्मानं स्वानुभवेन परामृशन्मयीति व्यपदिशति । तस्माद्योगी मय्येव चित्तं स्थापयति । तस्मादहमपि परमात्मत्वस्वरूपत्वेन तस्मिन्नेव योगिन्याविर्भूतोऽवस्थितोऽस्मि नेतरेष्वज्ञानिषु । तेषामविद्यावृतत्वात् । तत्त्ववित्स्वप्ययोगिषु बाह्यचित्तवृत्तिभिरावृतत्वान्नास्त्याविर्भावः ॥

इदानीं कोऽयं मार्ग इति पृष्टे मार्गमुपदिशति—

अर्थः—वैदिकज्ञान और कर्मके अधिकारी पुरुषों में योगी परमहंस अत्यन्त उत्तम हैं, इस लिये उस को महापुरुष कहते हैं। वह महापुरुष, सदा मुझ में ही चित्त स्थिर करता क्योंकि अभ्यास और वैराग्य से, संसार के विषयों से उस की वृत्तियां निरोध को प्राप्त होती हैं। इस लिये भगवान् प्रजापति स्वयं साक्षात् अनुभव किये आत्मा को लेकर, 'मयि' (मुझ में) ऐसा कहा है जिस कारण यह योगी मुझ में ही सदा चित्त स्थापन करता, इस लिये मैं भी परमात्मारूप से उस में प्रकट हो रहा हूं। इतर अज्ञानी में नहीं रहता। क्योंकि वे अविद्या से आवृत होते हैं। तत्त्ववित् होने पर भी जो योगी नहीं, उन में मेरा स्वरू बहिर्वृत्तिसे आवृत होने से भी मेरा आविर्भाव नहीं। अब योगी परमहंस का कौन मार्गहै ? इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

"असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीन् शिखा-
यज्ञोपवीते स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि सं-
न्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमा-
च्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोक-
स्योपकारार्थाय च परिग्रहे"दिति ॥

अर्थः—यह योगी परमहंस अपना पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु, आदि को, शिखा और यज्ञोपवीत को, स्वाध्याय और सर्व कर्मों को त्याग कर, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड को भी त्याग कर, केवल अपने शरीर के उपभोगार्थ निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिये कौपीन, (लङ्गोट) दण्ड और आच्छादन को ग्रहण करे।

योगृहस्थः पूर्वजन्मसञ्चितपुण्यपुञ्जे परिपक्वे

सति मातृपितृज्ञात्यादिना निमित्तेन विविदिषासंन्यासरूपपरमहंसाश्रममस्वीकृत्यैव श्रवणादिसाधनान्यनुष्ठाय तत्त्वं सम्यगवगच्छति, ततो गार्हस्थ्यप्राप्तैर्लौकिकवैदिकव्यवहारसहस्रैश्चित्ते विक्षिप्ते सति विश्रान्तिसिद्धये विद्वत्संन्यासं चिकीर्षति तं प्रति स्वपुत्रमित्रेत्याद्युपदेशः । पूर्वमेव विविदिषासंन्यासं कृत्वा तत्त्वं विदितवतो विद्वत्संन्यासं चिकीर्षोः कलत्रपुत्रादिप्रसङ्गाभावात् ।

अर्थः—जो गृहस्थ पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्य के परिपाक होने से, माता, पिता, सम्बन्धी आदि निमित्त के कारण विविदिषासंन्यासरूपपरमंहस के आश्रम को स्वीकार किये विना श्रवण, मनन, आदिक साधनों को कर यथार्थ तत्त्वज्ञान का सम्पादन करता और उस के बाद गृहस्थाश्रम के कारण प्राप्त लौकिक वैदिक हजारों व्यवहारों के कारण, जब उन का चित्त विक्षेप को प्राप्त होता है, तब जो चित्त विश्रान्ति के लिये विद्वत्संन्यास धारण करने की इच्छा करता उस के लिये पुत्र, मित्र आदिकों के त्याग का कथन किया है। क्योंकि जिस ने प्रथम से ही विविदिषासंन्यास धारण कर तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है, और उस के बाद विद्वत्संन्यास धारण करने की इच्छा रखता है, उस को स्त्री, पुत्रादिक का प्रसङ्गही नहीं होता।

नन्वयं विद्वत्संन्यासः किमितरसंन्यासवत् प्रैषोच्चारणादिविध्युक्तप्रकारेण सम्पादनीयः, किं वा जीर्णवस्त्रसोपद्रवग्रामादित्यागवत् लौकिकत्यागमात्ररूपः । नाऽऽद्यः । त-

स्वविदः कर्तृत्वराहित्येन विधिनिषेधानधिकारात्। अतएव स्मर्यते।

अर्थः—शङ्का—क्या यह संन्यास, इतर संन्यास के समान प्रैषोच्चारण आदि विधि कथितानुसार सम्पादन करना चाहिये? या जैसे अपने पुराने वस्त्र को त्याग कर दिया जाता उसभांति या जैसे रोगादि उपद्रव वाले गांव को छोड दिया जाता उस तरह स्त्री पुत्रादिकों का त्याग करे? पहिला अर्थात् प्रैषोच्चारणादि विधिपूर्वक त्याग तो सम्भव नहीं होता क्योंकि तत्त्व वित् पुरुष अकर्त्ता होने से उस को विधिनिषेध का अधिकारही नहीं। स्मृति भी कहती है।

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्" इति॥

न द्वितीयः। कौपीनदण्डाद्याश्रमलिङ्गविधानश्रवणात्।

अर्थः—शङ्का—ज्ञानरूपी अमृत कर के तृप्ति पाए हुए कृतकृत्य योगी को कुछ कर्तव्य नहीं। और जो उसको कुछ कर्तव्य है तो, वह तत्त्व वित् नही है।

और कौपीन दण्डादि आश्रम के चिन्ह के विधान का श्रवण होने से लौकिक त्याग रूप दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं।

नैष दोषः। प्रतिपत्तिकर्मवदुभयरूपत्वोपपत्तेः। तथा हि—ज्योतिष्टोमे दीक्षितस्य दीक्षाङ्गनियमानुष्ठानकाले कण्डूयितुं हस्तं प्रतिषिध्य कृष्णविषाणा विहिता।

अर्थः—समाधान—प्रतिपत्ति कर्मके समान विद्वत्संन्यास लौकिक और वैदिक दोनों कर्म रूप हैं, इस लिये पूर्वोक्त दोष

नहीं है । प्रतिपत्ति कर्म इस प्रकार है ।

जिस ने ज्योतिष्टोम यज्ञ की दीक्षा ग्रहण कियी हो—उस के लिये दीक्षाका अङ्गभूत कर्म करते समय हाथ से शरीर को खुजलाने का निषेध कर काले मृग के सींङ्ग से खुजलाने का विधान किया है । तहां प्रमाण—

"यद्धस्तेन कण्डूयेत पामनंभावुकाः प्रजाः स्युर्यत्स्मयेत नग्नंभावुकाः" इति "कृष्णविषाणया कण्डूयते"–इति च । तस्याश्च कृष्णविषाणायाः समाप्ते नियमे प्रयोजनाभावाद्वोढुमशक्यत्वाच्च त्यागः स्वत एव प्राप्तः । तं च त्यागं सप्रकारं वेदो विदधाति—

अर्थः—जो हाथ से शिर खुजलावे तो, खुजली की बीमारी युक्त प्रजा होती जो हास्य करे तो, लाज हीन प्रजा होती । इस लिये काले मृग के सीङ्ग से खुजलावे । नियम पूरा होने पर काले मृग के सीङ्ग का कोई प्रयोजन न होने से और उस को धारण करना अशक्य भी होने से उस का स्वयं त्याग प्राप्त होता है । परन्तु उसका विधिपूर्वक त्याग का वेद विधान करता है ।

"नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति" इति । तदिदं प्रतिपत्तिकर्म लौकिकं वैदिकं चेत्युभयरूपम् । एवं विद्वत्संन्यासोऽप्युभयरूपः । न च तत्त्वविदि कर्तृत्वस्यात्यन्ताभावः शङ्कनीयः । चिदात्मन्यारोपितस्य कर्तृत्वस्य विद्ययाऽपोहितत्वेऽपि

चितिच्छायोपेतेऽन्तःकरणोपाधौ विक्रियासहस्रयुक्ते स्वतः सिद्धस्य कर्तृत्वस्य यावद्द्रव्यभावितया ऽनपोदितत्वात् । न च ज्ञानामृतेनेत्यादि स्मृतिविरोधः । सत्यपि ज्ञाने विश्रान्तिरहितस्य तृप्त्यभावेन विश्रान्तिसम्पादनलक्षणकर्त्तव्यशेषसद्भावेन कृतकृत्यस्वाभावात् ।

अर्थः—दक्षिणा ले चुकने पर कृष्णविषाण को चात्वाल (ज्योतिष्टोम यज्ञ करने में खोदा हुआ गडहा या खाई)में डालना। यह कर्म लौकिक और वैदिक दोनो रूप है इसी तरह विद्वत्संन्यास भी दोनो रूप है । तत्त्व वित् में कर्तापन का एकदम अभाव है, ऐसी शङ्का न करो । क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मा में आरोपित कर्तापन को ज्ञान से निरोध करने पर भी अनेक विकार युक्त चिदाभास सहित अन्तःकरण रूप उपाधि में जो स्वतः सिद्धकर्त्तापन रहता है, वह अन्तःकरण रहता तब तक रहने वाला होने से उसको पुरुष दूर नहीं करता । इस से 'ज्ञानामृतेन' इस पूर्वोक्त स्मृति के साथ कोई विरोध नहीं आता क्योंकि उस को ज्ञान होने पर भी, शेष चित्त को विश्रान्ति नहीं होती इस लिये उस को तृप्ति प्राप्त हुई नहीं, तिस से चित्त विश्रान्ति सम्पादन करना रूप कर्त्तव्य बाकी होने से वह कृत कृत्य नहीं हुआ ।

ननुतत्त्वविदो विध्यङ्गीकारे सति तेना ऽपूर्वेण देहान्तरमारभ्येत ।

अर्थः—शङ्का—जो तत्त्व ज्ञानी को विधि अङ्गीकार करो तो, उस से हुए अपूर्व करके अन्य देह की प्राप्ति हो जावे ।

मैवम् । तस्या ऽपूर्वस्य चित्तविश्रान्तिप्रतिब-न्धनिवारणलक्षणस्य दृष्टफलस्य सम्भवे सत्यदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । अ-न्यथा श्रवणादिविधिष्वपि ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति-प्रतिबन्धनिवारणरूपं दृष्टफलमुपेक्ष्य ज-न्मान्तरहेतुत्वं कल्प्येत । तस्माद् विध्यङ्गी-कारे दोषाभावाद् विविदिषुरिव विद्वानपि गृहस्थो नान्दीमुखश्राद्धोपवासजागरणादि-विधिमनुसृत्यैव संन्यसेत् ।

अर्थः—समाधान—यह दोष यहां प्राप्त नहीं होता, क्योंकि चित्त विश्रान्ति में प्रतिबन्धक कारण निवारण करना यह उस अपूर्व का प्रत्यक्ष फल सम्भव है, इस लिये जन्मान्तर की प्राप्तिरूप अदृष्ट फल की कल्पना करनी योग्य नहीं । जो वैसा न मानो तो, श्रवण आदिक विधियों का भी ब्रह्मज्ञानके उत्पत्ति का प्रतिबन्ध होते उस का निवारणरूप जो दृष्ट फल है, उस का अनादर कर ज-न्मान्तर प्राप्तिरूप फल कीं कल्पना हो सकती । इस लिये तत्त्व-ज्ञानी को विधि मानने में कोई भी दोष नहीं । उस से ज्ञान की इच्छावाले पुरुष के समान ज्ञानवान् गृहस्थ भी नान्दीमुख श्राद्ध, उपवास, जागरण, आदि विधियों को अनुसरण कर विद्वत्संन्यास को धारण करे ।

यद्यप्यत्र श्राद्धादिकं नोपादिष्टं तथा ऽप्य-स्य विद्वत्संन्यासस्य विविदिषासंन्यास-विकृतित्वात् "प्रकृतिवद् विकृतिः क-र्त्तव्या" इति न्यायेन तदीया धर्माः सर्वे-ऽप्यत्र प्राप्नुवन्ति । यथाऽग्निष्टोमस्य वि-

कृतिष्वतिरात्रादिषु तदीयधर्मप्राप्तिस्तद्वत्। तस्मादितरसंन्यासवदत्रापि प्रैषमन्त्रेण पुत्रमित्रादित्यागं सङ्कल्पयेत् । बन्धवादीनित्यादिशब्देन भृत्यपशुगृहक्षेत्रादिलौकिकपरिग्रहादिविशेषाः संगृह्यन्ते। स्वाध्यायं चेति चकारेण तदर्थनिर्णयोपयुक्तानि पदवाक्यप्रमाणशास्त्राणि वेदोपबृंहकाणीतिहासपुराणानि च समुच्चिनोति । औत्सुक्यनिवृत्तिमात्रप्रयोजनानां काव्यनाटकादीनां त्यागः कैमुतिकन्यायसिद्धः । सर्वकर्माणीति सर्वशब्देन लौकिकवैदिकनित्यनैमित्तिकनिषिद्धकाम्यानि संगृह्यन्ते । पुत्रादित्यागेनैहिकभोगः परिहृतः। सर्वकर्मत्यागेन चाऽऽमुष्मिकभोगाशा चित्तविक्षेपकारिणी परिहृता । अयमिति छान्दसविभक्तिव्यत्ययेनेदं ब्रह्माण्डमिति योजनीयम्। ब्रह्माण्डत्यागो नाम तत्प्राप्तिहेतोर्विराडुपासनस्य त्यागः। ब्रह्माण्डं चेति चकारेण सूत्रात्मप्राप्तिहेतोर्हिरण्यगर्भोपासनस्य तत्त्वज्ञानहेतूनां श्रवणादीनां च समुच्चयः । स्वपुत्रादिहिरण्यगर्भोपासनान्तमैहिकमामुष्मिकं च सुखसाधनं सर्वं प्रैषमन्त्रोच्चारणेन परित्यज्य कौपीनादिकं परिगृह्णीयात् । आच्छादनं चेति चकारेण पादुकादीनि समुच्चिनोति। तथा च स्मृतिः—

अर्थः—यद्यपि विद्वत्संन्यास में श्राद्ध आदिक का कथन नहीं किया, तथापि विद्वत्संन्यास यह, विविदिषा संन्यास की विकृति है, और विकृति प्रकृति के समान करना, यह न्याय है,इस लिये विविदिषा संन्यास के सब धर्म विद्वत्संन्यास में प्राप्त होते हैं । जैसे अग्निष्टोम यज्ञ की विकृति अतिरात्र आदि यज्ञ में अग्निष्टोम के सब धर्म प्राप्त होते हैं । तैसे विविदिषा संन्यास की विकृति विद्वत्संन्यास है, इस लिये विविदिषा संन्यास की अङ्ग भूत क्रियायें इस विद्वत्संन्यास में भी करनीं चाहिये, ऐसा समझना, ऐसा है इस लिये इतरसंन्यासी के समान इस संन्यास में भी प्रैषोच्चारण द्वारा पुत्र मित्रादि का त्याग करना । श्रुति में बन्धु आदि ऐसा कहा है, इस लिये आदि शब्द से चाकर, पशु, गृह, क्षेत्र आदि लौकिक वस्तुओं, का त्याग समझो । 'स्वाध्यायं च' यहां चकार का ग्रहण किया है, इस लिये उस से वेदान्त के निर्णय में उपयोगी व्याकरण, न्याय मीमांसा, आदि शास्त्रों का तथा वेदार्थ का उपबृंहण करने वाला इतिहास पुराण आदिक का भी ग्रहण समझना, अर्थात् वे भी त्यागने के योग्य है, तब उत्सुकता की निवृत्ति मात्र जिन का प्रयोजन है, इस प्रकार काव्य नाटकादि का त्याग तो, कैमुतिकन्याय से सिद्ध है । सब कर्मों के त्याग में अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग समझना । पुत्रादि के त्याग पर से ऐहिक भोग का त्याग जानना । सर्व कर्म के त्याग से चित्त को विक्षेप डालनेवाली आमुष्मिक भोग की आशा का त्याग जान लेना । 'अयं' इस छान्दस प्रयोग से उस स्थल में 'इदं ब्रह्माण्डं' ऐसी योजना समझनी । ब्रह्माण्ड का त्याग अर्थात् ब्रह्माण्ड की प्राप्ति का कारण विराट् उपासना का त्याग जानना । 'ब्रह्माण्डं

च' यहां चकार के ग्रहण से सूत्रात्मा के प्राप्ति का कारण हिरण्यगर्भोपासना का, तथा तत्त्वज्ञान के प्राप्ति का कारण श्रवणादि का त्याग समझ लेना । अपने पुत्र से उस हिरण्यगर्भोपासना तक इस लोक परलोक के सब सुखों के साधनों को प्रैष मन्त्र का उच्चारण से त्याग कर कौपीन आदि ग्रहण करना । आच्छादन को ग्रहण करने कहा है, परन्तु च शब्द से पादुका आदिक का ग्रहण करना भी समझना ।

स्मृति में यही कहा है—

"कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्" इति ॥

अर्थः—दो लङ्गोटा, एक ओढने का वस्त्र, शीत से बचाने के लिये गुदडी और पादुका इतनी वस्तु संन्यासी ग्रहण करे, अन्य का संग्रह न करे ।

स्वशरीरोपभोगो नाम कौपीनेन लज्जाऽऽवृत्तिः । दण्डेन गोसर्पाद्युपद्रवपरिहारः । आच्छादनेन शीतादिपरिहारः । चकारात्पादुकाभ्यामुच्छिष्टदेशस्पर्शादिपरिहारं समुच्चिनोति । लोकस्योपकारो नाम दण्डादिलिङ्गेन तदीयमुत्तमाश्रमं परिज्ञाय तदुचिताभिवन्दनभिक्षाप्रदानादिप्रवृत्त्या सुकृतसिद्धिः । चकाराभ्यामाश्रममर्यादायाः शिष्टाचारप्राप्तायाः पालनं समुच्चिनोति ॥

अर्थः—कौपीन से लज्जा की रक्षा होती है, दण्ड से बैल, सर्प, आदिके उपद्रवों से बचता है, आच्छादन से शीत आदि

दुखों का परिहार होता है । और पादुका धारण करने से उ-च्छिष्ट भूमि का स्पर्श नहीं हो सकता । इन सब को शरीर का उपभोग कहना । और दण्डादि चिह्न को देख कर उस का उत्तम आश्रम है, ऐसा समझ कर लोक उस कों यथोचित अ-भिवन्दन करते हैं, और भिक्षा देते हैं, उस से उस लोक के पुण्य की वृद्धिं होती है । इस प्रकार चिह्न धारण करने का लोकोपकार भी फल हैं, पूर्वोक्त उपनिषद् के (स्वशरीरोप भोगाय च लोकोपकाराय च) इस भांति दो चकार का ग्र-हण किया है, उस से शिष्टाचार द्वारा प्राप्त आश्रम मर्यादा का पालन भी दण्डादि चिह्न धारण का फल है, ऐसा समझना ।

कौपीनादिपरिग्रहस्याऽऽनुकूल्यत्वमभिप्रेत्य मुख्यत्वं प्रतिषेधति—

"तच्च न मुख्योऽस्ति" इति ।

यत्तु कौपीनादिपरिग्रहणमास्ति तदप्यस्य यो-गिनः परमहंसस्य मुख्यः कल्पो न भवति । किं त्वनुकल्प एव । विविदिषासंन्यासि-नस्तु दण्डग्रहणं मुख्यमिति कृत्वा दण्ड-वियोगस्य निषेधः स्मर्यते—

अर्थः—जो योगी परमहंस कौपीन आदिधारण करे तो, उस को अनुकूल पडे इस अभिप्राय से उन को कौपीनादिक धारण करने कहा है । इस लिये कौपीनादि धारण की मुख्य-ता का निषेध करता है ।

'तच्च न मुख्योस्ति' जो कौपीन आदि ग्रहण करना यह उन का अर्थात् परमहंस का मुख्य विधि नहीं, किन्तु गौण विधि है । और विविदिषा संन्यासी को तो दण्ड ग्रहण आ-

दिक मुख्य है । इस लिये ही स्मृति दण्ड त्याग का निषेध करती है ।

"दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वदैव विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुध" इति ॥

अर्थः—दण्ड और शरीर का सम्बन्ध सदा रखना चाहिये। तीन धनुष (नाप विशेष) जहां तक जाये उतनी जमीन तक भी अपने आश्रम धर्म को जानने द्वारा संन्यासी को विना दण्ड के न चलना चाहिये ।

"प्रायश्चित्तमपि दण्डनाशे प्राणायामशतं स्मर्यते—"दण्डत्यागे शतं चरेत्" इति ।
योगिनः परमहंसस्य मुख्यं कल्पं प्रश्नोत्तरगतं दर्शयति—

अर्थः—किसी निमित्त से यदि दण्ड का त्याग हो जावे तो १०० प्राणायाम करे । इस भान्ति दण्ड का नाश होय तो स्मृति उस का प्रायश्चित्त भी कथन करती है, योगी परमहंस के मुख्य विधि को प्रश्नोत्तर द्वारा बतलाते हैं ।

"कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः, न दण्डं न शिखं न यज्ञोपवीतं नाऽऽच्छादनं चरति परमहंसः" इति ॥

न शिखमिति छान्दसो लिङ्गव्यत्ययोऽनुसन्धेयः । यथा विविदिषुः परमहंसः शिखायज्ञोपवीताभ्यां रहितो मुख्यस्तथा योगी दण्डाच्छादनाभ्यां रहितः सन्मुख्यो भवति । दण्डस्य वैणवत्वादिलक्षणमाच्छादनस्य कन्थात्वादिलक्षणं च परीक्षितुं दण्डादिकं

सम्पादयितुं रक्षितुं च चित्ते व्यापृत्ते सति चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो योगो न सिध्येदि-ति । तच्च न युक्तम् । न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः' इति न्यायात् ॥

आच्छादनाद्यभावे शीतादिबाधायाः कः प्र-तीकार इत्याशङ्क्याऽऽह--

अर्थः—इसका मुख्य विधि क्या है ? ऐसा पूछो तो, परमहंस दण्ड, शिखा, या यज्ञोपवीत, या आच्छादन, कुछ न रक्खे । यही मुख्य विधि है ।

व्याकरण की रीति से 'न शिखां' चाहिये इस के बदले 'न शिखं' ऐसा प्रयोग किया है, यह छान्दस प्रयोग है । जैसे विविदिषा संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत रहित मुख्य है, तैसे योगी परमहंस दण्ड और वस्त्र रहित मुख्य है । क्योंकि दण्ड बास का है, या अन्य काठ का है, इस भांति दण्ड की परीक्षा करने के लिये, वैसे ही आच्छादन भी कन्था रूप है ? या अंगरखा के समान है ? इस रीति आ-च्छादन की परीक्षा करने के लिये, वैसे ही दण्ड मिलने के लिये और उस की रक्षा के लिये योगी की वृत्ति बारबार बाहरी व्यापार वाली होने से उस का मुख्य कर्त्तव्य जो चित्त वृत्ति का निरोध रूप योग है सो सिद्ध नहीं हो सकता । जैसे कन्या का ब्याह वरके मारने के लिये नहीं, किन्तु उस की वंश वृद्धि के लिये है । तैसे ही परमहंस आश्रम धारण किया जाता है, वह केवल चित्त वृत्ति के निरोध के लिये ही धारण करने में आता है । किन्तु चित्त वृत्ति के विक्षेप के लिये धारण करने में नहीं आता । दण्ड

आदिक धारण करने से तो, ऊपर बताये हुए प्रमाण से चित्त विक्षेप को प्राप्त होता है, इस लिये दण्ड आदि का ग्रहण यह परम हंस के लिये मुख्य विधि नहीं। वस्त्र आदि न रक्खे तो, शीत, आतप, आदि से शरीर की रक्षा किस रीति करे? ऐसी शंका हो इस लिये श्रुति उत्तर देती है—

"न शीतं न चोष्णं न दुःखं न सुखं न मानावमाने च षडूर्मिवर्जम्" इति॥

अर्थः—उस को ठण्ढ, गर्मी, दुख, सुख, मान अपमान, होते नहीं। तैसे ही वह छः ऊर्मि रहित होता है॥

निरुद्धाशेषचित्तवृत्तेर्योगिनः शीतं नास्ति तत्प्रतीत्यभावात्। यथा लीलायामासक्तस्य बालस्याऽऽच्छादनादिरहितस्यापि हेमन्तशिशिरयोः प्रातःकाले शीतं नास्ति तथा परमात्मन्यासक्तस्य योगिनः शीताभावः। घर्मकाले उष्णाभावश्च तथैवावगन्तव्यः। वर्षाभावसमुच्चयार्थश्चकारः। शीतोष्णयोरप्रतीतौ तज्जन्ययोः सुखदुःखयोरभाव उपपन्नः। निदाघे शीतं सुखजनकं हेमन्ते दुःखजनकम्। उक्तविपर्यय उष्णो द्रष्टव्यः। मानः पुरुषान्तरेण सम्पादितः सत्कारः, अवमानः तिरस्कारः।

अर्थः—सब वृत्तियों का जिन ने निरोध कर लिया है, ऐसे योगी को शीत की प्रतीति होती नहीं। जैसे क्रीड़ा में खुश रहने वाला लड़का वस्त्र आदिसे रहित होय तो भी हेमन्त शिशिर, ऋतु के प्रातः काल में भी उस को शीत नहीं मालूम

पडता । तैसे ही परमात्मा में आसक्त योगी को शीत आदि का असर नहीं होता, उसी तरह उष्ण काल में गर्मी का अभाव होता है । चातुर्मासे में वृष्टि का अभाव भी च शब्द से लेना चाहिये । उस को शीत और उष्णता की अप्रतीति होने से, उस से होने वाले सुख दुःख का उस को अभाव होता है । यह वार्ता योग्य ही है, उष्ण काल में शीत सुख कारक है, और हेमन्त में दुःखकारक है, उसी तरह हेमन्त में उष्णता सुख जनक है, और उष्ण काल में दुःख जनक है । मान अर्थात् अन्य पुरुष से क्रिया सत्कार । अपमान अर्थात् तिरस्कार ।

यदा योगिनः स्वात्मव्यतिरिक्तं पुरुषान्तरमेव न प्रतीयते तदा मानावमानौ दूरादपेतौ । चकारः शत्रुमित्ररागद्वेषादिद्वन्द्वाभावं समुच्चिनोति । षडूर्मयः—क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामरणे च । तेषां त्रयाणां द्वन्द्वानां क्रमेण प्राणमनोदेहधर्मत्वादात्मतत्त्वाभिमुखस्य योगिनस्तद्वर्जनं न विरुध्यते ॥

अर्थः—जब योगी को अपने आत्मा के सिवाय अन्य पुरुष ही नहीं । तब मान अपमान, हो ही कैसे ? चकार का ग्रहण शत्रु, मित्र, राग, द्वेष, आदिक द्वन्द्व धर्मों के समुच्चय को दूर करता है । भूख, प्यास, शोक, मोह, और जरा, मरण, ये छ, ऊर्मियां समझो, इन में से भूख प्यास, प्राणका धर्म हैं । शोक मोह अन्तःकरण के धर्म हैं, और बुढापा, मृत्यु, शरीर के धर्म हैं । इसलिये आत्माभिमुख योगी में छः ऊर्मियों का त्याग विरुद्ध नहीं ।

नन्वस्त्वेवं समाध्यवस्थायां शीताद्यभावः, व्युत्थानदशायां तु निन्दादिक्लेशः संसारि-

णामिवैनं बाधत एवेत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—समाधि दशा में योगी को शीत आदि का अभाव हो, परन्तु व्युत्थान दशा में तो, संसारी के समान निन्दा आदि क्लेश उस को बाध करता ही है, ऐसी शङ्का का उत्तर।

"निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहङ्कारादींश्च हित्वा" इति ॥

अर्थः—निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, और अहङ्कार आदिक को त्याग कर।

विरोधिभिः पुरुषैः स्वस्मिन्नापादिता दोषोक्तिर्निन्दा। अन्येभ्योऽधिकोऽहमिति चित्तवृत्तिर्गर्वः। विद्याधनादिभिरन्यसदृशोभवामीति बुद्धिर्मत्सरः। परेषामग्रे जपध्यानादिप्रकटनं दम्भः। भर्त्सनादिषु दृढबुद्धिर्दर्पः। धनाद्यभिलाषः इच्छा। शत्रुवधादिषु बुद्धिः द्वेषः। अनुकूलद्रव्यादिलाभेन बुद्धिस्वास्थ्यं सुखम्। तद्विपर्ययो दुःखम्। योषिदाद्यभिलाषः कामः। कामितार्थविघातजन्यो बुद्धिक्षोभः क्रोधः। लब्धस्यधनस्य त्यागासहिष्णुत्वं लोभः। हितेष्वहितबुद्धिरहितेषु हितबुद्धिर्मोहः। चित्तगतसुखाभिव्यञ्जिका सुखविकासादिहेतुर्धीवृत्तिर्हर्षः। परकीयगुणेषु दोषत्वारोपणमसूया। देहेन्द्रियादिसङ्घातेष्वात्मभ्रमोऽहङ्कारः। आदिशब्द-

न भोग्यवस्तुषु ममकारसमीचीनत्वादिबुद्धयोगृह्यन्ते । चकारो यथोक्तं निन्दादि विपरीतं स्तुत्यादिकं समुच्चिनोति । एतान्सर्वान्निन्दादीन् हित्वा पूर्वोक्तवासनाक्षयाभ्यासेन परित्यज्यावतिष्ठेतेति शेषः ॥

अर्थः—विरोधी पुरुषों कर के आपे में दोषों के कथन का नाम 'निन्दा' है । 'मैं दूसरे से अधिक हूँ' इस प्रकार की चित्त की वृत्ति का नाम गर्व है । 'विद्याधनादि से मैं दूसरों के समान' होऊं ऐसी बुद्धि को मत्सर जानो । अन्य के आगे जप ध्यान आदि प्रकट करना 'दम्भ' है । दूसरे के तिरस्कार करने में दृढ बुद्धि रखना यह दर्प कहाता है । धन आदिक की लालसा 'इच्छा' है । शत्रुवधादि विषयक बुद्धि को 'द्वेष' कहते हैं । धन आदि अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति से बुद्धि की स्वस्थता का नाम सुख है । इस के उलटा होना दुःख है । स्त्री आदि की इच्छा का नाम काम है । इच्छित अर्थ के विघात से हुई बुद्धि के क्षोभ का नाम 'क्रोध' है। प्राप्त धन के त्याग को न सहसकना लोभ है । हित में अहित बुद्धि और अहित मे हित बुद्धि 'मोह' है। चित्त में रहने वाले सुख को सूचित करनेवाली सुखके विकास का हेतुरूप जो बुद्धि की वृत्ति है, वह हर्ष है । अन्य के गुणों में दोषों का आरोपण करना असूया है । देह इन्द्रिय आदि के सङ्घात में, वह आत्मा है अर्थात मैं हूं ऐसी भ्रांति का नाम अहङ्कार है । आदि शब्द से भोग्य पदार्थों में से ममत्व और उस में श्रेष्ठता का भी त्याग समझो । चकारका ग्रहण निन्दादि से विपरीत स्तुति आदि के ग्रहण के लिये है । इन सब निन्दा आदि दोषों को वासनाक्षय के अभ्यास

द्वारा त्याग कर रहे।

ननु विद्यमाने स्वदेहे तत्परित्यागो न स-
म्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—शंका,—जब तक शरीर है, उन का त्याग सम्भव नहीं।

"स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्व-
स्तम्," इति।

अर्थः—समाधान,—अपने शरीर को मुर्दे के समान देखता है, क्योंकि उस शरीर का ज्ञान होने पर नाश हो जाता है।

पूर्वं यत्स्वकीयं वपुस्तदिदानीं योगिना स्वा-
त्मचैतन्यात्पृथग्भूतत्वेन कुणपमिवावलोक्य-
ते। यथा श्रद्धालुः स्पर्शनभीत्या शवदेहं दूरे
स्थितोऽवलोकयति तथाऽयं योगी तादात्म्य-
भ्रान्त्युदयभीत्या सावधानो देहं चिदात्मनः
सकाशान्निरन्तरं विविनक्ति, यतः का-
रणात्तद्वपुराचार्योपदेशागमानुभवैरपध्वस्तं
चिदात्मनः सकाशान्निराकृतम्। तत-
श्चैतन्यवियुक्तस्य देहस्य शवतुल्यतया दृश्य-
मानत्वात्सत्यपि देहे निन्दादित्यागोघटत-
इत्यभिप्रायः॥

अर्थः—पूर्व में जिसको, यह मेरा शरीर है, ऐसा माना था, उस शरीर को ज्ञान होने पर योगी चैतन्य-स्वरूप आत्मा से अलग मुर्दे की नाई देखता है। जैसे कोई श्रद्धालु पुरुष छूने के डर से मुर्दे को दूर खडा हुआ देखता है, उसी भांति योगी भी शरीर के साथ ता-

दात्म्य की भ्रांति उदय के भय से देह का चिदात्मा से सदा विवेक किया करता है । क्योंकि वह शरीर श्री सद्-गुरु के उपदेश से शास्त्र प्रमाण से, और अपने अनुमान से ही चैतन्य स्वरूप आत्मा से अलग कर लिया है । इसलिये चैतन्य रहित शरीर मुर्दे के समान योगी देखता है । अतएव देह रहने पर भी योगी को निन्दा का त्याग घटता है ।

ननूत्पन्नोदिग्भ्रमः सूर्योदयदर्शनेन विनष्टोऽपि यथा कदाचिदनुवर्तते तथा चिदात्मनि देहात्मत्वसंशयाद्यनुवृत्तौ निन्दादिक्लेशः पुनःपुनः प्रसज्येतेत्याशंक्याऽऽह—

अर्थः—जैसे उत्पन्न हुई दिशा की भ्रांति सूर्योदय होने पर यद्यपि हट जाती है पर तौ भी किसी समय फिर उदय को प्राप्त होती है । उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा में फिर देह में आत्मापन का संशय आदि उत्पन्न होता है तो, निन्दादि क्लेश का प्रसंग बार२ आवे, ऐसी शंका पैदा हो तो उसको निवारण के लिये कहते हैं कि:—

"संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तः" इति ॥

आत्मा कर्तृत्वादिधर्मोपेतस्तद्रहितो वेत्यादिकं संशयज्ञानम् । देहादिरूप एवाऽऽत्मेति विपरीतज्ञानम् । एतदुभयं भोक्तृविषयम् । मिथ्याज्ञानं तु भोग्यविषयमत्र विवक्षितम् । तच्चाऽनेकविधं " संकल्पप्रभवान् कामान् " इत्यत्र स्पष्टीकृतम् । तद्धेतुश्चतुर्विधः ।

अर्थः—संशयज्ञान, विपरीतज्ञान, और मिथ्या ज्ञान के

जो हेतु हैं, वे योगी में से सदैव के लिये निवृत्त हो जाते है।

आत्मा कर्त्तापन आदि धर्मवाला हैं ? या वह धर्मों से रहित है ? इत्यादि संशयज्ञान का स्वरूप हैं। आत्मा देहादिरूपही है, यह मिथ्याज्ञान का स्वरूप है। ये दोनों ज्ञान भोक्ता में करने हारे हैं। इस स्थल में मिथ्याज्ञान भोग्य सम्बन्धी समझना। यह मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार का है (संकल्पप्र०) इस श्लोक के व्याख्यान में स्पष्ट कहा है। संशय आदि ज्ञान का हेतु ४ प्रकार का श्रीपतञ्जलिमुनि ने कहा है।

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" इति

अनित्ये गिरिनदीसमुद्रादौ नित्यत्वभ्रान्तिरेका। अशुचौ पुत्रभार्यादिशरीरे शुचित्वभ्रान्तिर्द्वितीया। दुःखे कृषिवाणिज्यादौ सुखत्वभ्रान्तिस्तृतीया। गौणमिथ्यात्मनि पुत्रभार्यादावन्नमयादिके ऽनात्मनि मुख्यात्मत्वभ्रान्तिश्चतुर्थी। एतेषां संशयादीनां हेतुरद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वावरकमज्ञानं तद्वासना च। तच्चाज्ञानं योगिनः परमहंसस्य महावाक्यार्थबोधेन निवृत्तम्। वासना तु योगाभ्यासेन निवृत्ता। उदाहृतायां दिग्भ्रान्तावज्ञाने निवृत्तेऽपि वासनायाः सद्भावाद्यथापूर्वं भ्रान्तिव्यवहारः। योगिनस्तु भ्रान्तिहेतुद्वयराहित्यात् कुतः संशयादीन्यनुवर्तेरन्। तमेवमनुवृत्त्यभावमभिप्रेत्य तेन हेतुद्वयेन योगी नित्यनिवृत्त इत्युक्तम्।

सत्यामप्यज्ञानतद्वासनानिवृत्तेरुत्पत्तौ तस्या निवृत्तेर्विनाशाभावान्नित्यत्वं द्रष्टव्यम् । तन्नित्यत्वे हेतुमाह—

अर्थः— अनित्य, अशुचि, दुःख, और अनात्म पदार्थ में नित्य, शुचि, सुख, और आत्मापन की जो भ्रान्ति है—वह अविद्या है ।

पर्वत, नदी, समुद्र, आदि, पदार्थ जो अनित्य है, उन में नित्यपन की भ्रान्ति करनी यह पहिली अविद्या है । स्त्री पुत्रादिकों के अशुचि शरीर में शुचिपन की भ्रान्ति होनी यह दूसरी अविद्या है । दुःखरूप कृषि व्यापार आदि में सुखपन की भ्रान्ति यह तीसरी अविद्या है । और स्त्री पुत्रादिकों के शरीर जो गौण आत्मा है, वैसे ही अन्न का विकाररूप स्थूल शरीर जो मिथ्यात्मा है, उन दोनों में मुख्यात्म भ्रान्ति यह ४ थी अविद्या है । पूर्वोक्त संशय आदिकों का कारण, अपने स्वरूप से अभिन्न ब्रह्म को आवरण करने वाला अज्ञान और उसकी वासना है । उस में अज्ञान तो महावाक्य के अर्थ के ज्ञान होने से नाश को प्राप्त हो जाता है । और वासना योगाभ्यास से क्षीण हो जाती है । पहिले ही दिया हुआ दृष्टान्त रूप से दिशा की भ्रान्ति रूप अज्ञान, सूर्योदय से नाश को प्राप्त हो जाने पर भी उस की वासना बनी ही रहती है, उससे पुनः दिग्भ्रान्ति होती है । और योगी को तो भ्रान्ति के दोनों कारण नाश को प्राप्त होने से उस को संशय आदिक क्यों कर हों ? होते ही नहीं । इस प्रकार संशय आदिक दो कारणों का अभाव होता है, इस अभिप्राय से ही 'सदा संशय आदि का कारण रहित, ऐसा श्रुति कहती है । यद्यपि योगी में अज्ञान तथा वासना की निवृत्ति उत्पन्न होती है,

तथापि उस निवृत्ति का नाश न हो इस लिये उन को सदा निवृत्ति का कथन किया है । संशय आदि के कारणों की निवृत्ति के निरूपण में कारण कहते हैं ।

"तन्नित्यत्वबोधः" इति ।

सर्वनामत्वात्प्रसिद्धार्थवाची तच्छब्दोऽत्र सर्ववेदान्तप्रसिद्धं परमात्मानमाचष्टे । तस्मिन्परमात्मनि नित्यो बोधो यस्य योगिनः सोऽयं तन्नित्यबोधः । योगी हि—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति श्रुतिमनुसृत्य चित्तविक्षेपान् योगेन परिहृत्य नैरन्तर्येण परमात्मविषयामेव प्रज्ञां करोति । अतो बोधस्य नित्यत्वाद्बोधविनाश्ययोरज्ञानतद्वासनयोर्निवृत्तिर्नित्येत्यर्थः ॥

बुध्यमानस्य परमात्मनस्तार्किकेश्वरवत्तटस्थत्वशङ्कां वारयति—

"तत्स्वयमेवावस्थितिः" इति ।

यद् वेदान्तवेद्यं परं ब्रह्मास्ति तत्स्वयमेव न तु स्वस्मादन्यदित्येवं निश्चित्य योगिनोऽवस्थितिर्भवति ॥

तस्य योगिनो ब्रह्मानुभवप्रकारं दर्शयति—

अर्थः—'उस परमात्मा का जिसको सदा ज्ञान है । ऐसा योगी पुरुष—धीर ब्रह्मवित् पुरुष उस परमात्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्माकार बुद्धि को करे'—इस श्रुति के अनुसार योग द्वारा चित्त के विक्षेप का निरोध कर निरन्तर परमात्माकार बुद्धि करता है ।, इसलिये ज्ञान के निरूपन

के कारण ज्ञान द्वारा नाश होने वाला अज्ञान और उसकी वासना की निवृत्ति उस में नित्य है। अनुभव गम्य परमात्मस्वरूप तार्किक ईश्वर के समान तटस्थ होगा, ऐसी शंका का कारण कहते हैं—

वेदान्त से जानने योग्य जो परमात्मा का स्वरूप है, वह मैं स्वयं हूं, मुझ से वह अलग नहीं। ऐसो निश्चय पूर्वक योगी की ब्रह्मविषयकस्थिति होती है।

योगी को किस प्रकार से ब्रह्म का अनुभव होता है, सो बतलाते हैं।

"तं शान्तमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवास्मि तदेव मम परमं धाम," इति।

अर्थः—वह शान्त, अचल, अद्वितीय, आनन्द स्वरूप, विज्ञान घन परमात्मा, मैं हूं। वही मेरा वास्तविक स्वरूप है।

तमित्यादिपदत्रये द्वितीया प्रथमार्थे द्रष्टव्या। यः परमात्मा शान्तः क्रोधादिविक्षेपरहितः अचलोगमनादिक्रियारहितः, स्वगतसजातीयविजातीयद्वैतशून्यः सच्चिदानन्दैकरसोऽस्ति स एवाऽहमस्मि। तदेव ब्रह्मतत्त्वं मम योगिनः परमधाम वास्तवं स्वरूपम्। न त्वेतत्कर्तृत्वभोक्तृत्वादियुक्तम्। एतस्य मायाकल्पितत्वात्।

अर्थः—जो परमात्मा शान्त अर्थात क्रोधादि विक्षेपरहित है, अचल अर्थात गमनादिक्रियारहित है, सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित है, और अखण्ड सत चित आनन्द स्वरूप है, वही मैं हूं। वह ब्रह्म स्वरूप हीं मैं हूं, योगी का परम

धाम अर्थात् वास्तविक स्वरूप है। कर्तापन, भोक्तापन, इत्यादि धर्मवाला मेरा स्वरूप नहीं, वह तो, माया कल्पित है।

नन्वात्मनः परब्रह्मत्व आनन्दावाप्तिरिदानीं कुतो नेत्यत्राऽऽनन्दावाप्तिः सदृष्टान्तमुक्ताऽभियुक्तैः।

अर्थः—जो आनन्द स्वरूप होयतो, वह सदा सब में स्थित है, तब इस समय आनन्द की प्रतीति क्यों नहीं होती ? ऐसी शङ्का का उत्तर विद्वानों ने दृष्टान्त सहित दिया है।

"गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
तदेव कर्म रचितं पुनस्तस्यैव भेषजम्"॥
एवं सर्वशरीरस्थः सर्पिर्वत् परमेश्वरः।
विना चोपासनं देवो न करोति हितं नृषु" इति।

यदि योगिनः पूर्वाश्रमप्रसिद्धा आचार्यपितृभ्रात्रादयः कर्मिणः श्रद्धाजडाः शिखायज्ञोपवीतसन्ध्यावन्दनादिराहित्येन पाखण्डित्वमारोप्य व्यामोहयेयुस्तदा व्यामोहनिवृत्तये योगिनां वर्त्तमानं निश्चयं दर्शयति॥

अर्थः—जैसे घी गौ के शरीर में ही रहता, तौ भी वह उसके शरीर का पोषण नहीं करता, परन्तु वही क्रिया द्वारा बाहर निकाला जाता है तो, शरीर की पुष्टि का औषध स्वरूप होता है। तैसे परमात्मा देव, घी के समान शरीर में रहता है तथापि वह उपासना विना मनुष्य का हित नहीं करता।

यदि योगी के पूर्वाश्रम के प्रसिद्ध गुरु, पिता, भाई, आदिक सम्बन्धीजन, कर्मठ और श्रद्धाजड़ वे शिखा, यज्ञोपवीत, संध्यावन्दन आदि के अभाव के कारण उस में पाखंडिपन का

आरोप कर उसको व्यामोह उत्पन्न करे तो, उस व्यामोह की निवृत्ति के लिये योगी के वर्तमान निश्चय को दिखलाते हैं—

"तदेव च शिखा तदेवोपवीतं च परमात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या" इति ।

अर्थः—वह ब्रह्म ही शिखा है, वही उपवीत है, और जीवात्मा परमात्मा के अभेद से जो उनका भेद नाश होता, वही संध्या है ।

यद्वेदान्तवेद्यस्य परब्रह्मणोज्ञानं तदेव कर्माङ्गभूतबाह्य शिखायज्ञोपवीतस्थानीयम् । अन्ये च मन्त्रद्रव्यलक्षणे कर्माङ्गभूते चकारात् समुच्चीयंते । शिखाद्यङ्गसाध्यैः कर्मभिरुत्पन्नं यत् स्वर्गादिसुखं तत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेनैव लभ्यते । विषयानन्दस्य सर्वस्य ब्रह्मानन्दलेशत्वात् ।

"एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

इति श्रुतेः । एतदेवाभिप्रेत्याऽऽथर्वणिका ब्रह्मोपनिषद्यामनन्ति—

अर्थः—वेदान्त से जानने योग्य परमात्मा का जो ज्ञान, वही कर्म के अङ्ग भूत बाहरी शिखा, यज्ञोपवीत, की जगह है । और अन्य मन्त्र द्रव्य लक्षण कर्माङ्गभूत का दो चकार से समुच्चय होता है । शिखा आदिक अङ्गों से करने योग्य कर्मों से उत्पन्न हुए जो स्वर्ग आदि सुख हैं, वे सब ब्रह्म ज्ञान से ही प्राप्त होते हैं । क्योंकि सम्पूर्ण विषयानन्द ब्रह्मानन्द का लेश

रूप है, श्रुति अन्य प्राणिगण इसी ब्रह्मानन्द के लेश को भोगते हैं ऐसा कहती है। इसी अभिप्राय से अथर्ववेद के जानने वाले ब्रह्मोपनिषद् में कहते हैं।

"सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥
सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः।
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममाश्रितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टोनाशुचिर्भवेत्।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्॥
ते वै सूत्रविदो लोके तेच यज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा॥
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः।
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः॥
तैर्धिधार्यमिदं सूत्रं कर्माङ्गं तद्धि वै स्मृतम्।
शिखा ज्ञानमयी यस्योपवीतश्चापि तन्मयम्॥
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदोविदुः।
इदं यज्ञोपवीतं च परमं यत्परायणम्॥
विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्तज्ज्ञास्तं यज्विनं विदुः"
इति॥

अर्थः—शिखा सहित क्षौर करा के विद्वान् परमहंस बाह्य सूत्र का त्याग करे । जो नाश रहित पर ब्रह्म है, वह सूत्र है, इस लिये उस को धारण करे । वेदान्त शास्त्र सूचित करता है, इस लिये परम पद (परमात्मा सूत्र है) इस सूत्र को जिस ने जाना उसी ब्राह्मण ने वेद का पार पाया है । जिस तरह सूत्र में मणि गुथे हुए रहते वैसे ही सारा दृश्य जगत् जिस के द्वारा व्याप्त है, उस सूत्र को योगवित् और तत्त्व दर्शी पुरुष-धारण करे । उत्तम योग का आश्रम करने हारे विद्वान् को बाह्य यज्ञोपवीत त्यागना चाहिये । जो पुरुष ब्रह्म की सत्तारूप सूत्र को धारण करते वह ज्ञानवान् है । यह सूत्र धारण करने से पुरुष उच्छिष्ट या अशुचि नही होता जो ज्ञान रूपी यज्ञो-पवीत वाले पुरुष के भीतर, उपर कहा हुआ सूत्र रहता वे ज-गत् में सूत्र को जाननें हारे है, और वेही नित्यसिद्ध यज्ञोपवीत वाले हैं । जिन को ज्ञानरूप शिखा है, जो ज्ञान में ही निष्ठा-वाला है, तथा जिन को ज्ञानरूप यज्ञोपवीत है, उन्ही को परम पावन ज्ञान है ऐसा कहा है । जैसे अग्नि को अपने स्वरूप से अलग शिखा नही, तैसे जिस को ज्ञानरूप शिखा है, वही शिखा वाला कहलाता है, इतर केश को धारण करने हारा शिखा युक्त नही । जो ब्राह्मण आदि वर्ण वैदिक कर्म में अ-धिकारी है, उन्हे बाह्य सूत्र धारण करना चाहिये । क्योंकि वे कर्म के अङ्गभूत है । जिन को ज्ञान रूप शिखा है, और ज्ञान मय उपवीत है उनका ही सम्पूर्ण ब्राह्मणपन है, ऐसा वेद वेत्ता लोग कहते हैं । यह प्रसिद्ध, श्रेष्ठ और सब का उत्तम आश्रम रूप जो ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत है, उस को आपे से अभिन्न जानता है, वह यज्ञोपवीत वाला है, और उस को ही ज्ञानी

लोग यज्ञ करने द्वारा कहते हैं ॥

तस्माद्योगिनः शिखायज्ञोपवीते विद्येते । तथैव सन्ध्याऽपि विद्यते । यः शास्त्रगम्यः परमात्मा यश्चाहम्प्रत्ययगम्यो जीवात्मा तयो- रेकत्वज्ञानेन महावाक्यजन्येन भ्रान्तिप्रती- तो भेदो विशेषेण भग्न एव पुनर्भ्रान्त्यनु- दयो भङ्गस्य विशेषः । येयमेकत्वबुद्धिः सेय- मुभयोरात्मनोः सन्धौ जायमानत्वात्संध्येत्यु- च्यते । अहोरात्रयोः सन्धावनुष्ठेया क्रिया यथा सन्ध्या तद्वत् । एवं च सति योगी श्र- द्धाजडैर्न व्यामोहयितुं शक्यः ।

कोऽयं मार्ग इति प्रश्नस्यासौ स्वपुत्रेत्यादि- दिनोत्तरमुक्तम् । का स्थितिरित्येतस्य महा- पुरुष इत्यादिना सङ्क्षिप्योत्तरमुक्त्वा संशय- विपरीतेत्यादिना तदेव प्रपञ्च्येदानीमुप- संहरति ।

अर्थः—तिस कारण योगी को शिखा और यज्ञोपवीत होता है । उसी प्रकार उस को सन्ध्याभी है । जो शास्त्रगम्य परमात्मा है तथा जो मैं ऐसा प्रतीति द्वारा गम्य जीवात्मा है, उन के अभेद को विषय करने वाले महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान करके भ्रान्ति से प्रति होने वाला विशेष रूपसे नष्ट होता है फिर से उदय को नहीं प्राप्त होना यही नाशमे विशेष है । इस भांति दोनों का अभेद ज्ञान जीवात्मा परमात्मा की सन्धि में होता है । इसलिये वह योगी की सन्ध्या कही जाती है । जैसे रात दिन की सन्धि में करने योग्य क्रिया सन्ध्या

कहलाती, उसी भांति अपरोक्ष ज्ञान भी जीवात्मा और परमात्मा की सन्धि में होता है । इसलिये वह भी परमहंस की सन्ध्या ही समझी जाती है । इस प्रकार विचार करने हारे योगी को श्रद्धाजड पुरुष व्यामोह उत्पन्न नहीं कर सक्ता । परमहंस का कौन मार्ग है ? उस का उत्तर 'स्वपुत्र०' इत्यादि श्रुति द्वारा दिया है । उस के बाद उस की स्थिति कैसी होती है ? इस का उत्तर 'महापुरुष०' इत्यादि वचन से संक्षेप में देकर और 'संशय०' इत्यादि वचन से उसका विस्तार से उत्तर दिया, अब उपसंहार करते हैं—

"सर्वान्कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः" इति ।

अर्थः—सब कामनाओं का परित्याग कर योगी परमहंस की परम अद्वैत में स्थिति होती है।

क्रोधलोभादीनां कामपूर्वकत्वात्कामपरित्यागेन चित्तदोषाः सर्वेऽपि परित्यज्यन्ते । एतदेवाभिप्रेत्य वाजसनेयिभिराम्नातम्—

अर्थः—क्रोध आदिकों की उत्पत्ति भी काम से ही है, इसलिये काम के परित्याग द्वारा चित्त के सब दोषों का त्याग समझना इसी अभिप्राय से वाजसनेयी शाखा वाले कहते हैं:—

"अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः" इति । अतो निष्कामस्य योगिचित्तस्याऽद्वैते निर्विघ्ना स्थितिरुपपद्यते ॥

अर्थः—और यह पुरुष निश्चय काम मय ही है—इसलिये निष्काम योगी के चित्त की अद्वैत ब्रह्म में निर्विघ्न स्थिति घटती है ॥

ननु दण्डग्रहणविधिवासनयोपेता विविदिषासंन्यासिनो योगिनं दण्डरहितं परमहंसं नाभ्युपगच्छन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—दण्ड ग्रहण की विधि की वासना से युक्त विविदिषा संन्यासी दण्ड रहित योगी को परमहंस नहीं मानते, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं—

"ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ॥
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ।
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ॥
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ।
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः" इति ॥

अर्थः—जिस ने ज्ञान दण्ड धारण किया है, वह एक दण्डी कहलाता है । जो काष्ठ का दण्ड धारण कर सब का अन्न खाता, और ज्ञान रहित है, वह संन्यासी महा रौरव नामक घोर नरक में जाता है । तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, और शमादि गुण रहित जो संन्यासी केवल भिक्षा मांगकर जीवे वह, पापी सन्यासियों का स्वरूप भंग करने वाला है । इस भांति एक दण्डी, और दण्ड रहित योगी पुरुषों में अन्तर समझ कर योगी पुरुष को ही परमहंस कहना ठीक है ।

परमहंसस्य योऽयमेकदण्डः स द्विविधः । ज्ञानदण्डः काष्ठदण्डश्च । यथा त्रिदण्डिनो-वाग्दण्डो मनोदण्डः कायदण्डश्चेति त्रैविध्यम् । वाग्दण्डादयो मनुना स्मर्यन्ते—

अर्थः—परमहंस का एक दण्ड दो प्रकार का है—एक

काठ का दण्ड दूसरा ज्ञान रूपी दण्ड । जैसे त्रिदण्डी संन्यासी को काठ के दण्ड के सिवाय वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और काय दण्ड हैं, तैसे परमहंस को ज्ञान दण्ड है । वाग्दण्डादि तीन दण्ड मनुभगवान् कहते हैं—

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता बुद्धौ स त्रिदण्डीति चोच्यते ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं निगच्छति ॥

तेषां स्वरूपं दक्षः स्मरति—

अर्थः—वाणी, मन और शरीर को दण्ड के समान पकड़ के वश में रखने से संन्यासी त्रिदण्डी कहलाता है । मनुष्य सब प्राणियों में इन तीन दण्डों को रख के काम क्रोध को नियम से रक्खे, तब वह सिद्धि को पाता है । इनके स्वरूप को दक्षस्मृति कहती है:—

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डास्त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डे त्वनीहताम् ।
मानसस्य तु दण्डस्य प्राणायामो विधीयते"

इति ।

अर्थः—वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और कर्मदण्ड इन तीन दण्डों को जिस ने नियम से वश में कर रक्खा है, वे त्रिदण्डी कहलाते हैं । वाग्दण्ड में मौन धारण करना, कर्मदण्ड में क्रिया रहित होना, और मनोदण्ड के बदले प्राणायाम करना ।

"कर्मदण्डो ऽल्पभोजनम्" इति स्मृत्यन्तरपाठः । ईदृशं त्रिदण्डित्वं परमहंसस्याप्यस्ति ।

तदेतदभिप्रेत्य पितामहः स्मरति—

अर्थः—'थोडा भोजन करना, यह कर्मदण्ड है' ऐसा अन्य स्मृति में पाठ है । ऐसा त्रिदण्डी होना परमहंस का भी है । इसी अभिप्राय से श्री ब्रह्मा कहते हैं:—

"यतिः परमहंसस्तु तुर्याख्यः श्रुतिचोदितः ।
यमैश्च नियमैर्युक्तो विष्णुरूपी त्रिदण्डभृत्" इति ।

अर्थः—परमहंस संन्यासी को श्रुति ने तुर्य—इस नाम से कथन किया है । यम नियम युक्त और वाग्दण्ड आदि तीन दण्ड धारण करने हारे यति विष्णुरूप हैं ।

एवं सति मौनादीनां वागादिदमनहेतुत्वाद्यथा दण्डत्वं तथैवाज्ञानतत्कार्यदमनहेतोर्ज्ञानस्य दण्डत्वम् । अयं ज्ञानदण्डो येन परमहंसेन धृतः स एव मुख्य एकदण्डीत्युच्यते । मानसस्य ज्ञानदण्डस्य कदाचिच्चित्तविक्षेपेण विस्मृतिः प्रसज्येतेति तन्निवारणार्थं स्मारकः काष्ठदण्डो ध्रियते । तदेतच्छास्त्रार्थरहस्यमबुद्ध्वा वेषमात्रेण पुरुषार्थसिद्धिमभिप्रेत्य काष्ठदण्डो येन परमहंसेन धृतः स पुरुषो बहुविधसन्तापोपेतत्वाद्घोरान्महारौरवसंज्ञकान्नरकानाप्नोति । तत्र हेतुरुच्यते । परमहंसवेषं दृष्ट्वा ज्ञानित्वभ्रान्त्या सर्वे जनाः स्वस्वगृहे भोजयन्ति । स्वयं च जिह्वालम्पटो वर्ज्यावर्ज्यविवेकमकृत्वा सर्वमन्नमश्नाति तेन प्रत्यवायं प्राप्नोत्यज्ञानी । यानि तु "नान्नदोषेण मस्करीति" "चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्ष्यम्" इत्यादि स्मृ-

तिवचनानि ज्ञानिविषयाणि। अयं च ज्ञानव-र्जितः इति युक्तोऽस्य नरकः । अत एव ज्ञानहीनस्य यतेर्भिक्षानियममाह मनुः ।

अर्थः—ऐसा है इस लिये जैसे मन आदि, वाणी आदि के दमन का कारण होने से दण्डरूप है, वैसेही ज्ञान भी अ-ज्ञान और उस के कार्य्य को दमन करने वाला होने से दण्ड-रूप है । यह ज्ञान दण्ड जिस परमंहस ने धारण किया है वही मुख्य एक दण्डी कहलाता है । मानस दण्ड का किसी समय चित्त के विक्षेप द्वारा विस्मरण होने का प्रसङ्ग, आ पडे तो, उस के स्मरण के लिये स्मारक चिन्हरूप से काष्ठ दण्ड धारण किया जाता है । इस भान्ति शास्त्र के तात्पर्य समझे विना केवल वेष मात्र से जिसने काठ का दण्ड धारण किया हो यह परमहंस अनेक प्रकार के सन्ताप युक्त होने से घोर महारौरव नामक नरक में जाता है ।

नरक प्राप्तिका कारण यह है कि केवल परमहंस का वेष देख कर सब लोग ' यह ज्ञानी होगा ' ऐसी भ्रान्ति से उस को अपने २ घर भोजन कराते और वह स्वयं भी जिह्वा इस में लम्पट होने से वर्ज्य अवर्ज्य के विवेक को त्याग कर खाता है, उस से वह अज्ञानी वेषधारी परमहंस पापी होता है । 'सं-न्यासी को अन्न का दोष नहीं लगता'-और 'संन्यासी चारो-वर्णों की भिक्षा ग्रहण करे" इत्यादि स्मृति वाक्य ज्ञानवान् 'सं-न्यासी के विषय में हैं, अज्ञानी संन्यासी भक्ष्य अभक्ष्य का-विवेक त्यागने से नरक का ही अधिकारी है । जिस को ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ वैसे संन्यासी के लिये मनु जी भिक्षा का नियम करते हैं—

"न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्"॥
एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यति विषयेष्वपि सज्जते" इति ॥
ज्ञानाभ्यासिनं प्रति त्वेवं स्मर्यते—

अर्थः—उत्पात के कथन द्वारा शुभाशुभ निमित्त के सूचन द्वारा, नक्षत्र विद्या द्वारा, सामुद्रिक द्वारा, उपदेश द्वारा, वाद करके, किसी समय संन्यासी भिक्षा मिलने की इच्छा नहीं रक्खे । एक ही समय भीख लेवे, अधिक भिक्षा में आसक्त न हो । क्योंकि जो यति भिक्षा में प्रीति वाला होता है, तो, वह विषयों में भी आसक्त हो जाता है । ज्ञानाभ्यासी परमहंस के लिये इस भांति स्मृति कहती है ।

"एकवारं द्विवारं वा भुञ्जीत परमहंसकः ।
येन केन प्रकारेण ज्ञानाभ्यासो भवेत्सदा" इति ।
एवं च सति ज्ञानदण्डकाष्ठदण्डयोर्यदन्तरमुत्तमत्वाधमत्वरूपं तदिदमवगत्योत्तमं ज्ञानदण्डं यो धारयति स एव मुख्यः परमहंस इत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

अर्थः—परमहंस संन्यासी एक वार या दो वार भोजन करे । सब तरह से वह ज्ञानाभ्यास ही में तत्पर रहे ।

इस भांति ज्ञान दण्ड की उत्तमता और काष्ठ दण्ड की अधमता समझ के जो ज्ञान दण्ड धारण करता है वही मुख्य परमहंस है ऐसा मानना चाहिये ।

नन्वस्त्वभिज्ञस्य परमहंसस्य ज्ञानदण्डो, माभूत् काष्ठदण्डनिर्बन्धः, इतरा तु चर्या सर्वा-

कीदृशीत्याशङ्क्याऽऽह ।

अर्थः—ज्ञानवान् परमहंस को ज्ञान दण्ड रहे, उसको काष्ठ दण्ड के लिये आग्रह न हो, परन्तु बाकी उस की चर्या (वर्त्ताव) कैसी होती है ? ऐसी शङ्का के उत्तर में कहते हैं।

"आशाम्बरोनिर्नमस्कारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिकोभवेद्भिक्षुर्नाऽऽ-वाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक् नापृथक् न चाहं न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थितिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत् तल्लोकं नावलोकयेच्च" इति ।

आशा दिशस्ता एवाम्बरं वस्त्रमाच्छादनं यस्यासावाशाम्बरः । यत्तु स्मृतिवचनम् ।

अर्थः—दिशा रूपी वस्त्र धारण करने हारा, नमस्कार रहित, निन्दास्तुति रहित, सब व्यवहारों में आग्रह रहित, संन्यासी होवे । देवता आवाहन, विसर्जन, मन्त्रजप, ध्यान, और उपासना आदि उसे न करना चाहिये । उस को लक्ष्यार्थ, अलक्ष्यार्थ, पृथक्, अपृथक्, मैं, तू, सर्व, इत्यादि कोई विकल्प नहीं । उस को एक जगह मुकाम न करना चाहिये, सुवर्णादि ग्रहण न करे, और सुवर्णादि उसी प्रकार शिष्य आदि के सामने भी अवलोकन न करे ।

'आशा' अर्थात् दिशारूपी वस्त्र धारण करने वाले योगी 'आशाम्बरधर' या 'दिगम्बर' कहलाते हैं ।

"जान्वोरूर्ध्वमधोनाभेः परिधायैकमम्बरम् ।
द्वितीयमुत्तरं वासः परिधाय गृहानटेत्" इति ।

अर्थः—घुटने के ऊपर और नाभि के नीचे एक वस्त्र धारण कर और ऊपर दूसरा वस्त्र धारण कर यति घर २ भीख मांगने को जावे।

यह स्मृति वाक्य, जो सन्यासी योगी नहीं, उसके लिये समझना। वैसाही—

"योभवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि।
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन" इति॥

अर्थः—जिसने अपनी अपेक्षा प्रथम संन्यास ग्रहण किया हो, और धर्म मे अपने समान होय उस संन्यासी को प्रणाम करे, इतर संन्यासी को किसी समय नहीं प्रणाम करे।

तस्याप्ययोगिविषयत्वान्नास्य नमस्कारः कर्त्तव्योऽस्ति। अत एव ब्राह्मणलक्षणे "निर्नमस्कारमस्तुतिम्" इत्युदाहृतम्। गयाप्रयागतीर्थेषु श्रद्धाजाड्यात्प्राप्तः स्वधाकारो निषिध्यते, पूर्वत्र निन्दागर्वेत्यादिवाक्येन परकृतया स्वनिन्दया क्लेशोनिवारितः, अत्र तु स्वकर्त्तृकेऽन्यविषये निन्दास्तुती निषिध्येते। यादृच्छिकत्वं निर्बन्धराहित्यम्। न क्वचिदपि व्यवहारे निर्बन्धं कुर्यात्। यस्तु देवपूजायां निर्बन्धः स्मर्यते—

अर्थः—यह वचन भी अयोगी संन्यासी के लिये हैं। योगी संन्यासी किसी को नमस्कार न करे। इसी लिये पहिले ब्राह्मण लक्षण के वर्णन में 'नमस्कार और स्तुति रहित' ऐसा कथन कर आये हैं। गया, प्रयाग आदिक तीर्थों में जाकर अतिशय श्रद्धा वशतः प्राप्त हुए श्राद्ध का भी उस को निषेध

है। पूर्व में 'निन्दा गर्व' इत्यादि वाक्य से, अन्य द्वारा कियी हुई अपनी निन्दा से हुए क्लेश का वारण किया और यहां तो आपे मे दूसरी की निन्दा और स्तुति का निषेध करता है। कोई भी व्यवहार उस को आग्रह पूर्वक न करना चाहिये।

"भिक्षाटनं जपः शौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनम् ।
कर्तव्यानि षडेतानि सर्वथा नृपदण्डवत्" इति॥

अर्थः—भिक्षाटन करना, जप, शौच, स्नान, ध्यान, और देव पूजन, ये छः कर्म संन्यासी, राजदण्ड के समान सर्वथा करे।

तस्याप्ययोगिविषयत्वमभिप्रेत्य नाऽऽवाहनमित्याम्नातम् । सकृत्स्मरणं ध्यानम्, नैरन्तर्येणानुस्मरणमुपासनमिति तयोर्भेदः । यथा योगिनः स्तुतिनिन्दालौकिकव्यवहाराभावः, यथा वा देवपूजादिधर्मशास्त्रव्यवहाराभावः, तथा लक्ष्यत्वादिज्ञानशास्त्रव्यवहारोऽपि नास्ति । यत्साक्षिचैतन्यमस्ति तदिदं तत्त्वमसीति वाक्ये त्वंपदेन लक्ष्यं देहादिविशिष्टं चैतन्यं लक्ष्यं न भवति, किंतु वाच्यम् । तच्च वाच्यं तत्पदार्थात्पृथक्, लक्ष्यं त्वपृथक् । स्वदेहनिष्ठो वाच्योऽर्थोऽहमिति व्यवहारार्हः । परदेहनिष्ठस्त्वमिति व्यवहारार्हः । लक्ष्यं वाच्यमित्युभयविधं चैतन्योपेतमन्यज्जडं जगत्सर्वमिति व्यवहारार्हमित्येतादृशो विकल्पो न कोऽपि योगिनोऽस्ति, तदीयचित्तस्य ब्रह्मणि विश्रान्तत्वात् । अत एव स भिक्षुरनिकेतस्थितिरेव । यदि निय-

तन्निवासार्थं कश्चिन्मठं सम्पादयेत्तदानीं त-
स्मिन्ममत्वे सति तदीयहानिवृद्ध्योश्चित्तं चि-
क्षिप्येत । तदेवाभिप्रेत्य गौडपादाचार्या
आहुः ।

अर्थः—इस भांति स्मृति में देव पूजन में आग्रह बतलाया है, वह भी योगी के लिये नहीं । इसी अभिप्राय से 'नावाहनं' इत्यादि श्रुति ने कथन किया है । एकवार स्मरण करने का नाम 'ध्यान' और निरन्तर स्मरण करने का नाम 'उपासना' है, यही ध्यान और उपासना में भेद है । जैसे योगी को स्तुति आदिक लौकिक व्यवहार नहीं होते और जैसे देव पूजा आदि धर्मशास्त्र सम्बन्धी व्यवहार नहीं होते तैसे लक्ष्यत्व आदि ज्ञान शास्त्र का व्यवहार भी उस को नहीं होता । सो इस भांति जो साक्षी चैतन्य है, वह "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में 'त्वं' पद द्वारा लक्ष्य है, देहादि उपाधि युक्त चैतन्य 'त्वं' पद का लक्ष्य अर्थ नहीं है, परन्तु वह 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ है । वह वाच्य अर्थ तत् पद के अर्थ से अलग है, लक्ष्य अर्थ पृथक् नहीं । अपने देह में स्थित वाच्य अर्थ 'अहं' (मैं) ऐसे पद द्वारा व्यवहार करना योग्य है । तथा अन्य देह में स्थित वाच्य अर्थ 'त्वं' (तू) ऐसे पद से व्यवहार करना योग्य है । लक्ष्य तथा वाच्य इन दो प्रकार के चैतन्य रहित अन्य जड जगत् 'सर्व' ऐसा व्यवहार करना योग्य है । इस प्रकार का कोई भी विकल्प योगी को फुरता नहीं क्योंकि उस का चित्त ब्रह्म में विश्राम को प्राप्त होता है । इस लिये वह संन्यासी एक जगह वास नहीं करता । क्योंकि जो एक ही जगह में वास करने के लिये वह कोई मठ बान्धे तो, उस में ममत्व बन्धन से जो उस की

हानि या वृद्धि होती होय तो, उस का चित्त विक्षेप को प्राप्त हो । इसी अभिप्राय से गौडपादाचार्य्य कहते हैं—

"निस्तुतिर्निर्नमस्कारोनिःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्"इति।
यथा मठो न परिग्रहीतव्यस्तथा सौवर्णराजतादीनां भिक्षाचमनादिपात्राणामेकमपि न गृण्हीयात् । तदाह यमः—

अर्थः—किसी की भी स्तुति या नमस्कार करने में प्रवृत्ति रहित, श्राद्ध न करने हारा, शरीर और आत्मा रूप घरवाला, और आग्रह रहित संन्यासी को होना चाहिये ।

जैसे मठ न बान्धे, तैसे सोना रूपें की भिक्षा या आचमनादि के पात्र में से एक भी उस को न रखना चाहिये । यम स्मृति में भी ऐसा ही कहा है—

"हिरण्यमयानि कृष्णायसमयानि च ।
यतीनां नान्यपात्राणि वर्जयेत्तानि-भिक्षुकः"इति।
मनुरपि—

अर्थः—सोने का पात्र, लोहे का पात्र इत्यादि अन्य पात्र यति को रखने योग्य नहीं । इस लिये भिक्षु उन का त्यागकरे।

मनुजी भी ऐसा ही कहते हैं—

"अनैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानिच ।
तेषां मृदूभिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥
अलाबुदारुपात्रं वा मृन्मयं वैणवं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्"इति।
बोधायनोऽपि—

अर्थः—संन्यासी के लिये धातु के पात्र न हों, और टूटे

फूटे या छिद्रवाले भी न हों, जैसे यज्ञ के चमस पात्र की शुद्धि मट्टी से होती, उसी तरह संन्यासियों के पात्रों की भी शुद्धि होती है। तुम्बी का पात्र, काट का पात्र, माटी का पात्र और बांस का पात्र इतने यतियों के पात्र होते हैं, स्वायंभव मनुजी ने कहा है।

बौधायन भी ऐसा ही कहते हैं—

"स्वयमाहृतपर्णेषु स्वयंशीर्णेषु वा पुनः।
भुञ्जीत न वटाश्वत्थकरंजानां च पर्णके॥
आपद्यपि न कांस्येषु मलाशी कांस्यभोजनः।
सौवर्णे राजते ताम्रे मृन्मये त्रपुसीसयोः" इति।
तथा लोकं जनं शिष्यवर्गं न गृह्णीयात्।
तदाह मनुः—

अर्थः—स्वयं लाये हुए या स्वयं गिरे पडे पत्तों पर यति भोजन करें। तो भी बड, पीपल, और करंज, के पत्ते पर भोजन न करें। आपत्काल में भी कांस्य पात्र में भोजन न करें, क्योंकि कांस्य पात्र में भोजन करने द्वारा यती मल का भोजन करने वाला है। वैसे सोना, रूपा और तामे के पात्र में उसी तरह माटी का कलाई या सीसा के पात्र में भोजन न करे।

संन्यासी, लोक यानी शिष्यों का भी संग्रह न करे इस सम्बन्ध में मनुजी बोलते हैं।

"एक एवचरेत् नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः।
सिद्धिमेकस्य पश्यन् हि तज्जहाति न हीयते"
इति।
मेधातिथिरपि—

अर्थः—अकेला की सिद्धि देख कर मोक्ष के लिये नाकर

आदिक की सहायता विना ही यती नित्य अकेला विचरे वह किसी का त्याग नहीं करता और न उसे लोग त्यागते ।

मेधातिथि भी कहते हैं—

"आसनं पात्रलोभश्च संचयः शिष्यसंग्रहः ।
दिवा स्वापो वृथाऽऽलापो यतेर्बन्धकराणि षट् ॥
एकाहात्परतो ग्रामे पञ्चाहात्परतः पुरे ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ।
उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापि न सङ्ग्रहः ।
भिक्षोर्भैक्षभुजश्चापि पात्रलोभः स उच्यते ॥
गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ।
कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्त्तितः ॥
शुश्रुषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ।
शिष्याणां न तु कारुण्यात्स ज्ञेयः शिष्यसंग्रहः ॥
विद्या दिनं प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ।
विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ॥
आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भैक्षचर्या सुरस्तुतिः ।
अनुग्रहात्पथिप्रश्नो वृथाऽऽलापः स उच्यते" इति ॥

अर्थः—आसन, पात्र का लोभ, संचय, शिष्य का संग्रह, दिन का सोना, व्यर्थ बकना, ये छः संन्यासियों को बन्धन करने वाले वस्तु है । गांव में एक दिन वास करे शहर में पांच दिन, रहे, और चातुर्मास के सिवाय एक जगह मुकाम करें इस को आसन कहते हैं । भिक्षान्न का भोजन करने वाला यति उक्त तुम्बरी आदि पात्रों में से एक एक का भी संग्रह न करे, वह पात्र लोभ कहलाता है । दण्ड आदिक जो अपने पास हो, उस से विशेष आगे काम में आवेगा इस विचार से ग्र-

हण करना उस का नाम संचय है। अपनी सेवा के लिये, लाभ के लिये, पूजा के लिये, यश के लिये, या दया वशतः भी शिष्यों को साथ रखना 'शिष्य संग्रह, जानो। प्रकाश रूप होने से विद्या का नाम दिन और अन्धकार मय होने से अविद्या का नाम रात्रि है, इस लिये विद्या मे जो प्रमाद रक्खे उस का दिन में शयन कहते है। अध्यात्म शास्त्र की कथा में, भिक्षा मांगते समय, या देवता की स्तुति करते समय जो आवश्यक बोलना पडे उस के सिवाय रास्ते में जो सामने मनुष्य आते हों उन पर अनुग्रह कर उसी का कुशल प्रश्न पूछना वृथा भाषण है।

लोकं शिष्यजनरूपं न गृह्णीयादित्येतावदेव न भवति, किन्तु तस्य लोकस्यावलोकं दर्शनमपि न कुर्यात्। तस्य बन्धहेतुत्वात्। न चेत्यनेनान्यदपि स्मृतिनिषिद्धं न कुर्यादित्यभिप्रेतम्। तच्च निषिद्धं मेधातिथिर्दर्शयति—

अर्थः—शिष्य का संग्रह न करे ऐसा ही नहीं किन्तु उन का अवलोकन भी न करे। श्रुति में 'न च' यों च कारका ग्रहण किया है, इस लिये स्मृति के निषेध करने से अतिरिक्त अन्य वस्तु का भी त्याग करो ऐसा समझना चाहिये। निषिद्ध वस्तु मेधातिथि दिखलाते हैं—

"स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम्।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत्॥
रसायनं क्रियावादं ज्योतिषं क्रयविक्रयम्।
विविधानि च शिल्पानि वर्जयेत्परदण्डवत्" इति।

अर्थः—स्थावर, जङ्गम, बीज, तैजस पदार्थ, विष, और

शस्त्र इन छः वस्तुओं को यति मूत्र और पुरीष के समान ग्रहण न करें । रसायन, कर्म सम्बन्धी बात, ज्योतिष, अर्थात् किसी ग्रह आदिक को देखना, क्रय विक्रय और विविध कारीगरी, इतनी वस्तुओं को परायी स्त्री के समान त्याग देवे ।

योगिनो लौकिकवैदिकव्यवहारगतानि यानि बाधकानि सन्ति तेषां वर्जनमभिहितम् । अथ प्रश्नोत्तराभ्यामत्यन्तबाधकं प्रदर्श्य तद्वर्जनमाह ।

अर्थः—योगी को लौकिक उसी तरह वैदिक व्यवहार में जो बाधक वस्तु हैं, उन के त्याग का कथन किया हैं, अब प्रश्नोत्तर द्वारा अत्यन्त बाधक वस्तुओं को देखा कर उन का त्याग कहते हैं—

"आबाधकः क इति चेदाबाधकोऽस्त्येव । यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्सब्रह्महा भवेत् । यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसोभवेत् । यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत् । तस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च" इति ।

अर्थः—यति को अत्यन्त बाध करने वाला क्या पदार्थ हैं ?— उत्तर,— उस को अत्यन्त बाध करने वाली वस्तु है, क्योंकि यदि वह सुवर्ण को प्रीति पूर्वक देखे, तो वह ब्रह्महत्या करने वाला होता, और जो सुवर्ण को प्रीति पूर्वक छूवे तो, वह चाण्डाल होता, और भिक्षु जो सुवर्ण को प्रीति से ग्रहण करता तो, वह आत्मा को हनन करने वाला होता है । इस लिये

संन्यासी सुवर्ण को प्रीति से न देखे प्रीति से उस का स्पर्श न करे और प्रीति पूर्वक उस को ग्रहण भी न करे।

आकारोऽभिव्याप्त्यर्थः "आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ" इत्यभिहितत्वात्। अभिव्याप्तो बाधकोऽत्यन्तबाधकस्तस्य सद्भावं प्रतिज्ञाय हिरण्यस्य तथाविधबाधकत्वमुच्यते। रसेनाभिलाषयुक्तेनाऽऽदरेण हिरण्यं यदि दृष्टं स्यात्तदानीं स द्रष्टा भिक्षुर्ब्रह्महा भवेत्। हिरण्यासक्त्या तत्सम्पादनरक्षणयोः सर्वदा प्रयतमानस्तद्वैयर्थ्यपरिहाराय प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतिपादकान् वेदान्तान् दूषयित्वा तत्सत्यत्वमवलम्बते। ततः शास्त्रसिद्धमद्वितीयं ब्रह्म तेन भिक्षुणा हतमिव भवति। तस्मादसौ ब्रह्महा भवेत्। तथा च स्मर्यते।

अर्थः—'यति ही को अत्यन्त बाधक है, ऐसी प्रतिज्ञा कर सुवर्ण को अत्यन्त बाधक कहा है। यति जो सुवर्ण को इच्छा पूर्वक आदर सहित देखे तो वह ब्रह्म हत्या करने वाला होता है। क्योंकि सुवर्ण में आसक्ति होने से उस को मिलने और रक्षा करने के लिये सदा यत्न करता यति, सुवर्ण का व्यर्थ पन को हटाने के लिये, संसार के मिथ्यापन को प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों को दूषण देकर, उस के सत्यपन का अवलम्बन करता है। उस से शास्त्र सिद्ध अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को मानो संन्यासी ने मारडाला है। इस से वह ब्रह्म हत्या करने वाला होता है। स्मृति में भी ऐसा ही कहा है:—

"ब्रह्म नास्तीति यो ब्रूयाद्द्वेष्टि ब्रह्मविदं च यः।

अभूतब्रह्मवादी च त्रयस्ते ब्रह्मघातकाः" इति॥
"ब्रह्महा सतु विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः"।
अभिलाषपूर्वकं हिरण्यं स्पृष्टं चेत्तदा तत्स्प्र-
ष्टा भिक्षुः पतितत्वात्पौल्कसो म्लेच्छसदृशो
भवेत् । पातित्यञ्च स्मर्यते—

अर्थः—जो 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कहता, और जो ब्रह्मवित् पुरुष से द्वेष करता, और जो मिथ्या ब्रह्म वादी है, ये तीन पुरुष ब्रह्महत्या करने हारे हैं। सर्व धर्मों से भ्रष्ट हुए पुरुष को ब्रह्महत्या करने हारा जानो।

इच्छा पूर्वक सुवर्ण का स्पर्श करे तौभी वह स्पर्श करने हारा संन्यासी पतित होने से पुल्कस अर्थात् उसे म्लेच्छ समान जानो। इस का पतित होना स्मृति मैं लिखा है:—

"पतत्यसौ ध्रुवं भिक्षुर्यस्य भिक्षोर्द्वयं भवेत् ।
धीपूर्वं रेतउत्सर्गो द्रव्यसंग्रह एव च" इति ॥

अर्थः—जो संन्यासी बुद्धि पूर्वक वीर्यपात और धनका संग्रह ये दो वस्तु करता वह भिक्षु निश्चय पतित होता है।

अभिलाषपुरःसरं हिरण्यं न ग्राह्यम् । गृही-
तं चेत्तदा स भिक्षुर्देहेन्द्रियादिसाक्षिणमस-
ङ्गं चिदात्मानं हतवान् भवेत् । असङ्गत्वम-
पोह्य स्वात्मनो हिरण्यादि द्रव्यं प्रति भो-
क्तृत्वेन प्रतिपन्नत्वात् । तस्याश्चान्यथाप्रति-
पत्तेः सर्वपापरूपत्वं स्मर्यते—

अर्थः—संन्यासी इच्छा पूर्वक सुवर्ण को न ग्रहण करे। क्योंकि सुवर्ण ग्रहण करने से वह देहेन्द्रिय का साक्षी आत्मा का हनन करने हारा होता है। क्योंकि अपने

आत्मा के असङ्गपन को त्याग कर उस ने आत्मा को हिरण्य आदिक द्रव्य का भोक्ता होना माना है। आत्मा का अन्यथा ज्ञान सब पापरूप है, ऐसा स्मृति कहती है।

"योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा"॥
किञ्चाऽऽत्मघातिनः सुखलेशेनापि रहिता बहुविधदुःखेनाऽऽवृता लोकाः श्रूयन्ते—

अर्थः—जो आत्मा के स्वरूप अन्य प्रकार का हुआ स्वयं उस से अन्य प्रकार का मानना उस आत्मा को हरण करने वाले चोर पुरुष ने कौन पाप नहीं किया? बहुत किया।

आत्म घाती को जिस में लेश भी सुख नहीं ऐसे अनेक दुःख युक्त लोक की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति कहती है।

दृष्टं चेत्यनेन चकारेण श्रुतं च समुच्चीयते। स्पृष्टं चेत्यनेन कथितस्य समुच्चयः। ग्राह्यं चेत्यनेन व्यवहृतं चेति समुच्चयः। दर्शनस्पर्शनग्रहणवदभिलाषपूर्विका हिरण्यवृत्तान्तश्रवणतद्गुणकथनतदीयक्रयादिव्यवहारा अपि प्रत्यवायहेतव इत्यर्थः। यस्मात्साभिलाषहिरण्यदर्शनादयो दोषकारिणस्तस्माद्भिक्षुणा हिरण्यदर्शनादयो वर्जनीया इत्यर्थः॥
हिरण्यवर्जनस्य फलमाह—

अर्थः—सुवर्ण का दर्शन, उस का छूना, और उस का ग्रहण जैसे दोषों का कारण है, वैसेही अभिलाष पूर्वक सुवर्ण सम्बन्धी बात करना, और उस के गुणों का कथन करना और उस के द्वारा खरीद फरोख्त करना आदि व्यवहार करना भी

प्रसन्नत्यागका ही कारण है । सुवर्ण की इच्छा पूर्वक उस का दर्शन इत्यादि दोष उपजाने वाले होनेसे संन्यासी सुवर्ण सम्बन्धी सारे व्यवहारों को छोड देवे । सुवर्ण के त्याग का फल कहते हैः—

"सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते दुःखे नो द्विग्नः सुखे निःस्पृहस्त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदते च सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते," इति ।

अर्थः—जो पुरुष (द्रव्य की इच्छा त्यागकर) परमात्मा में ही स्थिति करता, उस के मन में रही हुई इच्छाओं का नाश हो जाता है । दुःख में तो उद्वेग पाता नहीं सुख में स्पृहारहित होता, उस के राग में त्याग होता, सर्व शुभ में वह स्नेह रहित होता, वह किसी से द्वेष नहीं करता, वह किसी पदार्थ से हर्ष को प्राप्त नहीं होता, और उस के सब इन्द्रियों की गति विषयों में से निवृत्त होती है ।

पुत्रभार्यागृहक्षेत्रादिकामानां सर्वेषां हिरण्यमूलत्वाद्धिरण्ये परित्यक्ते सति ते कामा मनोगता मनस्यवस्थानाद् व्यावर्तन्ते व्यावृत्ता भवन्ति । कामनिवृत्तौ सत्यां कर्मप्राप्तयोर्दुःखसुखयोरुद्वेगस्पृहे न भवतः । एतच्च स्थितप्रज्ञप्रस्तावे प्रपञ्चितम् । ऐहिकयोः सुखदुःखयोरधिच्छपकत्वे सत्यामुष्मिकविषयरागे ऽपि त्यागो भवति । ऐहिकसुखस्पृहायुक्तो हि तद्दृष्टान्तेनानुमित

आमुष्मिके सुखे रागवान् भवति । तस्मादैहिकनिःस्पृहस्याऽऽमुष्मिके रागाभावो युज्यते । एवं सति सर्वत्र लोकद्वयेऽपि यौ शुभाऽशुभावनुकूलप्रतिकूलविषयौ तयोरनभिस्नेहः । एतच्च द्वेषराहित्यस्याप्युपलक्षणम् । तादृशो विद्वान् शुभकारिणं कंचिदपि पुरुषं न द्वेष्टि शुभकारिणि च मोदं न प्राप्नोति । द्वेषमोदरहितो यः पुमानात्मन्येव सर्वदाऽवतिष्ठते तस्य सर्वस्य सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिः प्रवृत्तिरुपरमते । इन्द्रियोपरतौ न कदाचिदपि निर्विकल्पकसमाधेर्विघ्नो भवति । तेषां का स्थितिरिति प्रश्नस्य सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुत्तरं पूर्वमुक्तं तदेवात्र पुनरपि हिरण्यनिषेधप्रसङ्गेन स्पष्टीकृतम् ॥

अर्थः—पुत्र, स्त्री, घर, क्षेत्र, इत्यादि सब भोग्यपदार्थों का मूल सुवर्ण अर्थात् द्रव्य है । इस लिये उस का त्याग करने से स्त्री पुत्रादि कों के मन में रही हुई इच्छा भी निवृत्त होजाती काम की निवृत्ति होने पर कर्म द्वारा प्राप्त सुख और दुःख में से स्पृहा और उद्वेग दूर होजाते हैं । यह वार्त्ता स्थित प्रज्ञ के प्रसङ्ग में विस्तार पूर्वक वर्णन कियी गयी है । ऐहिक सुख दुःख के अनादर होने से परलोक के सुख में से भी राग त्याग होता है । क्योंकि जिस को इस लोक के सुख मे स्पृहा होती उस को इस लोक के सुख पर से अनुमान किया पारलौकिक सुख में भी इच्छा होनी सम्भव है । इस लिये ऐहिक सुख में निःस्पृह पुरुष को परलोक के सुख में विराग घटता है । इस प्रकार

इन दोनों लोकों के अनुकूल वैसाही प्रतिकूल विषयों में राग द्वेष रहित होता है । ऐसा विद्वान् अपने अशुभ करने हारे किसी भी पुरुष से द्वेष नहीं करता, उसी तरह अपने शुभ करने वाले पर प्रसन्न नहीं होता । राग द्वेष रहित जो पुरुष आत्मा में ही स्थिति करता, उस की सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति उपराम को प्राप्त होती हैं । वैसा होने पर किसी समय भी उसको निर्विकल्प समाधि में विघ्न नहीं होता ।

जीवन्मुक्त पुरुष की कैसी स्थिति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप और विस्तार से पहिले दिया गया । उस का ही यहां फिर हिरण्य के निषेध के प्रसङ्ग से स्पष्टी करण किया है ।

अथ विद्वत्संन्यासमुपसंहरति ।

"यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृत कृत्यो भवति" इति ॥

यद्ब्रह्म वेदान्तेषु पूर्णानन्दैकबोधः परमात्मेति निरूपितं तद्ब्रह्माहमस्मीत्येवं सर्वदाऽनुभवन्नयं योगी परमहंसः कृतकृत्यो भवतीति । तथा च स्मर्यते—

अर्थ—अब विद्वत्संन्यास का उपसंहार कहते हैं । जिस ब्रह्म का वेदान्त में पूर्णानन्द स्वरूप, अखण्ड ज्ञान स्वरूप और परमात्मा रूप से निरूपण किया है, वह ब्रह्म मैं हूं, इस प्रकार निरन्तर अनुभव करता हुआ योगी परमहंस कृत कृत्य होता है, स्मृति में भी ऐसा ही कहा है—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्" इति ॥

अर्थः—ज्ञान रूप अमृत द्वारा तृप्ति को प्राप्त हुए कृतकृत्य योगी को कुछ भी कर्तव्य नहीं। और जो कर्त्तव्य हो तो, वह तत्त्वज्ञ नहीं।

जीवन्मुक्तिविवेकेन बन्धं हार्दं निवारयन्।
पुमर्थमखिलं देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ १॥

अर्थः—जीवन्मुक्ति के विवेक से हृदय के बन्धनों को नाश करता हुआ ऐसे भारतीतीर्थ गुरु से अभिन्न श्रीमहेश्वर सम्पूर्ण पुरुषार्थ को देवें।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके
विद्वत्संन्यासनिरूपणं नाम पञ्चमं
प्रकरणम्॥ ५॥

भेदाभेदौ सपदिगलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तिः।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां कोविधिः कोनिषेधः॥१॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान्।
योगिनो न प्रपद्यन्ते आत्मज्ञानपरायणाः॥ २॥
अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥३॥
सर्वत्रावस्थितं शान्तं न प्रपद्ये जनार्दनम्।
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्धः सूर्यमिवोदितम्॥ ४॥

सम्पूर्णोऽयं श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतो-
जीवन्मुक्तिविवेकः।

अर्थः—जिसको वाणी नहीं पहुचती और जो तीन गुणों से रहित ऐसे परमात्माका ज्ञान पाके भेद और अभेद उसी

य नष्ट होजाते, पुण्य, पाप क्षीण होजाते, अविद्या और मोह भी क्षय होजाता, और सन्देह रूप वृत्ति भी नष्ट हो जाती। ुणातीत मार्ग पर चलने वाले पुरुष के लिये क्या विधि ? क्या निषेध होता ? अर्थात् ऐसा पुरुष विधि निषेध से रहित ा है। आत्मज्ञान में तत्पर योगी जल से पूर्ण तीर्थ को और ाण और मट्टी के बने देवों की शरण नहीं जाते। द्विजाति- की देव अग्नि, मुनियों का देव हृदय में, स्वल्पबुद्धिवालों देव प्रातिमा में, और आत्मवेत्ताओं का देव सर्वत्र है। जैसे ा पुरुष सूर्य के उदय होने पर भी नहीं देखता, तैसे अज्ञ ज्ञान रूपी नेत्र से हीन होने से सर्वत्र व्यापक एवं शान्त सब लोग जिसकी इच्छा करते ऐसे परमात्मा को नहीं ते हैं।

इस भांति विद्यारण्य विरचित जीवन्मुक्तिविवेक
का श्रीउदयनारायणसिंह कृत
भाषानुवाद पूरा हुआ।